पूर्व-मध्यकालीन भारत

अर्थात्

७वीं सदी से १२वीं सदी तक

उत्तर भारत

का

सांस्कृतिक इतिहास

लेखक

वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०

(मंगलाप्रसाद पारितोषिक-विजेता)

प्रोफेसर

प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, पटना विश्वविद्यालय

भारत-दर्पण-ग्रंथमाला
ग्रन्थ-संख्या—७
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रथम संस्करण
सं० २००९ वि०
मूल्य ६)

मुद्रक—
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, प्रयाग

लेखक के अन्य ग्रंथ

१–गुप्तसाम्राज्य का इतिहास २ भाग

२–विजयनगर साम्राज्य का इतिहास

३–भारतीय सिक्के

४–भारतीय गौरव

५–प्राचीन ग्राम व्यवस्था

६–उपरला हिन्द (अप्रकाशित)

७–भारतीय स्मृतियाँ ,,

८–भारत की ऐतिहासिक प्रशस्तियाँ ,,

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में पूर्व-मध्यकाल से उस युग का बोध होता है जो ७वीं सदी से १२वीं सदी तक विस्तृत था। कुछ विद्वान इसे प्राचीन भारत में सम्मिलित करते हैं। वास्तव में इस काल में हिन्दू संस्कृति का ही विस्तार रहा किन्तु उसी समय से इस्लाम संस्कृति भारत में प्रवेश कर गई और फैलने लगी। उसका बोलबाला १८वीं शताब्दी तक था। अतएव इस काल के पूर्वार्द्ध भाग को पूर्वमध्यकाल कहा गया है। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने प्रयाग के हिन्दुस्तानी एकेडमी के समक्ष भाषण देते समय इस युग से सम्बन्धित कतिपय बातों का उल्लेख किया था। वे भाषण 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' के नाम से छप चुके हैं। संक्षिप्त होने के कारण वह निर्देश मात्र हैं। डा० ओझा ने विद्वानों का ध्यान इस युग के सांस्कृतिक इतिहास की ओर आकर्षित किया था। दूसरे विद्वान श्री सी० वी० वैद्य ने इस काल के इतिहास को अंग्रेजी में लिख कर ज्ञान की अभिवृद्धि की थी, किन्तु अनुसंधान के आगे बढ़ जाने से उसके नवीन संस्करण की आवश्यकता है। इतना ही नहीं डा० एच० सी० राय ने दो भागों में (Dynastic History of Northern India, 2 Vols., Calcutta University) इस काल का विस्तृत राजनीतिक इतिहास लिख कर विषय की गम्भीरता को दर्शाया था। उनका विचार था कि तीसरे भाग में सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करें, किन्तु अज्ञात कारणों से उनके विचार कार्य रूप में परिणत न हो पाए। डा० आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित "बंगाल का इतिहास, भाग १" नामक ग्रंथ में तत्कालीन बंगाल की चर्चा की गई है। परन्तु इन विद्वानों के अतिरिक्त किसी ने पूर्व-मध्यकालीन इतिहास की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया। डा० राय के ग्रंथ में राजनैतिक इतिहास का विस्तृत विवेचन किया गया है किन्तु जहाँ तक मालूम है इस युग का सांस्कृतिक इतिहास वास्तविक रूप से अभी तक लिखा ही नहीं गया। इस मार्ग में मेरा प्रथम प्रयास है।

इस इतिहास के लिखने में पुरातत्व सामग्रियों का यथासाध्य उपयोग

किया गया है। विशेषकर उत्कीर्ण लेख अधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। तत्कालीन ताम्रपत्रों के अध्ययन से सांस्कृतिक इतिहास की विशेष जानकारी हुई है। साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन की ओर कुछ कार्य हो रहे हैं लेकिन लेखक ने उनका उपयोग यत्र-तत्र किया है; वह सिद्धान्त के पृष्ठ पोषण के लिए। अभी पिछले वर्ष डा० हेमचन्द्रराय चौधरी ने इतिहास परिषद के सभापति पद से यह कहा था कि विद्वानों को पुरातत्व सामग्रियों का विश्लेषण कर इतिहास निर्माण का कार्य करना चाहिए। उनमें वास्तविक इतिहास का भण्डार भरा पड़ा है। इसी कथन से प्रभावित होकर लेखक ने इस युग के पुरातत्व सामग्रियों का सामूहिक रूप से अध्ययन कर पूर्व-मध्यकाल का सांस्कृतिक इतिहास उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। इस मार्ग में अरब लेखकों के विवरणों से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। उनसे ऐतिहासिक बातों के जानने से सरलता हो जाती है। बहुतों ने तो आँखों देखा वर्णन दिया है।

भारतीय इतिहास में पूर्व-मध्यकाल के इतिहास को विशेष महत्त्व दिया जाता है। उस काल की जो कुछ सामाजिक अथवा धार्मिक विचार-धाराएँ थीं वही आज भारत में दिखलाई पड़ती हैं। जातियों का जिस तरह बँटवारा उपजातियों में हुआ, वही रूप वर्तमान है। कान्यकुब्ज के निवासी ब्राह्मण जिस नाम से पुकारे जाते थे वही नाम आज भी है। कार्यानुसार जो उपजातियाँ (चर्मकार, लोहकार, मृतकार, पटकार आदि) बनीं, वे आज भी समाज में ज्यों-की-त्यों हैं। स्मृतियों की टीकाएँ—दायभाग तथा मिताक्षरा जिसे जीमूतवाहन तथा विज्ञानेश्वर ने तैयार किया था, आज भी कानून के ग्रंथ माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान हिन्दू समाज उस पूर्व-मध्यकालीन समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में दोनों में समानता अधिक है।

"पूर्व-मध्यकालीन भारत" में केवल उत्तरी भारत का इतिहास ही दिया गया है। दक्षिण भारत के इतिहास को पुस्तकाकार उपस्थित करने के विचार से इस विषय को भौगोलिक सीमा में सीमित किया गया है। स्थान स्थान पर स्पष्टीकरण के लिए दक्षिण तथा उत्तर की तुलना करते समय उस सीमा को तोड़ देना पड़ा है। जहाँ वास्तु शैलियों का वर्णन है, वहाँ आर्य शैली के साथ द्राविड़ शैली का वर्णन विषय के समझने के लिए नितांत आवश्यक है। साहित्यिक इतिहास में विषय की पूर्णता के निमित्त अमुक शास्त्र से सम्बन्धित

सभी विद्वानों का विवरण एक साथ उपस्थित किया गया है। स्मृतियों के व्याख्याकारों का वर्णन इस ग्रंथ में मिलेगा, जो पूर्वमध्यकाल में पैदा हुए थे। यहाँ इसका ध्यान नहीं रक्खा गया है कि अमुक टीकाकार दक्षिण का निवासी था अथवा उत्तर भारत में पैदा हुआ था। साहित्यिक क्षेत्र में उत्तर दक्षिण का पृथक्करण युक्तिसंगत नहीं है अतएव पाठकों के सम्मुख तत्कालीन सम्पूर्ण इतिहास रखने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिए चौथे अध्याय का कलेवर अनुपात से अधिक बढ़ गया है।

यह ग्रंथ दो भागों में बँटा है। पहले खण्ड में नव अध्याय हैं जिनमें तत्कालीन भारत का इतिहास संक्षेप रूप में उपस्थित किया है ताकि अन्य विषयों के समझने में सहायता मिले। पूरे चित्र का यह खाका मात्र है। पहले अध्याय में इस बात की चर्चा है कि इतिहास के समझने में भूगोल से कितनी सहायता मिलती है। नवीन परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति बाहरी देशों में फैली। कन्नौज ने पाटलिपुत्र का स्थान ले लिया और छः सौ वर्षों तक उत्तरी भारत का प्रधान नगर बना रहा। इसे जीतने के लिए शासक लालायित रहते थे। अन्त में पूर्वमध्यकाल से पहले का इतिहास दिया गया है। दूसरे में हर्षवर्धन को प्राचीन भारत का अन्तिम सम्राट् मान कर उसके गौरव तथा विजय का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् अगले अध्यायों में उत्तर भारत में शासन करनेवाले विभिन्न राजवंशों का विवरण है। अन्तिम नवें अध्याय में भारत में मुसलमानों के पैर जमने और हिन्दू शासन के अन्त होने का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। दूसरे भाग में ७ अध्याय हैं जिनमें सांस्कृतिक विषयों का विवेचन है। तुलना में साहित्यिक इतिहास का कलेवर बढ़ गया है क्योंकि इसी काल में दर्शन, विज्ञान, धर्म तथा तंत्र सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ और टीकाएँ लिखी गई थीं। साहित्य सृजन का यह स्वर्णयुग था। शासन, धर्म, कला तथा समाज का वर्णन पृथक्-पृथक् अध्याय में दिया गया है। अन्तिम अध्याय में वृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के विस्तार का दिग्दर्शन है। पूर्वमध्यकाल में मध्य एशिया, अरब तथा पूर्वी द्वीप समूह में भारतीय उपनिवेश बढ़ते ही गए थे। इस तरह उत्तरी भारत का सांगोपांग इतिहास संक्षिप्त रूप से इन पृष्ठों में रखने का प्रयत्न किया गया है।

मैं उन लेखकों तथा सम्पादकों का ऋणी हूँ जिनकी कृतियों और निबन्धों

से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है। श्री डा० रामप्रसाद त्रिपाठी (वाइस-चांसलर सागर विश्वविद्यालय) तथा श्री डा० ए० एस० अल्तेकर (प्रोफेसर, पटना विश्वविद्यालय) का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय समय पर अपना सुझाव देकर मेरे कार्य को आगे बढ़ाया है। उनका मैं आजीवन ऋणी रहूँगा। मैं अपने प्रिय अनुज डा० कृष्णदेव जी उपाध्याय को भी भूल नहीं सकता जिन्होंने ग्रंथ के छपते समय पर्याप्त सहायता की है। अन्त में अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय (काशी विश्वविद्यालय) का आभार मानता हूँ जिनके शुभ कामना से ही मैं यह ग्रंथ समाप्त कर सका हूँ।

पटना विश्वविद्यालय
जून १५, १९५२

—वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

चित्र-सूची

पूर्व-मध्यकालीन भारत

प्रथम भाग

पहला अध्याय

मध्ययुग से पूर्व भारत की राजनैतिक अवस्था

भौगोलिक परिस्थितियों का जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से इतिहास में भी परिवर्तन होते रहते हैं। मनुष्य का कार्य तथा भविष्य उसके भौगोलिक जीवन से आँका जा सकता है। इस कारण इतिहास तथा भूगोल के पारस्परिक सम्बन्ध में अत्यधिक घनिष्ठता है। किसी समय के ऐतिहासिक जीवन का अध्ययन करने के लिए स्थानीय मानवीय भूगोल पर ध्यान देना नितांत आवश्यक है। पृथ्वी की बनावट से राज्य की सीमाएँ परिवर्तित होती रहती हैं; प्रकृति की सहायता से उपजाऊ तथा आबाद भूमि पर विजेताओं का ध्यान लगा रहता है। इसके साथ ही जिस स्थान की प्रधानता बढ़ जाती है उस पर अधिकार करने के लिए विजेता प्रयत्न करता है। प्रकृति तथा जीव के सम्बन्ध जान लेने पर मनुष्य के आवागमन तथा बढ़ाव की दिशा का परिज्ञान सरलता से हो जाता है। भूमि और जलवायु के प्रभाव से आर्थिक जीवन तथा मानसिक विचार सहज में जाने जा सकते हैं। नयी भौगोलिक परिस्थिति के कारण राज्य के आचार तथा कार्य-शैली में भेद हो जाता है। भूमि की सहायता से ही विजेता सेवा तथा व्यापार के लिए सुगम मार्ग तैयार कर लेता है जो सुचारु रूप से चालू होने पर देशोन्नति में बल देते हैं। उर्वरा भूमि में उत्पन्न अन्न से देशवासियों का पालन-पोषण किया जाता है और जनता में शक्ति संचरित होती है। इस प्रकार देशोन्नति के प्रयत्न में मनुष्य के उद्योग तथा प्रयोग की जानकारी का आधार भूगोल भी माना गया है। संसार में भारतवर्ष के सदृश कोई भी देश भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं हुआ।

इतिहास का भौगोलिक आधार

केंडाल का कथन है कि भारत में प्रकृति का साम्राज्य है। प्राकृतिक परिस्थिति ही राजनैतिक सीमा पर पूर्ण अधिकार रखती है; जातियों के विस्तार तथा सामाजिक आवागमन को निश्चित करती है (इण्डिया तथा

ब्रिटिश पृ० १८) अतएव यह ध्रुव सत्य है कि देश की प्राकृतिक अवस्था का प्रभाव वहाँ के इतिहास पर सदा पड़ता है। भारतवर्ष एक विशाल महाद्वीप के समान है जिसके उत्तर में हिमालय की शृंखला एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई है और शेष दिशाओं में कुछ स्थल तथा अधिक समुद्र से घिरा है। इस कारण भारत देश एशिया के अन्य देशों से पृथक् हो जाता है। परन्तु उन देशों से पर्वतीय मार्ग (दर्रा) तथा सामुद्रिक जलयान के द्वारा आना-जाना होता रहा। खैबर का मार्ग तो फाटक का काम करता है। ईसा पूर्व सदियों में विदेशी आक्रमण का आरम्भ इसी दर्रे से हुआ था जिसकी प्रधानता सत्रहवीं सदी तक रही। खैबर के अतिरिक्त बोलन का मार्ग भी विदेशियों के आक्रमण में सहायक सिद्ध हुआ। सिकन्दर के बाद कुषाण तथा हूण अपनी सेना लेकर खैबर से आये। शक और अरबवालों के लिए भारत में आने का सरल मार्ग बोलन का दर्रा था। प्राचीन समय में सीमा-नीति पर भारतीय शासकों का पूरा ध्यान न था। मौर्य लोगों ने तो इसके महत्त्व को समझ लिया था परन्तु बाद में सीमा-नीति से भारतीय सम्राट उदासीन थे। इसके विपरीत सामुद्रिक मार्गों से आफ्रिका तथा चीन तक भारतवासियों का आना-जाना लगातार जारी रहा। सम्भवतः उन दिनों व्यापार के निमित्त भारतवासी विदेशों में आया-जाया करते थे। अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखने के कारण सीमा पर स्थित पर्वतीय मार्गों पर उन्होंने कोई रुकावट पैदा करने का प्रयत्न तक नहीं किया। जो छोटे-छोटे राज्य स्थित थे उन्हें शासन करने दिया, अन्यथा सैन्यबल से उन सीमाओं पर सरलता से अधिकार कर सकते थे। प्राचीन भारत में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ शासक ने दया भाव से छोटे राज्यों को नष्ट नहीं किया। प्रयाग के स्तम्भ लेख में समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन मिलता है। वहीं पर "राज-ग्रहण-मोक्षानुग्रह-जनित प्रताप" का उल्लेख मिलता है। पूर्वमध्यकाल में गुर्जर प्रतिहार शासक सिन्ध की सीमाओं पर अधिकार करना चाहते थे। उनके ध्यान में उन स्थानों का राजनैतिक महत्त्व था परन्तु धार्मिक भावना के कारण तथा मुल्तान के सूर्यमन्दिर के नष्ट हो जाने के भय से वे अरबवालों पर विजय न प्राप्त कर सके। प्रतिहारों के सामने सिन्ध से अरबवालों की गति रोकने को कोई योजना तक न थी। राजपूत-काल में भी इसी सीमा-नीति से उदासीनता दिखलायी पड़ती है। उनके राजनैतिक विचार इतने संकुचित थे कि उनमें सीमा-नीति का अभाव स्वभावतः पैदा हो गया। यह अदूरदर्शिता

का एक ऐसा अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसका नमूना इतिहास में ढूंढ़ने पर नहीं मिलता। इस कथा का अर्थ यह है कि राजपूत शासक सीमा में शत्रुओं का प्रवेश होने देना चाहते थे ; परन्तु उनके बचाव के लिये भी सीमा-नीति का प्रश्न गूढ़ विषय न था। यही कारण है कि खैबर के दर्रे से मुसलमान आक्रमणकारियों का आना सुगम हो गया। भारत में प्रवेश करने का हौसला बढ़ता ही गया। महमूद तथा बखतियार की सेना ने उत्तरी भारत को रौंद डाला. जैसा कहा गया है, स्थल की अपेक्षा जल-मार्गों से अधिक आना-जाना था। व्यापारियों ने पूर्वी द्वीपसमूह तथा धर्म-प्रचारकों ने चीन तक भारतीय संस्कृति का विस्तार किया जिसका स्वर्णयुग पूर्वमध्यकाल माना जाता है।

भारत का दूसरा भाग उत्तरी मैदान या सिन्ध-गंगा और ब्रह्मपुत्र की घाटी के नाम से प्रसिद्ध है। यह हिमालय की तराई से लेकर विन्ध्याचल तक विस्तृत है तथा पश्चिम और पूर्व में भी पर्वतमालाओं से घिरा हुआ है। चारों तरफ पहाड़ों से घिरे रहने के कारण नदियां इसी मैदान को सींचती हैं। नदियों की बहुलता के कारण लोगों का आना-जाना इन्हीं नदियों से होता रहा। प्राचीन समय में बंगाल से सेना उत्तर-पश्चिम की ओर आया करती थी। जो मार्ग उत्तरी भारत से दक्षिण को जाते हैं वहाँ पर किसी प्रकार से दुर्ग बनाये गये थे जिससे उन मार्गों पर शत्रुओं की बाढ़ को रोका जा सके। पूर्व मध्यकालीन भारतीय कला में दुर्ग निर्माण का विशेष महत्त्व था। शासकों ने इसकी विशेषता समझ कर अधिक संख्या में दुर्ग बनवाये थे। फिर गंगा की घाटी स्वयं एक प्रकार से प्राकृतिक दुर्ग के रूप में थी। उत्तरी मैदान का दक्षिण-पश्चिमी भाग राजपूताना कहलाता था। उसके दो स्वाभाविक विभाग किये जाते हैं। अरवली इन भागों के विभाजक का काम करता है और कर्ण की तरह पृथक् करता है। पश्चिम का भाग अधिक उपजाऊ है और आबादी की तुलना में गंगा की घाटी के समान है। इस भूभाग की प्राकृतिक सुन्दरता दर्शनीय है। प्राचीन समय में यहाँ राजपूतों के प्रसिद्ध घराने तथा शक्तिशाली राजा शासन करते थे। अरवली पर्वत राजपूताने में इस ढंग से विस्तृत है कि इसमें कई प्राकृतिक दुर्ग बन गये हैं, जहाँ पहुँचने के लिये या तो तंग दर्रा वर्तमान है या सुरंगें बनायी गयी हैं। उदयपुर जाने के लिये वही सुरंग काम देती है। पर्वत की चट्टानें तथा राजपूताने के जंगल राजपूतों की स्वतंत्रता के उपयोग में सहायक हुए हैं। प्राकृतिक स्थिति ने

राजपूतों को शत्रु के विरोध में पर्याप्त सहायता दी। इससे अरबवाले अधिक समय तक सिन्ध में ही घिरे रहे।

तीसरा भाग दक्षिण का पठार कहलाता है। यहाँ पुराने समय से ही विभिन्न शासक राज्य करते थे। ईसवी पूर्व सदियों में सातवाहन लोगों ने राज्य किया। वे दक्षिण पठार से उत्तरी मैदान में ससैन्य चढ़ भी आये थे परन्तु वह विजय चिरस्थायी न रह सकी। शक लोगों के बाद बाकाटक लोगों का प्रभाव इस भूभाग में रहा। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने सब छोटी रियासतों को अपनी छत्रछाया में कर लिया। उन्हें नष्ट करने की भावना राजा के हृदय में न थी। कई शताब्दियों तक यह पठारी भाग गुप्त-शासन में रहा। सम्भवतः दक्षिण पर सुचारु रूप से शासन करने के लिये चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जैन को राजधानी बनाया। हर्षवर्धन ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये पुलकेशी द्वितीय से युद्ध किया था। उत्तरी मैदान में रहने के कारण सेना में वह शक्ति नहीं थी जो पठार के सिपाहियों में थी। इससे पुलकेशी जीत गया। इस उदाहरण से राष्ट्रकूटों ने भी लाभ उठाना चाहा और स्वयं कान्यकुब्ज को जीतने का प्रयास किया। गुर्जर प्रतिहारों ने भी उसी भूभाग से आकर अपनी शक्ति का परिचय दिया था और कान्यकुब्ज पर शासन किया था। इन बातों के कहने का तात्पर्य यह है कि पठारी भाग के लोग प्राकृतिक कारणों से बलवान् थे जिससे उन्हें उत्तरी भारत पर चढ़ाई करने में सफलता मिली। इस भाग के सुदूर दक्षिण में चोल, पांड्य, केरल आदि रियासतें थीं जिनकी प्रधानता पूर्व मध्यकाल में ही हुई। वे आदर्श रूप से शासन करती रहीं। यद्यपि उनका राज्य उत्तर की ओर न बढ़ सका परन्तु भारत के बाहर सांस्कृतिक विकास और उपनिवेश बनाने में इनका मुख्य हाथ था। इनका कार्य समुद्र-मार्ग से सम्पन्न होता रहा और किनारे के मैदान में जहाजी बेड़े रहा करते थे। पश्चिमी तथा पूर्वी किनारे की भूमि में अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह नहीं थे तो भी आफ्रिका तथा पूर्वी द्वीपसमूह में अच्छा व्यापार होता रहा। भौगोलिक अवस्था के कारण ही उत्तरापथ से दक्षिणापथ में शीघ्र आवागमन न हो सका। यही कारण है कि उत्तर भारत की विचार-धारा को दक्षिण तक पहुँचने में पर्याप्त समय लग गया।

पूर्व मध्यकाल से पहले इस देश के विभिन्न प्रान्त पृथक् पृथक् नाम से प्रसिद्ध थे। कुछ राज्यों का नाम राजधानी के नाम पर ही रक्खा गया था। इसका राजनैतिक कारण था और एकछत्र साम्राज्य न होने से यह

परिस्थिति पैदा हो गयी थी। मध्यकाल के आरम्भ में मुसलमानों ने भौगोलिक कारण से ही प्राचीन भारत का नया नाम रक्खा। फारसवाले सर्वप्रथम सिन्ध नदी की घाटी में आये। उन्होंने अपनी भाषा के अनुसार इसका नाम 'हिन्द हो' रक्खा। पुरानी ईरानी भाषा में संस्कृत 'स' 'ह' बन जाता है, इस कारण सिन्ध नदी को 'हिन्द हो' कहा और इस देश का नाम हिन्द रक्खा। यही रूप सारे संसार में फैला जिससे इण्डिया शब्द बन गया। हिन्द का नाम सभी को प्रिय मालूम पड़ा और उत्तर पश्चिम की ओर (खैबर दर्रा) से आनेवाली जातियों ने भी इस देश का नाम हिन्दुस्थान रक्खा। फारसी में हिन्दुस्थान का उच्चारण हिन्दुस्तान किया जाता है। सम्भवतः पूर्व मध्यकाल में अरबों तथा ईरानियों की प्रधानता के कारण उस शब्द का प्रयोग स्थायी रूप से होने लगा। वही रूप आज-कल प्रयुक्त होता आ रहा है।

हिन्दुस्तान नामकरण

प्राचीन काल से मध्ययुग में कई बातों की विशेषता है। ऐतिहासिक विचार-धारा को छोड़कर भौगोलिक दृष्टि से यह काल महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इससे पूर्व साम्राज्य-स्थापना के कारण विभिन्न नगरों के निर्माण की ओर शासक ध्यान तक न देते थे परन्तु मध्ययुग के आरम्भ में भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया इसलिये सब ने अपनी राजधानी स्थापित की। उन सब में कान्यकुब्ज का स्थान सर्वप्रथम माना जाता है। पुराने समय (ईसा पूर्व ३०० ई० स० ५००) में पाटलिपुत्र को जो ख्याति मिल चुकी थी वही मध्ययुग के आरम्भ में कान्यकुब्ज को मिली। ६०० से १२०० ई० तक कन्नौज ने पाटलिपुत्र का स्थान ग्रहण किया। इस युग में अशोक तथा गुप्त सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र नगण्य हो गया। इन छः सौ वर्षों में कान्यकुब्ज का शासक ही प्रधान समझा जाता था। हर्ष तथा गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी होने का गर्व इसी कन्नौज को है। उत्तर भारत का प्रधान केन्द्र होने के कारण अन्य शासकों का ध्यान इसे जीतने का रहता था। पश्चिम से गुर्जरों ने इसे जीतकर ही हर्ष के बाद समस्त उत्तरी भारत में एक प्रकार का साम्राज्य स्थापित किया था। यही कारण है कि कन्नौज के जीतने के लिये पूर्व मध्यकाल में होड़ लगी थी। अरब लेखकों ने भी इस नगर का नामोल्लेख किया है कि भारत का यह सब से

नये नगरों का निर्माण

बड़ा नगर था। इससे पश्चिम भाग में अरब लेखकों ने मुलतान की स्थिति बतलायी है जो हिन्दू तथा मुसलमान दोनों का सांस्कृतिक केन्द्र हो गया था। मुलतान के सूर्यमन्दिर में लाखों यात्री भारत से दर्शन करने जाया करते थे परन्तु विधर्मी मुसलमान इसे नष्ट करने में असमर्थ रहे। हिन्दू शासक सूर्यमन्दिर के नष्ट किये जाने के डर से मुसलमानों पर आक्रमण न करते थे और इस्लाम मतानुयायी भी भारतीय शासकों की शक्ति को जानकर आगे बढ़ने का साहस न करते थे। इस कारण दसवीं सदी तक मुसलमान मुलतान तक सीमित रहे। तत्पश्चात् उत्तर-पश्चिम के आक्रमण से बल पाकर मुसलमानों ने कदम आगे बढ़ाया।

मालवा की धारा नगरी भी मध्ययुग के उत्तरकाल में विद्या का केन्द्र हो गयी थी। परमार लोगों की राजधानी धारा नगरी एक प्रसिद्ध नगर हो गया था जहाँ राजा भोज की विद्वन्मण्डली एकत्र हुआ करती थी।

इसी श्रेणी में पृथ्वीराज चौहान की राजधानी दिल्ली भी रक्खी जा सकती है। बारहवीं सदी में उस प्रतापी राजा को जीतने के पश्चात् मुसलमान विजेता को वही नगर उपयुक्त मालूम पड़ा जिसको उसने शासन केन्द्र (राजधानी) घोषित किया। उसके भौगोलिक तथा राजनैतिक कारण थे। उत्तर-पश्चिम से शत्रुओं के प्रवाह को रोकने का यही एक क्षेत्र था। एक के बाद दूसरे तथा तीसरे राजवंशों ने वहीं शासन किया।

मध्ययुग के आरम्भ में दूसरे कारणों से भी नगर बसाये गये। इस काल में धार्मिक भावना के कारण तीर्थयात्रा को महत्त्व दिया गया। तीर्थों में मन्दिर-निर्माण तथा मूर्ति-स्थापना की बातें अत्यधिक प्रचलित हो गयी थीं। शासक तीर्थयात्रा अथवा किसी विजय के उपलक्ष में धन दान में दिया करते थे, जिनका वर्णन ताम्रपत्रों में मिलता है। गहड़वाल वंश के शासनकाल में काशी की प्रधानता थी। इस स्थान पर आकर गोविन्दचन्द्र दान दिया करता था। इसके अनेकों ताम्रपत्र काशी के समीप मिले हैं। इस पवित्र नगरी में जयचन्द के निवास करने के कारण मुसलमान विजेताओं का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसी श्रेणी में प्रयाग की भी गणना की जाती है। कलचुरी लेखों में इस स्थान का नाम बार-बार आता है।

तीसरी श्रेणी के स्थापित नगरों में तत्कालीन शिक्षा-केन्द्रों का नाम लिया जाता है। इस युग में नालन्दा, विक्रमशिला तथा बलभी के महाविहार देश में शिक्षाप्रचार के साथ भारत से बाहर भी भिक्षुओं द्वारा धर्म का

प्रसार करते रहे। नालन्दा तथा विक्रमशिला के भिक्षु विद्वानों ने तिब्बत और चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया तथा भारतीय संस्कृति का सन्देश सुनाया। इस कारण पूर्व मध्ययुग में ये स्थान अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

नये व्यापारिक मार्ग

पर्व मध्ययुग से पहले की राजनैतिक अवस्था पर विचार करने से पहले इस युग की ऐतिहासिक सामग्री पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

मध्ययुग की ऐतिहासिक सामग्री

प्राचीनतम इतिहास पर विचार करने से साधारणतया लोगों की यह धारणा बन जाती है कि भारतवर्ष में वास्तविक ऐतिहासिक साहित्य का अभाव था। इस धारणा का कारण यह है कि भारतीय इतिहास की कल्पना पाश्चात्य शैली से भिन्न है। यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में इतिहास का नाम आता है। उपनिषद् में भी इसे स्थान मिला है—परन्तु घटना-वैशिष्टय को विशेष महत्त्व न दिया जाता था। उस समय जीवन-सुधार से सम्बन्धित बातों का समावेश भारतीय इतिहास में किया गया है। मध्ययुगीन ऐतिहासिक काव्यों में प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। ऐसे काव्यों में घटना-चक्र पर विशेष ज़ोर दिया गया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित लिखकर ऐतिहासिक काव्य लिखने की परिपाटी आरम्भ की। पद्मगुप्त ने धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज के कतिपय कार्यों का वर्णन 'नवसाहसांकचरित' में किया। कल्हण की 'राजतरंगिणी' विशुद्ध इतिहास है जिसमें काश्मीर का १२वीं सदी तक का इतिहास सांगोपांग रूप से दिया गया है। 'पृथ्वीराजविजय' तथा 'रामपालचरित' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। पहले में पृथ्वीराज चौहान का तथा दूसरे में पालवंशी नरेश रामपाल का जीवनचरित वर्णित है। इसके अतिरिक्त कई चारण ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं जिनमें राजभाटों ने राजसभा आदि का वर्णन किया है। इस प्रकार के ऐतिहासिक महाकाव्य के अतिरिक्त मुसलमान लेखकों के यात्रा-विवरणों से मध्ययुग के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पूर्व मध्यकालीन समाज का वर्णन स्मृतिग्रंथों में विस्तार के साथ मिलता है। जिन ग्रंथों की रचना उस समय हुई उनमें कुछ प्रधान स्मृतिग्रंथों—मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद आदि—को छोड़ कर प्रायः सभी स्मृतियाँ पूर्वमध्य-युग में ही लिखी गयीं। उनके प्रधान

टीकाकार मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क तथा जीमूतवाहन इसी युग में पैदा हुए थे। उन्हीं के लिखे संकेत पर हिन्दू समाज आज भी चल रहा है। वर्तमान सामाजिक कार्यों के आधार टीकाग्रंथ ही माने जाते हैं। मिताक्षरा तथा दायभाग को आज भी भारतीय कानून का आधार मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि पिछली स्मृतियों तथा टीकाकारों ने जिस रूप में समाज की रूप-रेखा तैयार कर दी थी, बहुत कुछ वही रूप आज भी वर्तमान है। प्राचीनतम ऐतिहासिक सामग्रियों की तरह लेख तथा कलात्मक कृतियाँ भी मध्ययुग के इतिहास के जानने में सहायता करती हैं। पुराने समय में अधिकतर लेख शिलाखण्ड या स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराये जाते थे परन्तु इस युग में ताम्रपत्रों की विशेषता प्रकट होती है। सार्वभौम राज्य न होने से छोटे-छोटे राजाओं ने शिलाखण्ड के स्थान पर ताम्रपत्रों का उपयोग किया। शिलालेख की प्रथा शिथिल पड़ गयी। ताम्रपत्र के अधिक उपयोग के दो कारण थे—एक तो धातु का आसानी से मिलना तथा दूसरा पत्रों का दीर्घ जीवन। प्रस्तरों से भी ताम्रपत्र टिकाऊ होते हैं, इसलिये इनका उपयोग अधिक से अधिक संख्या में होने लगा। ताँबे तथा काँसे की मूर्तियाँ बनने का भी वही कारण था। ताम्रपत्रों में दान का तथा विजय का वर्णन मिलता है। बनारस के समीप, वरुणा के किनारे, गहड़वालवंशी ताम्रपत्रों के ढेर मिले हैं जिनमें दान का वर्णन है। उन दानपत्रों से अन्य ऐतिहासिक बातों का भी पता लगता है। तत्कालीन राजाओं के सिक्के भी आर्थिक तथा धार्मिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। कला के उदाहरणों में मूर्ति, दुर्ग तथा मन्दिरों की गणना की जा सकती है। मध्ययुग की कला में यह एक विशेषता है कि स्थान स्थान पर दुर्ग बनाये गये। मन्दिरों का तो कुछ पूछना ही नहीं। खजुराहो, भुवनेश्वर तथा मदुरा के मन्दिर अद्वितीय हैं। इनकी सहायता से धार्मिक जीवन की सब बातें ज्ञात की जाती हैं।

इस युग की एक विशेषता यह है कि एशिया के अन्य देशों के साहित्य में तत्कालीन भारत-सम्बन्धी ऐतिहासिक चर्चा मिलती है। इस युग में ईरान, अरब, मध्य एशिया तथा चीन आदि देशों से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। भारत के सम्बन्ध में अरब लेखकों—इब्ने खुर्दाजवा, सुलेमान सौदागर, मसऊदी तथा अलबेरूनी आदि सभी ने अरबी में लिखा है। भारतीय विज्ञान, गणित, चिकित्सा तथा संगीत आदि का प्रचार अरब में हुआ। वहाँ से योरप-वालों ने उसे सीखा। मध्य एशिया तथा चीन, तिब्बत में धर्मप्रचारक गये

जो यहाँ के दार्शनिक ग्रंथ साथ लेते गये। वहाँ की भाषा में उनका अनवाद किया गया। भारत में आज अनेक मूल ग्रंथ नहीं मिलते परन्तु फारसी तथा चीनी अनुवादों से भारतीय इतिहास की अनेक बातें जानी जाती हैं। इस प्रकार विदेशों में अनुवादित ग्रंथ वास्तविक बातों की जानकारी कराते हैं। इसी कारण मध्यकालीन सामग्री शुद्ध ऐतिहासिक कही जाती है।

भारत के इतिहास में पूर्व मध्ययुग का आरम्भ हर्ष के शासन के पश्चात् माना जाता है जो प्रथम मुसलमानी राज्य स्थापित होने तक विस्तृत (गुलाम वंश से पूर्व) समझा गया है। प्राचीन काल के साम्राज्य शासन का अन्त हो रहा था जब हर्ष (६०६ ई०) सिंहासन पर बैठा। उसकी इच्छा थी कि भारत पुन: एक सूत्र में बँध जाय परन्तु वह पर्ण रूप से सफल न हो पाया। उसके सामने साम्राज्य की भावना काम कर रही थी। फिर भी उसने संगठित होकर देश को दृढ़ बनाये रखने का प्रयत्न किया। हर्ष के बाद गुर्जर प्रतिहारों ने संगठन बनाने की चेष्टा की थी, ताकि दूसरी रियासतें उनका आधिपत्य स्वीकार करें। ऐसा हुआ भी, पर वह ऊपरी दिखावा था। वास्तविकता कुछ और थी जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

प्राचीन भारतवर्ष में छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक साम्राज्य (एकछत्र शासन) स्थापित करने की नीति मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने प्रारम्भ की थी। उसका एक विशेष कारण था। यद्यपि इससे पूर्व साम्राज्य की कल्पना मौजूद थी परन्तु किसी साम्राज्य स्थापना का वर्णन नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य में विजय-यात्रा का वर्णन मिलता है। विजेता राज्य को जीतकर सामंत के रूप में विजित को मुक्त कर देता था पर ई० पू० ६०० से राजनैतिक क्षेत्र में अधिक परिवर्तन होने लगा। यह तो सभी को मालूम है कि ईसा पूर्व ६०० में भारतवर्ष में सोलह राज्य फैले हुए थे जिन्हें 'सोलह महाजनपद' कहा जाता है। ये शासक प्रजातंत्र तथा कुछ राजतंत्र की प्रणाली का अनुसरण करते रहे। बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि ये काबुल नदी की घाटी से गोदावरी तक फैले हुए थे। इनमें आपस में कोई दृढ़ मैत्री न थी। एक दूसरे को हरा कर अपनी राज्य-सीमा बढ़ाना चाहते थे। कोई भी प्रभावशाली शासक न था जिसके प्रभाव या आतंक से सब डरते हों।

उस समय अवन्ति, कौशाम्बि, कोशल तथा मगध (वर्तमान मालवा, प्रयाग के समीप कोसम, अवध तथा बिहार) की चार प्रसिद्ध रियासतें थीं जिनमें झगड़े चल रहे थे। वे एक दूसरे को जीतकर राज्य विस्तार के प्रयत्न

में लगी रहीं। मगध के राजा बिम्बिसार ने अंग को जीतकर पूर्वी बिहार (भागलपुर) तक राज्य फैलाया। उसने काशी तथा वैशाली राज्यों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया जिससे उसका प्रभाव तथा शक्ति बढ़े। उसे काशी का कुछ भाग दहेज में भी मिल गया। इस प्रकार चारों राज्यों में मगध सर्वशक्तिमान हो गया। बिम्बिसार ने पर्वत के किनारे राजगृह को अपनी राजधानी बनाया। इस राजनैतिक परिस्थिति में भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था भी कुछ अच्छी न थी। समाज में वर्णों की विषमता थी। जनसमाज अनेक जातियों में बँटा था। लोग यज्ञ-याग आदि करते तथा सुख में मग्न थे। उसी समय (ई० छठी सदी) बुद्ध तथा महावीर ने क्रमशः बौद्ध तथा जैनमत का प्रचार किया। उस काल में नये-नये विचारों की बाढ़-सी आ गयी थी। बुद्धिवाद के बल पर नवीन व्यवस्था में विद्वान् लगे हुए थे। आध्यात्मिक विषय बड़े संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में जनता की अधिक रुचि थी। पशुहिंसा की बहुलता ने लोगों के हृदय में विरोध की भावना जाग्रत कर दी। उस समय सदाचार का ह्रास हो रहा था, जिससे धार्मिक स्थिति दयनीय हो गयी थी।

ऐसी परिस्थिति में बुद्ध तथा महावीर ने तर्क से काम लिया। मानवता के प्रति आदर पैदा किया। बुद्ध ने यह बतलाया कि संसार का जीवन दुःखमय है। इसके निरोध (नाश) के लिये मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। उन्होंने अपना मार्ग निवृत्ति-प्रधान बतलाया। उनका कथन था कि संसार से पथक् रहकर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार का उपदेश बुद्ध ने बिम्बिसार को राजगृह में दिया। अहिंसा की भावना से प्रेरित होकर बुद्ध ने अजातशत्रु को वृज्जि लोगों पर चढ़ाई करने से रोका था। इसी उपदेश के प्रचारार्थ सब दिशाओं में भिक्षु भेजे गये। इस धार्मिक भ वना से उस समय साम्राज्य की कल्पना भी जाती रही। उसके बाद मगध की गद्दी पर महापद्मनंद आरूढ़ हुआ जो सिकन्दर का समकालीन माना जाता है। अजातशत्रु के बाद तथा महापद्मनंद से पहले मगध में कोई प्रभावशाली राजा नहीं हुआ। इस नंद राजा की विजय का कहीं वर्णन नहीं मिलता। सिकन्दर के साथ आये यूनानी इतिहासकारों के उल्लेख से पता चलता है कि यह राज्य बड़ा शक्तिशाली तथा धन-धान्य से पूर्ण था। पंजाब में सिकन्दर ने उसके वैभव के बारे में सुना था अतः उसने मगध की ओर बढ़ने का साहस नहीं किया। मगध में नंद राजा का जो कुछ भी प्रभाव हो,

परन्तु खैबर से सिकन्दर का आक्रमण यह बतलाता है कि पंजाब में कोई शक्तिशाली राजा न था। छोटे-छोटे प्रजातंत्र थे जो संगठित न थे। उनकी नीति भी अधूरी थी, नहीं तो वे शत्रु को खैबर के बाहरी प्रदेश में (काबुल की ओर) ही रोकते। मगध के अतिरिक्त सभी रियासतें फूट के कारण संगठित न थीं। ई० पू० शताब्दी में गांधार देश (पेशावर तथा रावलपिंडी) के राजा ने बिम्बिसार के पास राजदूत भेजा था। सम्भवतः मगध का राजा किन्हीं कारणों से इस दूत-कर्म का सदुपयोग न कर सका। अंत में ईरान के राजा ने इस भाग पर अधिकार कर लिया और सिन्धु की घाटी तथा राजपूताने तक अपना प्रभाव बढ़ाया। ई० पू० चौथी सदी के मध्य तक उस भाग से ईरानी प्रभाव हट गया और भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्वतंत्र छोटी-छोटी रियासतें स्थापित हो गयीं। उसमें पुष्कलावती, तक्षशिला, अभिसार, पुरु आदि मुख्य थीं। तक्षशिला राज्य व्यापार तथा विद्या का केन्द्र था। इसी की ख्याति सुनकर योरप से सिकन्दर विजय की लालसा से चला था। भारत की सीमा पर संगठित मुकाबिला न होने के कारण वह एक के बाद दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त करता गया। वह ई० पू० ३२६ में पौरव को परास्त कर व्यास नदी के किनारे तक पहुँच गया लेकिन उसके सैनिकों ने गंगा की ओर बढ़ने से इन्कार कर दिया। तब लाचार हो उसे सिन्ध से होकर समुद्र की ओर लौटना पड़ा। इस विजय से सांस्कृतिक आदान प्रदान का अवसर मिल गया पर यह तो ध्रुव सत्य है कि भारतवासियों को उसके आक्रमण से शिक्षा मिल गयी। कुछ विद्वानों का कहना है कि सिकन्दर ने मौर्य साम्राज्य को दृढ़ बनने के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया पर यह विचार किसी तरह प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

इस संक्षिप्त विवरण से पता चल गया कि मगध के राजा ने उत्तरी-पश्चिमी सीमा के आक्रमण तथा युद्ध में किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं ली। वह पुष्कलावती के दूतकर्म का अर्थ नहीं समझ सका। सारी स्वतंत्र रियासतें (प्रजातंत्र) सामूहिक रूप से सिकन्दर का मुकाबिला न कर पायीं जिसका फल उनका नाश था। उन्हीं दिनों मगध के नंदवंश का नाश चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया। भारत की राजनैतिक दशा बुरी हो चली थी। चाणक्य ने इस अवसर से लाभ उठाया और सिकन्दर के आक्रमण से शिक्षा ली। उसने साम्राज्य-स्थापना के विचार को

चन्द्रगुप्त पर प्रकट किया। उस समय की हालत को देखकर चाणक्य समझता था कि भारतीय संस्कृति की रक्षा उसी समय हो सकती है जब एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो जाय। साम्राज्य-नीति को प्रतिष्ठापित करके ही भारत को विदेशी आक्रमण से बचाया जा सकता है। इस विचार से मौर्य राजा चन्द्रगुप्त भी सहमत हो गया। दोनों ने मिलकर मौर्य साम्राज्य की सीमा को सारे उत्तरापथ और दक्षिण में मैसूर तक विस्तृत किया। छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट कर एकछत्र शासन को सुदृढ़ किया। चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य इस बात को समझते थे कि बिना उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर अधिकार किये विदेशियों का आक्रमण रोका नहीं जा सकता। यही कारण है कि भारत के यूनानी शासक सेल्यूकस के युद्ध में पराजित होने पर भारत की सीमा पर स्थित सारे प्रदेश मौर्यों को मिले। सेल्यूकस को काबुल, हिरात, गांधार तथा बिलोचिस्तान का प्रदेश चन्द्रगुप्त को देना पड़ा। यही चाणक्य सोच रहा था और कूटनीति के कारण वह भारत पर सर्व शक्तिमान् मौर्य साम्राज्य की स्थापना में सफल हुआ। उसका विचार सत्य था कि कोई भी भारतीय नरेश खैबर तथा बोलन के दर्रों (मार्गों) पर बिना अधिकार किये पूर्ण रूप से स्वच्छन्द शासन नहीं कर सकता। इन मार्गों पर कब्जा करने से बाहरी आक्रमण का डर सदा के लिये चला जाता है। उस चतुर मंत्री ने राज्य को कई प्रांतों में विभक्त किया और तक्षशिला को (खैबर के समीप का केन्द्र) गवर्नर का प्रधान नगर बनाया। उसका यह भी प्रयत्न रहा कि, जहाँ तक हो सके, राजकुमार ही तक्षशिला प्रांत का गवर्नर बनाया जावे। इस नीति को अशोक ने भी कार्यान्वित किया था। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि चाणक्य की सीमा-नीति पीछे के शासकों के लिये समझ से बाहर की बात थी। उसने तो अर्थशास्त्र में सीमा पार करने के लिये मुद्रा (passport) का विधान किया है और जो व्यक्ति बिना आज्ञा सीमा पार करता वह दण्ड का भागी समझा जाता था। चन्द्रगुप्त ने ऐसे दूतों को नियुक्त किया जो इस बात की सदा निगरानी रखते थे कि सीमा के निवासी विदेशियों के बहकावे में न आ जायँ। इस प्रकार की पूर्ण सीमा-नीति (Frontier Policy) को चाणक्य के बाद अंग्रेजों ने समझा था। यदि प्राचीन इतिहास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाय तो प्रकट होता है कि राज्यों के नष्ट होने का एक विशिष्ट कारण विदेशी आक्रमण था जो अपूर्ण सीमा-नीति तथा असावधानी के कारण घटित

हुआ। गुप्त सम्राटों की सर्वांगीण उन्नति होने पर भी सीमा-नीति में उन्हें सफलता नहीं मिली। वे उत्तर-पश्चिम के दर्रों से हूण आक्रमण को नहीं रोक सके। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि चाणक्य ने अपनी चतुरता से मौर्य साम्राज्य को विस्तृत और आदर्श शासन बनाया था। एकछत्र शासक होने के कारण मौर्यों ने सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली से काम लिया। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने विस्तृत राज्य को शस्त्र से न बढ़ाकर 'धम्म-घोष' से एशिया में विस्तृत किया। उसके प्रचारकों ने दूर देशों तक धर्म का विस्तार कर अशोक को महान् बनाया। उसने राजनीति के साथ समाज तथा धर्म को भी साथ लिया। मनुष्यों की सामाजिक और धार्मिक उन्नति के लिये शिला तथा स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण कराये। कलिंग की विजय के बाद ही उसने युद्ध की पिपासा और साम्राज्य-विस्तार की इच्छा छोड़ दी। सामाजिक तथा धार्मिक अनुशासन (जो शिला तथा स्तम्भों पर खोदे गये थे) के कारण उसका राज्य शांतिमय रहा। उसकी आज्ञा थी कि जो व्यक्ति संघ (बौद्ध धार्मिक मठ) में भेद डालेगा वह निकाल दिया जायगा। इस प्रकार सारे भारत में—उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक तथा अंग से लेकर अफगानिस्तान तक—उसका आतंक छाया रहा। अशोक के मरते ही विशाल मौर्य साम्राज्य अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया।

ई० पू० दसरी सदी में शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र ने पनः ब्राह्मण धर्म की स्थापना का बीड़ा उठाया। अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार कर उसने मगध का शासन अपने अधीन कर लिया। उस समय भारत में राज-नैतिक संगठन की कमी देखकर ही यवन मिलिन्द ने भारत में साकेत तथा मथुरा आदि स्थानों को रौंद डाला था। सीमा के प्रांत हाथ से निकल जाने के कारण उत्तर-पश्चिम भाग में यूनानी राजा शासन करने लगे। मगध में सौ वर्षों तक शुंगों का शासन रहा जिसके बाद बागडोर कण्व वंश के हाथ में चली गयी। भारतीय इतिहास में यह उथल-पुथल का समय था। अश्वमेध यज्ञ कर पुष्यमित्र ने पुनः ब्राह्मण धर्म को स्थापित करने का प्रयत्न किया था। यज्ञ आदि कार्यों का पुनरुज्जीवन बौद्ध धर्म के विरोध में न था वरन् बौद्ध धर्म के साथ भागवत धर्म का भी प्रचार भारत में था। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट होता है कि महाभारत में वर्णित नारायणीय पूजा तथा पाणिनि और पंतजलि द्वारा उल्लिखित वासुदेव की पूजा का अभिन्न रूप है। ई० पू० दूसरी सदी में मगध में जिस समय अश्वमेध यज्ञ हो

रहा था उसी समय उत्तर-पश्चिम तक्षशिला प्रान्त में वासदेव की पूजा हो रही थी। विदेशी दूत हेलियोडोरस ने भी उससे प्रभावित होकर गरुड़ स्तम्भ स्थापित कर भागवत धर्म की प्रधानता घोषित की। धार्मिक जगत् को छोड़ कर राजनैतिक क्षेत्र में भारत में मतभेद तथा छोटे राज्य उत्पन्न हो गये। मगध की प्रधानता जाती रही। पाटलिपुत्र साधारण नगर बन गया। ई० पू० पहली सदी से उत्तर-पश्चिम भारत में विदेशी घुसने लगे। मगध के जितने प्रांत थे वे स्वतंत्र हो गये। लेखों तथा पुराणों के आधार पर पता लगता है कि चार सौ वर्ष तक शक, यवन, आभीर, गर्धभिल्ल, मुरुण्ड और हूण आदि ने उत्तरी भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट कर शासन किया। शक राजा मथुरा, तक्षशिला, सिन्ध तथा मालवा में शासन करते रहे। यवन लोगों का अधिकार काबुल के आसपास के भागों में रहा। आभीर का राज्य-विस्तार बरार, कोकण तथा काठियावाड़ में सीमित रहा। गर्धभिल्ल राजपूताने में अरवली के समीप राज्य करते रहे। कुषाण वंश का राज्य पेशावर से आरम्भ हुआ। उस वंश के सबसे प्रतापी राजा कनिष्क ने अपना राज काशी तक फैलाया था। उत्तर-पश्चिम भाग में एक बार फिर कनिष्क ने बौद्ध धर्म को जाग्रत किया। पेशावर (पुरुषपुर) में इसने बौद्धों की चौथी संगीति (धार्मिक-सम्मेलन) बुलायी। इस धर्म ने यवन मिलिन्द को भी प्रभावित कर बौद्ध मतानुयायी बनाया। कहने का तात्पर्य यह कि यद्यपि मौर्यों के बाद पुष्यमित्र ने विदेशी आक्रमण रोकने का प्रयत्न किया था पर वह सफल न हो सका। विदेशी लोग आने लगे। इनका राज्य उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमी भारत तक फैल गया था। शक लोग बोलन के मार्ग से आकर सिन्ध, काठियावाड़, मालवा, मथुरा होकर एक वृत्त में फैले रहे। कुछ शासक थे और थोड़े उनके गवर्नर (क्षत्रप) के रूप में शासन करते रहे। ई० पू० में भारतीय यूनानी शासन समाप्त हो गया था परन्तु ई० सन् से शक तथा कुषाण लोगों का प्राबल्य हो गया जो चौथी शताब्दी तक उत्तर पश्चिम भाग में शासन करते रहे। इन विदेशियों के अतिरिक्त उत्तरी राजपूताना, पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्यभारत तथा काँगड़ा आदि प्रदेशों में छोटे-छोटे प्रजातंत्र स्थित थे जिनके नाम का पता तत्कालीन प्राप्त सिक्कों से चलता है। यहाँ के लोगों ने विदेशी शासन से घबरा कर विद्रोह भी किया था। पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यौधेय गण (प्रजातंत्र) इस विद्रोह का नायक था। उनके सिक्कों पर 'यौधेयानां

जयः' लिखा मिलता है जिससे पता चलता है कि यौधेय लोगों ने पंजाब से कुषाण शासन को मिटाने का प्रयत्न किया था। इस तरह मद्र (मध्य पंजाब के), आर्जुनायन (मध्यभारत के) तथा मालवगणों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। उत्तरापथ को छोड़कर दक्षिण में आंध्र वंश ने मौर्यों का स्थान ग्रहण किया था। इनका प्रभाव उत्तर में न फैल सका। दक्षिण में कई शताब्दियों तक इनका शासन रहा। गोदावरी तथा कृष्णा नदियों के मध्य तेलगू प्रदेश में रह कर सातवाहन (आंध्र) नरेशों ने एकछत्र शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया पर वे सफल न हो सके। शातकर्णी ने रुद्रदामन से युद्ध भी किया था परन्तु शक सत्ता मिट न सकी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ई० पू० पहली सदी से लेकर तीन सौ वर्ष तक भारत में कोई शक्तिशाली प्रतापी राजा न हुआ। राजनैतिक उथल-पुथल होने पर भी भारतीय समाज ने पहले विदेशी लोगों से पृथक् रहना चाहा परन्तु धीरे-धीरे इसने विशाल सामाजिक सीमा में उन्हें सम्मिलित कर लिया। समाज ने उन्हें पचा लिया और भारतीय (आर्य) बना डाला। शक लोगों ने अपना नाम बदल कर भारतीय नामकरण की शैली को अपनाया। ऋषभदत्त, रुद्रसिंह, जयसिंह आदि नाम रक्खे गये। भारतीय आर्थिक उन्नति में भी सब ने हाथ बँटाया। उस समय की मुद्रानीति (सिक्कों की संख्या) तथा व्यापारिक संस्थाओं (निगम) की बढ़ती को देखकर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार सभी शासक तथा प्रजा धन-धान्य की वृद्धि में दत्तचित्त थे। ऋषभदत्त ने नासिक में दान देकर भारतीय प्रणाली का अनुमोदन किया। कनिष्क ने सोने के सिक्के चलाकर भारतीय मुद्रा में एक नया युग पैदा किया। धार्मिक क्षेत्र में सभी विदेशी भारतीय हो गये। कुषाण वंश के सिक्कों पर शिव तथा नन्दि की मूर्तियाँ मिलती हैं तथा 'ध्रमहिदस महीश्वरस्य' (धर्मात्मा शैव) के लेख खुदे मिलते हैं। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सभी शैव थे। कनिष्क के सिक्कों पर यूनानी अक्षरों में शिव लिखा है। ऋषभदत्त के दान-प्रकार बतलाते हैं कि क्षत्रप भी भारतीय धार्मिक भावना से प्रभावित थे। कहने का तात्पर्य यह कि सभी ने विदेशीपन को छोड़ दिया और भारतीयता के उपासक ही नहीं वरन् भारतीय हो गये।

ऊपर कहा गया है कि दक्षिण भारत में सातवाहन वंश का राज्य चार सौ वर्ष (ई० पू० २०० से ईसवी सन् दूसरी सदी) तक रहा। तीसरी

सदी के आरम्भ होते ही वाकाटक वंश ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। इस वंश के शिलालेखों से मालूम पड़ता है कि वाकाटक राज्य हैदराबाद (दक्षिण) से मध्य प्रान्त तक विस्तृत था। इस वंश में कई राजा हुए। प्रवरसेन प्रथम ने सम्राट् की पदवी धारण कर अश्वमेध यज्ञ किया। उसके पौत्र पृथ्वीषेण के समय तक वाकाटक वंश की प्रतिष्ठा, सेना तथा कोष (धन) लगातार बढ़ता रहा (समुदितस्य वर्षशतमभिवर्धमानकोषदण्ड-साधनसन्तानपुत्रपौत्रिण:) । उसका प्रताप सूर्य मध्यप्रान्त तक प्रकाशित करता रहा। वाकाटक शासक वैष्णव थे। आगे यह बतलाया जायगा कि गुप्त सम्राट् विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटक वंश में ब्याही थी जिससे इस वंश की प्रधानता प्रकट होती है। इन्हीं दिनों मथुरा तथा ग्वालियर के भूभाग पर नागवंशी राजा शासन करते थे जिनका वैवाहिक सम्बन्ध वाकाटक तथा गुप्तवंशों से स्थापित हुआ था। लेखों में नाग राजाओं का नाम भारशिव मिलता है; क्योंकि नाग राजा अपने कंधों पर शिवलिंग रखते थे। वाकाटक वंश के लेख में भी 'भारशिवानां महाराजा' के नाम से उल्लेख मिलता है। पद्मावती नाग के सिक्कों पर त्रिशूल तथा नन्दि का चित्र मिला है जिससे प्रकट होता है कि नागवंशी राजा शैव थे। पुराणों में भी तेरह नाग राजाओं का नाम मिलता है। कहा जाता है कि काशी में इन राजाओं ने दश अश्वमेध यज्ञ किये थे। कुषाणवंश की अवनति के बाद नागवंश की शक्ति बढ़ गयी। अतएव मथुरा के समीप कुषाण गवर्नर को हटाकर नाग राजा पद्मावती से मथुरा तक के भू-भाग पर स्वतंत्र शासक के रूप में राज्य करते रहे। शिव के उपासक होने के नाते राजाओं में सादगी तथा दान की मात्रा अधिक थी।

भारत में वाकाटक तथा भारशिव नरेशों का विशेष स्थान है। ये प्राचीन हिन्दू संस्कृति के रक्षक थे। विदेशियों के हाथ में देश का भाग्य इन्होंने नहीं जाने दिया। देश धन-धान्य से पूर्ण था अतएव शास्त्र की ओर इनका ध्यान गया। मौर्यकाल से प्राकृतभाषा तथा ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता रहा। परन्तु संस्कृत साहित्य का निर्माण वाकाटक राजा ने आरम्भ किया। मठों में शिक्षा कार्य होता था जिसने पीछे चलकर मन्दिर में स्थान पा लिया। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, ईसा पूर्व शताब्दियों में स्तूप तथा स्तम्भ का निर्माण हुआ था। शुंगों के समय में साँची और भरहुत के स्तूपों की वेष्टिनी तथा फाटकों पर बौद्धधर्म-सम्बन्धी मूर्तियाँ बनती रहीं। सात-

वाहन युग के अमरावती के अलंकरण तथा मौर्य पालिश उच्च कोटि की अद्वितीय कला के प्रदर्शन थे। पर ईसवी सन् के बाद कला में परिवर्तन आ गया। कुषाण काल में गान्धार कला का जन्म हुआ। शैव मत के कारण शिवलिंग बनाये जाने लगे। वाकाटक तथा नागवंशी राजाओं ने अलंकरण को पर्याप्त प्रधानता दी। इस काल में बनाये गये मन्दिर बेसर शैली के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस काल की सबसे बड़ी विचित्रता अजंता की चित्र-कला है जो संसार में अपना सानी नहीं रखती। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि मौर्य साम्राज्य की अवनति के बाद भारत कई टुकड़ों में बँट गया था। सदा राजनैतिक परिवर्तन होते रहे। लड़ाइयाँ जारी थीं परन्तु जनता में सांस्कृतिक विकास का कार्य वेग से चलता रहा।

ईसा की चौथी सदी से भारत में नये यग का आरम्भ हुआ जिसमें शासकों ने पुनः एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया। भारत की राजलक्ष्मी ने फिर से गुप्तों को वरण किया। पाटलिपुत्र में पुनः नवजीवन का संचार होने लगा। राजधानी की चहल-पहल से पाटलिपुत्र में सभी चीजें केन्द्रीभूत हो गयीं। गुप्त नरेशों ने सब प्रकार से देश की उन्नति की। भारतीय संस्कृति चरम सीमा को पहुँच गयी और सभ्यता की चोटी (शिखर) पर समाज के पहुँच जाने के कारण गुप्तकाल 'स्वर्ण-युग' के नाम से विख्यात हुआ। चन्द्रगुप्त प्रथम से स्कन्दगुप्त तक (सैकड़ों वर्ष) सम्राटों ने अपने पराक्रम के बल पर सारे भारत पर प्रभाव रक्खा। समुद्रगुप्त ने भारत में दिग्विजय कर 'धर्म-विजयी' की प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रयाग के स्तम्भ लेख में उसकी विजय, पराक्रम तथा गुणों का सुन्दर वर्णन हरिषेण ने किया है। चाणक्य की साम्राज्य-नीति को गुप्तों ने अपनाया। उत्तर भारत में छोटे राज्यों और प्रजातंत्रों को समुद्रगुप्त ने समाप्त कर राज्य का विस्तार किया। उसने उत्तर-पश्चिम में शक, मुरुण्ड, शाहानुशाही राजाओं को नष्ट कर दिया। उसने दक्षिण के राज्यों को जीतकर मुक्त कर दिया। द्वीपों के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। उसी के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्र-मादित्य ने पश्चिमी भाग से शकों को हराकर काठियावाड़ तथा गुजरात को राज्य में सम्मिलित किया। इस प्रकार भारत में शांति स्थापित हो गयी। शस्त्र से रक्षित राज्य में शास्त्र की चर्चा होने लगी। समाज में सभी जातियाँ प्रेम से रहती थीं। नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद से लोग जीवन व्यतीत करते रहे। गप्त राजा ने फिर से ब्राह्मण धर्म को प्रतिष्ठित किया। स्वयं

वैष्णव मत को मानते हुए वे धार्मिक सहिष्णुता की भावना रखते थे। उनके लेखों तथा मुद्रा से तत्कालीन धार्मिक प्रवाह की बातें मालूम की जाती हैं। देश धन-धान्य से पूर्ण था, जिसका सजीव वर्णन चीनी यात्री फाहियान ने किया है। व्यापार स्थल तथा जल मार्गों से हुआ करता था। भारतीयों ने इस सिलसिले में अन्य देशों (समीपस्थ द्वीप-समूह) में जाकर अपनी संस्कृति फैलाय तथा उपनिवेश स्थापित किया था। गुप्त सोने के सिक्कों की संख्या देश की आर्थिक उन्नति तथा वैभव की द्योतक है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, सारे ग्रन्थ तथा लेख संस्कृत ही में लिखे गये। संस्कृत को राजभाषा का पद मिल गया था। काव्य, दर्शन, धर्म या विज्ञान सभी विषयों पर अनेक अमूल्य ग्रन्थ रचे गये। उस समय सारे देश में साहित्यिक लोग सुन्दर रचनाओं में लगे थे। गुप्त युग में ललित कला भी चरम सीमा को पहुँच गयी थी। किसी क्षेत्र में अधूरा काम न रह पाया। परन्तु इतना होते हुए भी गुप्तों की सीमा-नीति पुष्ट न थी। सीमा के द्वार (दर्रों) पर इनका अधिकार न होने से विदेशी हूणों ने कुमारगुप्त के अंतिम काल में आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने उस चढ़ाई को रोका और हूणों को परास्त किया। गुप्तों की सारी राजनीति यहाँ असफल रही। मौर्यों के बाद किसी शासक का ध्यान सीमा की ओर नहीं गया, जिसका विषम फल हूण आक्रमण और स्वर्ण युग की संस्कृति का नाश है। गुप्त-वंश का अंतिम सम्राट् स्कन्दगुप्त था। समुद्र से स्कन्द तक राज्यश्री स्थिर रह सकी और एकछत्र राज्य भारत में स्थापित रहा। परन्तु सन् ४६७ के बाद (स्कन्द की मृत्यु के पश्चात्) गुप्त साम्राज्य की अवनति होने लगी और भारत के बरे दिन आ गये।

गुप्तों का राज्य प्रांतों में शासन की सुगमता के लिये बँटा हुआ था। ज्यों ही स्कन्द की मृत्यु की खबर फैली, पश्चिमी भाग (काठियावाड़) ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। कछ काल तक बुधगुप्त ने मालवा से बंगाल तक पर प्रभाव रक्खा पर कमजोरी कब तक छिपी रह सकती थी। इसका प्रमाण तत्कालीन लेखों तथा सिक्कों से मिलता है। ई० सन् ५१० के लग-भग मालवा पर हूण शासन कायम हो गया। ५४४ के पश्चात् बंगाल में गौड़ राज्य उत्पन्न हो गया। पाटलिपुत्र में पिछले गुप्त नरेश राज्य करते रहे परन्तु वे अत्यन्त कमजोर थे। उनके अधीन रहनेवाले मौखरि लोगों ने कन्नौज में एक स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। शक्ति के लिये पिछले

गुप्त नरेश तथा मौखरि राज्य में युद्ध होने लगा, पर अन्त में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर शांति हुई। छठी सदी के उत्तर भाग में मौखरि शासक ईशान वर्मा ने महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण की और साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा से बंगाल (गौड़) तथा दक्षिण भारत पर चढ़ाई की थी। उसने पिछले गुप्त नरेश कुमारगप्त को भी हराया और विदेशी हूणों को जीतकर एकछत्र राज्य कायम करना चाहा पर इसमें सफलता न मिल सकी। मालवा तथा गौड़ राजाओं की कूटनीति से भारत के छोटे-छोटे नरेश संगठित न हो सके। दिल्ली के पास थानेश्वर में वर्धन राज्य कायम हो गया था। मध्यभारत में तथा दशपुर में यशोधर्मन नामक राजा के शासन का उल्लेख मिलता है। मध्य प्रान्त के उत्तरी भाग में परिव्राजक गवर्नर क्रमशः स्वतंत्र हो गये थे। इससे पता चलता है कि गप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। पिछले गुप्त नरेशों ने कभी युद्ध से प्रभाव दिखाकर, कभी मैत्री से, कभी वैवाहिक सम्बन्ध से तथा अधीन रह कर अपना समय व्यतीत किया। पंजाब में हूणों का आधिपत्य था। स्कन्द से हार जाने पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। मध्यभारत में उनके लेख (ग्वालियर के पास) तथा सिक्के मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि छठी सदी के आरम्भ में इनका शासन मध्यभारत तक विस्तृत था। इस तरह यह प्रकट होता है कि जिस साम्राज्य को कई सदियों में गुप्तों ने स्थापित किया और बढ़ाया था वह आन्तरिक दुर्बलता, शत्रुओं के आक्रमण, आपस की फूट तथा प्रतापी राजा के न होने से टुकड़े-टुकड़े हो गया और फिर छोटी रियासतें दिखलायी पड़ने लगीं। मध्य युग के आरम्भ में भारत की ऐसी ही दर्व्यवस्था थी।

दूसरा अध्याय

प्राचीन काल का अंतिम सम्राट्-हर्ष

गुप्त शासन की अवनति के बाद उत्तरी भारत में कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। यद्यपि उनकी स्वतंत्रता अधिक समय तक चल न सकी तथापि शासक होने की हैसियत से प्रदर्शन के लिये वे बड़ी-बड़ी पदवियाँ धारण करते रहे। गुप्त शासक शक्तिहीन थे। हूण लोगों का आक्रमण होता रहा। कोई शक्तिशाली राजा न था जो सबको संगठित करता। देश छोटे-छोटे प्रान्तों में विभाजित हो गया। सातवीं सदी के आरम्भ में हर्ष ने पुनः साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था और इस मार्ग में उसे सफलता भी मिली। इसके बाद गुर्जर प्रतिहारों ने देश को संगठन की ओर ले जाना चाहा। उनकी इच्छा थी कि सब रियासतें अधीनता स्वीकार कर लें। ऐसा हुआ भी परन्तु वह ऊपरी दिखावा था। गुर्जर प्रतिहार राज्य के भू भाग पर दसवीं सदी के बाद अनेक राज्य खड़े हो गये। वास्तविक मेल तथा संगठन की कमी पूर्व मध्यकाल से ही दिखलायी पड़ती है। राजपूत रियासतों के पृथक् पृथक् अस्तित्व होने के कारण ही मुसलमान विजेता अपना पैर जमा सके। इस विषय को जानने के लिये समस्त घटनाओं का संक्षिप्त इतिहास जानना आवश्यक होगा।

पाँचवीं सदी के अन्त में ही स्कन्दगुप्त ने विदेशी हूणों को परास्त कर भारत को छिन्न-भिन्न होने से बचाया था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मालवा तथा पश्चिमी गप्त प्रांत पर हूण राजा का अधिकार हो गया। हूणों के प्रसिद्ध राजा तोरमाण तथा मिहिर अधिक समय तक मध्यभारत तथा मालवा में शासन करते रहे। उनके लेख तथा सिक्के मिले हैं जो शासन की स्थिरता को प्रमाणित करते हैं। उनके चाँदी के सिक्के गप्त सिक्कों के ढंग पर तैयार किये गये थे। इस कारण यह कहा जाता है कि गुप्त शासन को हटाकर हूणों ने अपना राज्य उसी भू भाग पर स्थापित किया था। हूण राज्य का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है तथा उसका उल्लेख राजतरंगिणी में भी मिलता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हूण राज्य

की प्रधानता मालूम पड़ती है। मालवा के एक लेख (मंदसोर) से पता चलता है कि राजा यशोधर्मन ने मालवा तथा मध्यभारत से हूणों को परास्त कर भगा दिया था तो भी वे लोग निर्मूल न हो सके। भारतीय शासकों से युद्ध होता रहा; परन्तु अन्त में उन्हें भारतीय समाज में विलीन होना पड़ा और हूणों का नाम सदा के लिये मिट गया। यह छठी शताब्दी की बात है। उस समय गुप्त साम्राज्य के अन्य प्रांतों में भी उथल-पुथल मची हुई थी। यों तो मगध में गुप्त नामधारी राजा राज्य करते रहे, पर इन राजाओं का गुप्त सम्राटों से कोई सीधा सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। इतिहास में ये पिछले गुप्त नरेश के नाम से प्रसिद्ध हैं। मगध में इनका राज्य सातवीं सदी तक चलता रहा। समकालीन राजाओं से युद्ध होने पर अंत में सन्धि हो जाती थी और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता था। इस वंश में आदित्यसेन का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसने सम्राट् की पदवी धारण की तथा अश्वमेध यज्ञ किया था। इस वंश के छोटे-छोटे राजा, हर्षवर्धन की मत्यु के पश्चात्. शासन करते रहे परन्तु कराल काल के मुख में विलीन हो गये।

छठी सदी में उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में मौखरि वंश का राज्य था जिसकी राजधानी कन्नौज थी। इन लोगों का प्रभाव धीरे धीरे बढ़ता गया। प्रारम्भ में मौखरि पिछले गुप्त नरेशों के सामंत थे परन्तु ईशान वर्मा ने वंश का नाम उज्ज्वल किया। उसने उत्तरी भारत के राजाओं—गौड़, हूण तथा पिछले गुप्त—को हराया और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। अंतिम राजा ग्रहवर्मा का विवाह थानेश्वर के राजा प्रभाकर की पुत्री राज्यश्री से हुआ था। ग्रहवर्मा मौखरि वंश का अंतिम राजा था; क्योंकि बंगाल के राजा शशांक ने इसे, देवगुप्त की सहायता से, युद्ध में मार डाला। इस प्रकार मौखरि वंश का अंत हो गया। विधवा रानी राज्यश्री के कथनानुसार उसके भ्राता हर्षवर्धन ने कन्नौज राज्य को थानेश्वर राज्य में मिला लिया।

इसी तरह बंगाल, जो गुप्तकाल में एक बड़ा प्रांत था, छठीं सदी में एक स्वतंत्र राज्य बन गया। गुप्त साम्राज्य के अन्त में वहाँ धर्मादित्य, गोपचन्द्र तथा समाचारदेव नामक छोटे राजा राज्य करते रहे। छठी सदी के मध्य में उत्तरी बंगाल (गौड़ प्रदेश) में एक नई शक्ति का उदय हुआ जिसने पराक्रमी होने के कारण कन्नौज के राजा ईशान वर्मा से भी युद्ध ठान लिया था। सातवीं सदी के आरम्भ में शशांक नाम का एक प्रतापी

व्यक्ति शासक हुआ जिसने, उत्तरी भारत में युद्ध के लिये अग्रसर होकर, मौखरि तथा वर्धन लोगों से युद्ध किया। इसके हाथों ग्रहवर्मा के मारे जाने की बात कही जा चुकी है। उसी युद्ध के सिलसिले में हर्षवर्धन के जेष्ठ भ्राता राज्यवर्द्धन को शशांक ने मरवा डाला। कुछ ही दिनों के बाद (६३७ के लगभग) शशांक मर गया और कामरूप (आसाम) के राजा ने उस भू भाग पर अधिकार कर लिया। कामरूप तथा बंगाल के अन्य राजाओं का वर्णन अगले पृष्ठों में किया जायगा। यहाँ पर इतना कहना आवश्यक था कि हर्ष से पहले शशांक का राज्य समाप्त हो गया था। कुछ लोगों का कहना है कि हर्ष ने सिंहासनारूढ़ होने पर शीघ्र ही शशांक पर चढ़ाई की थी। शशांक परास्त किया गया था। इस विवाद की गहराई में न जाकर यह जान लेना आवश्यक है कि हर्ष को, राजा होते ही, सभी तरफ युद्ध करना पड़ा। प्राय: उत्तरी भारत में सब शासकों ने हर्ष से मैत्री की भीख माँगी। कहने का तात्पर्य यह कि हर्ष ने एकछत्र सम्राट् के रूप में शासन किया। सारी राजनैतिक स्थिति की परीक्षा से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन भारत की अवनति का आभास स्कन्दगुप्त के बाद ही मिलने लगा था। हूणों का आक्रमण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अवनति का आरम्भ हर्ष के शासनकाल के पश्चात् नहीं माना जा सकता। उन छोटे राज्यों का वर्णन ऊपर दिया गया है जिन्हें समेट कर एकछत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न हर्ष ो किया। हर्ष ने उस गिरती हुई दशा को सुचारु रूप से सुधारने का प्रयत्न किया था। सारे उत्तरी भारत को मिलाकर उसने एकछत्र शासन किया। प्राचीन सम्राटों की तरह सभा बुलाय , विद्वानों को आश्रय दिया तथा भारतीय संस्कृति की उन्नति का प्रयत्न किया। इन्हीं कारणों से हर्ष को प्राचीन भारत का अंतिम सम्राट् कहना उचित प्रतीत होगा।

हर्षवर्धन के कार्यों का वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया है तथा बाण ने 'हर्षचरित' में उसका विस्तृत विवरण दिया है। इस राजा के पिता प्रभाकरवर्धन का नाम प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत में छठी सदी में हूण-आक्रमण के कारण उथल पुथल हो रही थी। उसी काल में थानेश्वर (दिल्ली प्रांत) में नरवर्धन ने राज्य स्थापित किया। पाँचवें राजा प्रभाकर वर्धन के समय में राज्य की वृद्धि हुई। उसका प्रभाव इतना बढ़ा कि प्रभाकर ने महाराजाधिराज, परमभट्टारक की पदवी धारण की। हूणों का वह

परम शत्रु था, इसी कारण बाण ने उसे हूण-मृगों के लिये शेर की उपमा दी है। उसकी मृत्यु के पश्चात् (६०५ ई० में) हर्ष के जेठे भाई राज्यवर्धन ने भी हूणों को परास्त किया। उसी समय कन्नौज का राजा ग्रहवर्मा तथा शशांक में युद्ध हो रहा था। मौखरि नरेश ग्रहवर्मा को गौड़ के राजा ने देवगुप्त के सहयोग से मार डाला, यह खबर ज्यों ही थानेश्वर में पहुँची, राज्यवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की सहायता के लिये चल पड़ा परन्तु मार्ग में शशांक से मुठभेड़ होने पर वह मारा गया। इसलिये हर्ष को थानेश्वर का राज्य सँभालना पड़ा। उसी समय हर्ष अपनी शक्तिशाली सेना के साथ बहन राज्यश्री की सहायता और शशांक को पराजित करने के लिये आगे बढ़ा। शशांक ने राज्यश्री को बचा कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। परन्तु हर्ष के वहाँ पहुँचने की खबर पाकर शशांक बंगाल भाग गया और बिना युद्ध के कन्नौज पर हर्ष ने प्रभुत्व जमा लिया। उस अराजकता में राज्यश्री पर्वतों में छिप गयी थी। वह विंध्य पर्वत से ढूँढ़ कर लायी गयी परन्तु उसने राज्यभार लेना स्वीकार न किया। उस अवस्था में हर्षवर्धन को थानेश्वर तथा कन्नौज दोनों राज्यों के शासन की बागडोर सँभालनी पड़ी। ऐसी स्थिति में उसने थानेश्वर से राजधानी कन्नौज में बदल ली। यह नगर साम्राज्य का केन्द्र बन गया। उसी समय से इसका इतना महत्त्व बढ़ गया कि कन्नौज पर अधिकार करने के लिये सभी लालायित रहते थे। पूर्व मध्यकाल में (७००–१२०० ई० तक) कन्नौज ही पाटलिपुत्र के समान प्रधान केन्द्र बना रहा।

हर्षवर्धन के राजसिंहासन पर बैठने के समय उत्तरी भारत में अशांति छायी हुई थी। उसने राज्यभार ग्रहण कर पश्चिम तथा पूर्व के देशों पर चढ़ाई की। हर्ष की विजय के बारे में ह्वेनसांग का प्रमाण ही मानना पड़ता है। इसके सिवाय कोई ऐसे लेख नहीं मिले हैं जो उसकी विजय-यात्रा का परिचय दें। कहा जाता है कि मगध को जीतकर हर्ष शशांक को दंड देने बंगाल गया था। परन्तु इससे (६३७ ई०) पूर्व शशांक मर गया था। कर्ण-सुवर्ण (गौड़ राजधानी) के राज्य की विजय आसाम के राजा भास्कर वर्मन के हाथों सम्पन्न हुई थी। वह हर्ष का मित्र बन गया। अतः पुनः गौड़ राज्य को परास्त करने का प्रश्न ही न उठा। पश्चिमी भारत में हर्ष ने वलभी (गुजरात) राज्य पर चढ़ाई की थी। ह्वेनसांग के कथनानुसार वलभी का राजा चढ़ाई के समय भाग गया और भरौच के शासक दद्द द्वितीय की

शरण में पहुँच गया था। इसका तात्पर्य यही है कि हर्षवर्धन आसाम से लेकर गुजरात (कामरूप से वलभी) तक के प्रदेश पर शासन करता था। दक्षिण भारत के चालुक्य लेखों से पता चलता है कि हर्ष नर्मदा नदी के समीप तक चला गया जहाँ पर पुलकेशी द्वितीय ने उसके दक्षिण प्रवाह को रोका था। कहा जाता है कि सन् ६४२ के बाद हर्ष ने दक्षिण भारत पर गंजम तक विजय प्राप्त की थी। उसने काश्मीर तक चढ़ाई की थी परन्तु इस पर विश्वास करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इन सब कारणों से हर्ष के राज्यविस्तार के विषय में विद्वानों में मतभेद है। चीनी यात्री के कथन पर ही सारी बातें निर्भर हैं। विश्वास किया जाता है कि सारे उत्तरी भारत में हर्ष का राज्य विस्तृत था। उसके शत्र चालुक्य राजा भी उसे उत्त-रापथ (उत्तरी भारत) का स्वामी मानते थे। उनके लेखों में हर्ष के लिये 'सकलोत्तरापथनाथ' की पदवी मिलती है। सम्भव है कि स्थान-स्थान पर छोटे सामंत राज्य करते हों, परन्तु कामरूप से वलभी तक सभी शासक हर्ष की आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार प्राचीन भारत का वही अंतिम सम्राट् था। उसके पश्चात् कोई व्यक्ति सारे उत्तरी भारत पर प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका। गुर्जर प्रतिहारों के संबंध में आगे लिखा जायगा।

सिंहासन पर बैठते ही हर्षवर्धन ने अपनी सेना बढ़ाई जिससे सामंतों पर शक्ति बनाये रक्खे और बाहरी शत्रु को किसी प्रकार देश में न आने दे। लाखों की सेना रख कर भी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये उसने मैत्री तथा वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। आसाम का राजा भास्कर वर्मन उसका मित्र था। वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय से उसने अपनी पुत्री ब्याही थी। इस विवाह का राजनैतिक महत्त्व था। वलभी नरेश से मैत्री के सिवाय हर्ष को दक्षिण में प्रवेश करने के लिये निष्कंटक मार्ग मिल गया। इतना ही नहीं, हर्ष ने चीन के शासक से मैत्री की और राजदूत भेजे। इस कार्य से हर्ष के सम्राट् होने की बात स्वतः सिद्ध होती है।

जहाँ तक हर्ष के शासन-प्रबंध का सम्बन्ध है, कोई प्रामाणिक रूप से लिखित बातों का पता नहीं है; परन्तु ह्वेनसांग के कथन तथा लेखों के आधार पर शासन का वर्णन किया जायगा। उसने साम्राज्य को प्रांतों (भुक्ति), जिले (विषय) तथा ग्रामों में विभक्त किया था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। केन्द्र में राजा की सहायता के लिये मंत्रि-परिषद् थी। राज्य में सामंत तथा राजस्थानीय (वायसराय) हर्ष की सहा-

यता करते थे। राज्य में प्रजा सुखी थी। टैक्स (कर) भी ऐसे थे जिनसे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न था। बुरे कामों के लिये कठोर दण्ड का विधान था। बाण ने लिखा है कि उत्सवों तथा विशिष्ट अवसरों पर हर्ष बन्दियों को मुक्त कर दिया करता था। इस प्रकार हर्ष के समय में गुप्त काल की तरह सब शासन-कार्य उचित मार्ग पर चलते रहे। ह्वेनसांग के कथन से पता चलता है कि राज्य में वैभव तथा सम्पत्ति की कमी न थी। लोग सुखी थे। पाटलिपुत्र की तरह कन्नौज भी धन-धान्य से पूर्ण था। वहाँ पर भव्य भवनों तथा मंदिरों की कमी न थी।

कन्नौज में हर्ष पण्डितों की सभा किया करता था। उसमें महायान (बौद्ध मत) के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता था। हर्ष जितना बड़ा शासक था उतना ही शांति का प्रतिपादक भी था। ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि भास्कर वर्मन के साथ हर्ष गंगा के दक्षिण किनारे पर बड़ी सजधज के साथ जाता था। उस यात्रा में लम्बे जुलूस के साथ बुद्ध की सोने की मूर्ति निकाली जाती थी। यात्रा के अंत में वह एक उत्सव मनाता था। उसमें जनता को दावत देता था। वहाँ अनेक अतिथि आते थे जिनका स्वागत धूम-धाम से किया जाता था। कन्नौज में इस प्रकार की सभा के बाद हर्ष प्रयाग में भी प्रत्येक छठे वर्ष दान देने के लिये विशेष आयोजन किया करता था। उसे महामोक्ष परिषद् कहते थे। उसके सामंत, राजा (मित्रगण) तथा हजारों निर्धन व्यक्ति और साधु एकत्र होते थे। संगम के बालू के मैदान में हिन्दू देवताओं तथा बुद्ध भगवान् की मूर्तियों की पूजा हुआ करती थी। भिक्षु तथा ब्राह्मण राजा से दान पाते थे। उस दान में राजा के लिये बौद्ध, जैन साधु अथवा ब्राह्मण सभी एक समान थे। प्रायः कई महीनों तक इस प्रकार का धार्मिक कार्य चलता था। कहा जाता है कि हर्षवर्धन उन दिनों सारी सम्पत्ति दान में दे देता था। वह अपने शरीर के आभूषण भी निर्धन लोगों को बाँट देता था। ये बातें हर्ष की दानशीलता तथा उदारता का परिचय देती हैं।

हर्ष के इस प्रकार के दान तथा धार्मिक कृत्यों को देखकर कुछ लोगों को उसकी वास्तविक धार्मिक भावना में संदेह हो जाता है। जहाँ तक हर्ष के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्ध है, उसकी मधुबन तथा बाँसखेरा की प्रशस्तियाँ बतलाती हैं कि वह शिव का भक्त था इसी लिये वह परममाहेश्वर की पदवी से विभूषित किया गया था। पिछले दिनों में उसकी भावना बदल

गय थी और वह बौद्ध धर्म की ओर झुक गया था। कन्नौज की पण्डित-सभा में महायान के सिद्धान्तों पर वादविवाद किया करता था। सम्भवतः हर्ष पर चीनी यात्री ह्वेनसांग के भाषण का प्रभाव पड़ा तथा उसकी बहन राज्यश्री का भी प्रभाव था जो बौद्ध धर्म की अनुयायिनी थी। यही नहीं, उसने कन्नौज में संघाराम तथा राज्य में अनेक मठ और स्तूप बनवाये थे। प्रयाग की सभा में वह हिन्दू देवताओं का भी आदर और पूजन किया करता था। इसलिये यह कहा जा सकता है कि उसमें मनुष्यजाति की सेवा का भाव अधिक था। हर्ष-चरित में साफ तौर से वर्णन मिलता है कि उसके राज्य में बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण मतों का अच्छा प्रचार था। जैन तथा बौद्ध मतों में विभेद पड़ गया था। हीनयान और महायान के पारस्परिक भेद से दो सिद्धान्त खड़े हो गये थे। ब्राह्मण धर्म का उदय यों तो गुप्तकाल में हुआ था परन्तु उसका अभ्युदय होता रहा। काशी और प्रयाग इसके केन्द्र बन गये थे। मूर्तिपूजा की ओर विशेष रुचि हो गय थी। आदित्य, शिव और विष्णु भगवान् की मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित की गयी थीं। दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद से कई मत खड़े हो गये थे और इस कारण पाशुपत, पांचरात्र, भागवत आदि मतों के माननेवाले संन्यासी राज्य में अपने मत का प्रचार करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हर्ष के समय में किसी एक धर्म की प्रधानता न थी। विभिन्न मतों का प्रचार था जिसे हर्ष आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा करता था।

भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन की ख्याति केवल विस्तृत राज्य तथा शासन से नहीं है वरन् इसलिये है कि वह एक प्रसिद्ध विद्वान् तथा कवियों का आश्रयदाता भी था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष अपनी आमदनी का चौथा भाग विद्वानों के स्वागत तथा भेंट में व्यय करता था। बौद्ध विद्वान् जयसेन को उसने कई ग्रामों का कर दान में दे दिया था। नालंदा महाविहार को उसने काफी आर्थिक सहायता दी थी। उसके दरबार में बाणभट्ट ऐसे विद्वान् रहा करते थे। बाणभट्ट ने कादम्बरी तथा हर्षचरित लिखकर संस्कृत साहित्य में प्रसिद्धि पाई है। शासन का काम करते हुए हर्ष स्वयं सरस्वती की सेवा किया करता था। विद्वानों का मत है कि राजा ने प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द ग्रंथों की रचना की थी। इस प्रकार सुव्यवस्थित शासन में शास्त्र की चिन्ता होती रही जो शक्तिशाली तथा सुदृढ़ साम्राज्य का द्योतक है। हर्षवर्धन के ये सब कार्य उसे प्राचीन भारत के सम्राटों का

श्रेणी में रखते हैं। इस प्रकार शांतिपूर्वक राज्य करके हर्ष ई० सन् ६४८ में मर गया। उसका मरना था कि उत्तरी भारत में अराजकता फैल गय । उसके राज्य पर किसी मंत्री ने अधिकार कर लिया। उसके प्रताप-सूर्य के अस्त होते ही मगध में सामंत आदित्यसेन ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। भास्कर वर्मन ने गौड़ को मिलाकर अपना राज्य विस्तृत किया। काश्मीर तथा गुर्जर राजाओं का प्रभुत्व उत्तरी भारत में फैल गया। सारांश यह है कि हर्ष ही प्राचीन भारत का अंतिम सम्राट् था जिसका प्रताप सारे उत्तरी भारत में व्याप्त था।

हर्षवर्धन पूर्व की उस अराजकता को मिटाकर शक्ति तथा प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ था। यह सच है कि उसके अथक परिश्रम तथा सतत उद्योग से भी गुप्त सम्राटों की तरह स्वर्णयुग पैदा न हो सका। गुप्त शासकों द्वारा निर्धारित नियमों तथा कार्यों का पालन और अनुकरण मध्यकाल में हिन्दू राजा करते रहे। इस प्रकार का सुदृढ़ तथा उन्नतिशील साम्राज्य कायम न करने में हर्ष की कोई अयोग्यता नहीं कही जा सकती। वह तो घर-घर में न्याय की वंशी बजाना चाहता था। हर्ष ने मैत्रकों (वलभी राजा) से मैत्री स्थापित कर दक्षिण में जाकर सारे भारत को मिलाने का प्रयत्न किया पर उसका सपना पूरा न हो सका। उसने राजधानी कन्नौज को इतनी प्रधानता दी कि उसके पश्चात् कई शताब्दियों तक वही नगर उत्तरी भारत का एकमात्र मुख्य स्थान समझा जाता रहा। जो उसे जीत लेता वह उत्तरी भारत का प्रधान शासक समझा जाता था। यही कारण है कि महोदय श्री (कन्नौज का दूसरा नाम) पर विजय पाने के लिये सभी मध्यकाल में लालायित रहते थे। यह सब हर्षवर्धन की महत्ता का फल था। उसी के पथ पर चल कर गुर्जर प्रतिहारों ने भी कुछ समय के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

तीसरा अध्याय

कन्नौज के प्रतिहार तथा गहड़वाल वंश

हर्षवर्धन का व्यक्तित्व तथा प्रताप हटते ही मध्यदेश में अराजकता फैल गयी। गंगा की ऊपरी घाटी में ऐसी शक्ति न थी जिसके प्रभुत्व का असर देश पर हो तथा जिसके आतंक से शांति बनी रहे। हर्ष की मत्यु (६४७ . के बाद करीब डेढ़ सौ वर्ष तक इसी तरह कीर ाजनैतिक उथल-पुथल मची रही। नवीं सदी के आरम्भ में प्रतिहार वंश का आधिपत्य होने पर सारे उत्तरी भारत में सुशासन तथा शांति के दिन फिर आ गये। प्रतिहार लोगों से पूर्व कन्नौज पर राज्य करने के लिये भारत के बड़े बड़े राजा (राष्ट्रकूट, काश्मीर तथा पाल नरेश) प्रयत्नशील थे। यह सच है कि हर्ष के कोई पुत्र न था। उसकी एकमात्र पुत्री का विवाह वलभी-नरेश ध्रुवभट्ट से हो गया था। हर्ष की मृत्यु होते ही बंगाल में पाल, काश्मीर, वलभी तथा प्रतिहार मुख्य राज्यवंश क्षेत्र में थे। ध्रुवभट्ट के पुत्र धरसेन (चतुर्थ) ने स्वतंत्र राजा की महान् पदवी—परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर चक्रवर्ती—धारण की। अन्य राजा भी इसी प्रकार स्वतंत्र रूप से शासन करने लगे जिनका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा। यहाँ कन्नौज के संबंध में इतना ही कहना है कि ६४७ के पश्चात् प्रायः सौ वर्ष तक किसी भी राजा का नाम इतिहास में उल्लेख करने योग्य नहीं है। इस अवधि के शासन के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। ७२५ ई० के लगभग यशोवर्मन राजा का नाम साहित्य तथा लेखों में मिलता है जो पचीस वर्ष तक कन्नौज पर शासन करता रहा। उसके वंश का प्रामाणिक परिचय देना अत्यन्त कठिन है। परन्तु साहित्य के इतिहास में उसका नाम अमर रहेगा। वह काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ का समकालन था। 'राजतरंगिणी' के वर्णन से पता लगता है कि कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मन के दरबार में विद्वान् रहा करते थे। सभा-पंडित भवभूति ने 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित' ऐसे प्रसिद्ध तीन संस्कृत नाटकों की रचना की थी। ये ग्रंथ कालिदास के नाटकों के समान माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त वाक्पति ने प्राकृतग्रंथ

'गौड़वहो' लिखकर साहित्य का बड़ा उपकार किया। इस महाकाव्य के रचयिता वाक्पतिराज भवभूति के समकालीन थे तथा यशोवर्मन की राजसभा में साथ-साथ विराजमान रहते थे। इसकी विजय-यात्रा का वर्णन 'गौड़वहो' से मिलता है कि यशोवर्मन ने गौड़, वंग और नर्मदा से दक्षिण तथा राजपूताने के रेगिस्तान को रौंद डाला था परन्तु उसपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

यशोवर्मन की मृत्यु के पश्चात् (७५२ ई०) कन्नौज पर तीन व्यक्ति, एक के पश्चात् दूसरा, शासन करते रहे। उनके वंश के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। आठवीं सदी के अन्त तक उनका राज्य समाप्त हो गया। सबसे पहले वज्रायुध ने राज्य किया जो काश्मीर के राजा जयापीड़ विनयादित्य के हाथ से परास्त हुआ था। उसके उत्तराधिकारी इन्द्रायुध का शासन-काल भारत में कई राजाओं के पारस्परिक युद्ध के लिये प्रसिद्ध है जो कन्नौज पर अधिकार करना चाहते थे। पाल तथा राष्ट्रकूट राजाओं में राजधानी कन्नौज पर शासन करने की प्रतिस्पर्धा चल रही थी। दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव (७७९–९४ ई०) ने गंगा-यमुना के द्वाबे पर आक्रमण किया था। इन्द्रायुध यथापूर्व शासन करता रहा। बंगाल के पालवंशी राजा धर्मपाल को दक्षिण भारत के राजा की बढ़ती से ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी। वह उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था, अतएव राष्ट्रकूट के प्रभाव को मिटाने के लिये तथा महोदय (कन्नौज) पर अधिकार करने के लिये उसने चढ़ाई कर दी। इन्द्रायुध को परास्त कर उसने चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बिठा दिया। अन्य राजाओं ने धर्मपाल की प्रभुता स्वीकार कर ली। पालवंश के इस कार्य को राष्ट्रकूट नरेश कैसे सहन कर सकते थे? अतएव प्रभुता के लिये आपस में युद्ध छिड़ गया। उत्तरी भारत पर अधिकार स्थापित करने का प्रश्न था। राष्ट्रकूट वंशी राजा अमोघ वर्ष के लेख से पता चलता है कि ध्रुव के पुत्र गोविन्द (तृतीय) के सम्मुख धर्मपाल तथा चक्रायुध की सम्मिलित सेना हार गयी। दोनों ने गोविन्द की प्रभुता मान ली। परन्तु इन युद्धों से किसी प्रकार की शांति स्थापित न हो सकी। शत्रु के हार मान लेने पर अधिकार के लिये किया गया आक्रमण ढ़ीला पड़ गया। गंगा-यमुना के द्वाबे में अशांति तथा कलह का राज्य ज्यों का त्यों था। इस अवसर से लाभ उठाकर प्रतिहार वंश का राजा नागभट्ट (द्वितीय) चक्रायुध को हटाकर कान्यकुब्ज के सिंहासन पर स्वयं जा बैठा। उसकी विजय का कोई विरोध न कर सका।

इस तरह ९वीं सदी के आरम्भ में महोदय में प्रतिहार वंश का राज्य स्थापित हो गया। यह वंश सौ वर्ष तक सारे उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व फैला सका। इस वंश के शक्तिशाली शासन, विस्तृत राज्य तथा राजाओं के प्रभाव ने पश्चिम से मुसलमानों को गंगा की घाटी में नहीं घुसने दिया। हर्ष के बाद कन्नौज पर प्रतिहारों का राज्य देश को उन्नत की ओर ले जाने में सहायक तथा हिन्दू संस्कृति की रक्षा में समर्थ रहा।

प्रतिहार साम्राज्य की सीमा चारों तरफ पंजाब से मध्यभारत तथा काठियावाड़ से पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) तक फैली हुई थी। इस विस्तृत क्षेत्र में प्रतिहारों का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था। प्रतिहार वंश की उत्पत्ति सर्यवंश से सम्बन्धित की जाती है परन्तु अधिकतर विद्वान् यह मानते हैं कि वे गुर्जर की एक शाखा थे जो छठी सदी से गुजरात तथा मालवा में राज्य करते थे। उनका उल्लेख बाण ने 'हर्षचरित' में किया है तथा पुलकेशी द्वितीय की अपहोल की प्रशस्ति में भी उल्लेख मिलता है। जैन 'हरिवंश' के अनुसार प्रतिहार वंश का पूर्वपुरुष वत्सराज उज्जैन का शासक था। इस नामकरण का कारण यह था कि ये लोग राष्ट्रकूट दरबार में प्रतिहार का काम करते थे और गुर्जर की एक शाखा होने से गुर्जर प्रतिहार के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुए। इस वंश के संस्थापक का नाम नागभट्ट था जिसने आठवीं सदी के मध्य में राज्य जमाया था। सर्वप्रथम ये लोग मंडोर (जोधपुर) में रहते थे परन्तु कालान्तर में इन्होंने उज्जैन को अपनी राजधानी बना लिया। नागभट्ट ने अरब, चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों के डर से मुक्त होकर गुर्जर वंश की प्रतिष्ठा बढ़ायी। उसके पौत्र नागभट्ट प्रथम ने बंगाल तक चढ़ाई की थी परन्तु राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से परास्त होकर वह इधर-उधर भटकता रहा। नागभट्ट के पुत्र ने सबसे पहले कन्नौज की ओर ध्यान दिया। ८१४ ई० में गोविन्द के मर जाने पर उत्तरी भारत में अशांति थी। दक्षिण भारत के शत्रु से निडर होकर नागभट्ट उत्तर की ओर बढ़ा। इसी बीच धर्मपाल (पाल वंशी नरेश) कन्नौज का शासक बन बैठा था। उसे मुंगेर के पास हराकर नागभट्ट द्वितीय ने महोदय पर अधिकार कर लिया। उसने (८०८–३३ ई०) सिन्ध, आंध्र, आनर्त (काठियावाड़) तथा बंगाल की सीमा तक प्रतिहार राज्य को फैलाकर अपने वंश का प्रभुत्व स्थापित किया था। सन् ८३६ के लगभग उसके पौत्र भोज प्रथम ने स्थायी रूप से कन्नौज में शासन आरम्भ किया। यद्यपि इस नगर में आने पर दक्षिण भारत के शत्रु दूर हो गये और

राजधानी में शांति आ गयी पर उन्होंने गुजरात तथा मालवा के भौगोलिक महत्त्व को न समझा। यही कारण है कि इस प्रदेश के लिये राष्ट्रकूट तथा प्रतिहारों में सैकड़ों वर्षों तक युद्ध होता रहा। भोज या मिहिरभोज ने गद्दी पर बैठते ही बुंदेलखण्ड में अपने वंश का प्रभाव विस्तृत किया। उसके दान-पत्रों से पता चलता है कि स्थान-स्थान पर प्रतिहार वंश के पूर्वपुरुषों द्वारा दिये गये दान की उसने स्वीकृति दी। गुर्जरत्रा भूमि (मारवाड़) में ऐसे दान-पत्रों को फिर से जारी किया। इसका अर्थ यह था कि उनके वंश का प्रभुत्व निश्चित रूप से खोये स्थानों पर फिर से स्थापित हो गया था। मध्यदेश में भोज प्रथम ही एकमात्र शासक था। उसने राजा होने पर अपने वंश के पुराने शत्रुओं (पाल तथा राष्ट्रकूट) से युद्ध छेड़ दिया। बंगाल के पाल नरेश देव-पाल (८१५–५५ ई०) पर शीघ्र ही आक्रमण कर दिया परन्तु विजयलक्ष्मी हाथ न आयी। इस पराजय से भोज का तनिक भी उत्साह भंग न हुआ वरन् दूने उत्साह से उसने दक्षिण के राजा राष्ट्रकूट की सीमा (दक्षिण राज-पूताना, उज्जैनी का भाग नर्मदा तक) को रौंद डाला। मुख्य राष्ट्रकूट वंश तथा गुजरात शाखा के राजाओं से घमासान युद्ध हुआ। इस प्रकार उत्तर तथा दक्षिण के प्रांतों पर चढ़ाई कर मिहिर ने प्रतिहार वंश की प्रभुता प्रदर्शित की थी।

नवीं सदी के अरब यात्री सुलेमान ने भोज की कार्यशैली तथा शासन-प्रबंध की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी। डाकू तथा मुसलमान लोग उसे परम शत्रु मानते थे। उसके लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है कि राजा का आतंक गुजरात तक छाया हुआ था। उसके पुत्र महीपाल प्रथम को पैतृक राज्य की रक्षा में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। वह ८८५–९१० ई० तक राज्य करता रहा परन्तु भोज के मरने पर पंजाब प्रांत पर अधिकार स्थायी न रख सका। 'राजतरंगिणी' के वर्णन से पता चलता है कि महेन्द्रपाल के पूर्वी भाग में फँसे रहने के कारण, पंजाब के भूभाग पर काश्मीर के राजा (ठाकुर वंश) ने अधिकार कर लिया। राजनैतिक झंझटों में फँसे रहने पर भी महेन्द्रपाल शास्त्रचिन्तन में लगा रहता था, इस कारण वह विद्वानों का आश्रयदाता था। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार राज-शेखर ने इसी राजा के दरबार में रह कर अनेक ग्रंथों की रचना की। 'कर्पूरमंजरी', 'बालरामायण', 'काव्यमीमांसा' आदि ग्रंथ उसके लिखे कहे जाते हैं। पचीस वर्ष तक शासन करने के बाद महेन्द्रपाल की मृत्यु ९१० ई० में हो गयी।

इसके पश्चात् प्रतिहार वंश के बुरे दिन आ गये। कन्नौज पर अधिकार करके प्रतिहार राजाओं ने सम्राट् की तरह शान शौकत के साथ राज्य किया परन्तु दसवीं सदी में सारा प्रभाव जाता रहा। प्रतिहार वंश की अवनति, महेन्द्रपाल प्रथम (९१० ई० के बाद) की मृत्यु के पश्चात् आरम्भ हो गयी। ज्यों ही उसका पुत्र भोज (द्वितीय) गद्दी पर बैठा, महेन्द्र का भ्राता महीपाल चंदेल नरेश हर्षदेव की सहायता लेकर, स्वयं मालिक बन बैठा। उसने भोज (द्वितीय) को सिंहासन से हटा दिया। घरेलू झगड़े से अशांति उत्पन्न हो गयी। उधर प्रतिहारों के पुराने शत्रु राष्ट्रकूट राजाओं ने उत्तरी भारत (महोदय) पर आक्रमण कर दिया। गोविन्द राष्ट्रकूट के लेख से पता लगता है कि इन्द्र (तृतीय) ने महोदय (कन्नौज) को ध्वस्त कर डाला था। अपने सहयोगी चालुक्य नरेश को साथ लेकर वह प्रयाग तक चढ़ आया था। जब पाल राजाओं को पता लगा तो उन्होंने बदला चुकाने के लिये पटना तक के सारे भूभाग को अपने अधिकार में कर लिया। यद्यपि इस अशांतिमय स्थिति में भी महीपाल ने विजित राज्यों को वापस लेने का प्रयत्न किया था परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। राष्ट्रकूट, पाल तथा प्रतिहार वंश के राजा शत्रुतावश ९वीं सदी के आरम्भ से ही महोदय पर अधिकार कर सम्राट् बनना चाहते थे, परन्तु पराक्रमी महेन्द्र के राज्यकाल तक (९१० ई०) उन लोगों को अवसर नहीं मिला। राजा को कमजोर देखकर दक्षिण से राष्ट्रकट तथा पूर्व से पाल नरेश ने प्रतिहार राज्य सीमा को कम कर दिया। अरब यात्री अल-मसूदी के कथनानुसार १०वीं सदी में उत्तरी भारत में सदा झगड़ा होता रहा। प्रतिहारों की शक्ति को जानकर मुसलमान विजेता गंगा की घाटी में प्रवेश करने की हिम्मत न रखते थे। परन्तु इन सब झगड़ों से उनको भारत के अन्दर घुसने का सुअवसर मिल गया। प्रतिहार वंश में महीपाल के बाद महेन्द्रपाल (द्वितीय) तथा देवपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। गुर्जर प्रतिहार वंश के नष्ट होने पर अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये जिनमें चालुक्य, चन्देल, चेदि, परमार और चौहान आदि वंश मुख्य थे। १०वीं सदी के अन्त में प्रतिहार वंश की प्रतिष्ठा लुप्त हो गयी। इस वंश के अन्तिम राजा राज्यपाल ने (९९१ ई०) जयपाल की सहायता की जो सुल्तान सुबुक्तगीन के बढ़ाव को रोकने में प्रयत्नशील था।

उस समय भारतीय शासकों में मतभेद होने पर भी मुसलमानों को रोकने में सभी, कुछ सीमा तक, एक साथ रहा करते थे। १०वीं सदी के बाद राज-

पूतों ने स्यात् इसके महत्त्व को न समझ पाया। वे आधे मन से काम करते रहे। इस कारण संघ सेना के हार जाने पर सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद को और उत्साह मिला। १०१८ ई० के लगभग उस मुसलमान विजेता ने राज्यपाल को दण्ड देना चाहा परन्तु वह भाग गया। राज्यपाल किसी प्रकार जब अपने को बचा न सका तब महमूद के अधीन हो गया। प्रतिहार वंश की इस अप्रतिष्ठा को समीप के चन्देल राजा सहन न कर सके। उन्होंने राज्यपाल की हत्या कर उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को गद्दी पर बैठाया। महमूद को जब यह पता लगा तो वह १०१९ ई० में कन्नौज पहुँचा। उसने त्रिलोचनपाल को परास्त किया। प्रतिहारों के बाद अनेक छोटे राज्यों का उदय होने से भारतवर्ष में प्रवेश करने का अवसर मुसलमानों को मिला और आपस की फूट से लाभ उठाकर उन्होंने आक्रमण आरम्भ कर दिया। १०वीं सदी तक तो वे धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहे, परन्तु भारत के सुन्दर मैदान के और धन-धान्य के आकर्षण से वे अपने को रोक न सके। उत्तरी भारत में अनेक छोटी रियासतों के कारण संगठन तथा ठोस शक्ति की कमी हो गयी थी अतः ११वीं सदी से मुसलमान विजेता आगे बढ़ने लगे। समयान्तर में हिन्दू भारत का अन्त हो गया।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नवीं सदी में प्रतिहार वंश का प्रभुत्व सारे उत्तरी भारत––काठियावाड़ से लेकर पहाड़पुर (बंगाल) तक तथा हिमालय से लेकर नर्मदा––तक विस्तृत था। सन् ९१० से राज्य के लिये बुरे दिन आये तो भी प्रतिहार नरेश छोटी सी रियासत पर दसवीं शताब्दी के अन्त तक शासन करते रहे। जब तक इनकी शक्ति थी, अरब के मुसलमान भारत के भीतर घुस न सके। अन्त में इनका राज्य गंगा की ऊपरी घाटी में सीमित हो गया और सभी सामंतों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। गुजरात में चालुक्य, मालवे में परमार, यमुना तथा नर्मदा के बीच चन्देल और चेदि तथा राजपूताने में राजपूत रियासतें स्थापित हो गयीं। बंगाल के शासक पाल तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट नरेश पहले से ही प्रतिहार वंश के शत्रु थे। दसवीं सदी के अंत में अनेक रियासतों के पृथक्-पृथक् शासन रहने तथा संगठन न रहने से उत्तरी पश्चिमी सीमा (खैबर के मार्ग) की रक्षा छोटी-सी रियासत हिन्दूशाही के ऊपर आ गयी। जयपाल आदि राजा इस मार्ग की पूरी रक्षा न कर सके अतएव अफगानिस्तान से मुसलमानों ने आक्रमण आरम्भ कर दिया। प्रतिहार नरेश हर्षवर्धन के बाद भारत को सुसंगठित कर एकछत्र

राज्य कायम करना चाहते थे। इसमें कुछ सीमा तक उनको सफलता मिलती गयी पर थोड़े समय के बाद (११वीं सदी के आरम्भ होते) ही राष्ट्रकूट तथा पाल नरेशों की चढ़ाइयों से प्रतिहार नरेश कमजोर पड़ गये। राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। मुसलमानों ने इस अवसर से लाभ उठाया—सम्पूर्ण भारत को धीरे-धीरे रौंद डाला। प्रतिहारों के बाद ही हिन्दू भारत का अन्त सामने आ गया। भिन्न-भिन्न शासक पृथक्-पृथक् जिम्मेदारी का अनुभव करते रहे। वे संघ शासन के समर्थक न थे। उनपर अपनी रियासत की रक्षा का भार था परन्तु समीप की राज्यसीमा की रक्षा की उन्हें चिन्ता न थी। सीमा-नीति तथा संघ-प्रणाली के अभाव के कारण प्रतिहारों के बाद सिन्ध के मार्ग से अरब तथा खैबर के दर्रे से पठान लोग भारत में घुसने लगे। सुलेमान तथा अल-मसूदी के वर्णन से इसी बात का समर्थन होता है कि प्रतिहार राजा शक्तिशाली थे तथा अरबवालों के परम शत्रु माने जाते थे, इस कारण थार के रेगिस्तान से पूरब अरबवाले भारत के मैदान पर चढ़ाई न कर सके। आक्रमण तभी सम्भव हुआ जब गुर्जर प्रतिहार वंश का अन्त हो गया और देश के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे।

गहड़वाल शासन

यह कहा जा चुका है कि ११वीं सदी के आरम्भ होते ही प्रतिहार वंश का नाश हो गया था और उसके सामंत स्वतंत्र हो गये थे। विभिन्न राज्यों की प्रशस्तियों से इसके प्रमाण मिलते हैं। परमार राजा भोज के वसाही ताम्रपत्र में यह उल्लेख पाया जाता है कि राजा ने कन्नौज पर चढ़ाई की थी। यही नहीं, चेदि वंश के शासकों ने काशी पर अधिकार कर लिया था। अन्त में महमूद की चढ़ाई से प्रतिहार वंश की बची-बचायी प्रतिष्ठा जाती रही। पंजाब के मुसलमान गवर्नर ने बनारस तक आक्रमण कर दिया था। इस अराजकता के समय चन्द्रदेव ने, ११वीं सदी के अन्त में, कन्नौज में ये राज्य की स्थापना की जिसे गहड़वाल वंश का नाम दिया जाता है। गोपाल नाम का व्यक्ति कान्यकुब्ज पर शासन कर रहा था। चन्द्रदेव के लेखों में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि राजा के लिये उल्लेखित है। इससे प्रकट है कि १०८५ ई० के लगभग चन्द्रदेव शक्तिशाली राजा बन गया था। उसने प्रजा को मुसलमानों के आक्रमण के डर से मुक्त किया। पवित्र तीर्थ-स्थानों—काशी, प्रयाग, अयोध्या आदि—की रक्षा की। इस प्रकार उसने अपनी शक्ति से हिन्दू धर्म तथा प्रजा की रक्षा की। काशी तक मुसलमानों की चढ़ाई

हो गयी थी। हिन्दू जनता के धर्म पर आघात हो रहा था अतएव उन लोगों ने चन्द्रदेव का स्वागत किया। उत्तर प्रदेश में उसके राज्य का विस्तार हुआ। किसी भी राजा ने गहड़वाल वंश की उन्नति में बाधा नहीं डाली। उसके पौत्र गोविन्दचन्द्र का नाम इतिहास में परम विख्यात हुआ। ११०९ ई० के लगभग गजनी के मुसलमान शासक ने भारत पर फिर आक्रमण किया। तब गोविन्द-चन्द्र ने, राजकुमार की अवस्था में ही, उसका सामना किया था और महमूद के सैनिकों को हार माननी पड़ी। राजा होने पर राज्यसीमा बढ़ाने की इच्छा से गोविन्दचन्द्र देव ने मगध तथा पूर्वी मालवे को जीत लिया। उसके मार्ग में कोई बाधक न हो सका, प्रत्युत गुजरात तथा काश्मीर के राजाओं ने उससे मैत्री स्थापित की। गोविन्दचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् उसके वंशज गहड़वाल वंश की प्रतिष्ठा को स्थिर न रख सके। उसके पुत्र विजयचन्द्र तथा पौत्र जयचन्द्र के समय में मुसलमान राजाओं का आक्रमण जारी रहा। विजयचन्द्र ने तो लाहौर के गवर्नर अमीर खुसरू की सेना को परास्त कर मुसलमानों की हिम्मत को पस्त कर दिया था परन्तु उनके लगातार आक्र-मणों को कोई सँभाल न सका। विजयचन्द्र की कमजोरी के कारण चोहान-वंशी राजपूत राजा विग्रहराज ने दिल्ली का भाग गहड़वालों से छीन लिया था। एक सामंत के स्वतंत्र होकर शत्रु के समान कार्य करने का एकमात्र कारण यही था कि गहड़वाल राजा कमजोर पड़ गये थे। अतएव दोनों वंशों में शत्रुता स्वाभाविक थी। पश्चिमी सीमा से दिल्ली का भू-भाग हट जाने के अतिरिक्त विजयचन्द्र ने अपने राज्य को स्थिर रक्खा परन्तु जयचन्द्र के समय चौहान तथा चन्देलों ने अधिक जोर पकड़ लिया और आपस में वैमनस्य बढ़ता ही गया। यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' में गहड़वाल राजा की विजय का वर्णन मिलता है परन्तु सम-सामयिक लेखों में उसका उल्लेख तक नहीं पाया जाता। जयचन्द्र ११७० ई० में गद्दी पर बैठा परन्तु उसके बीस वर्ष के अन्दर ही सारा भूभाग मुसलमानों के हाथ में चला गया। यह सर्वप्रसिद्ध है कि जयचन्द्र ने अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर किया था जिसमें चौहान राजा पृथ्वीराज, उत्सव के बीच ही में, संयोगिता को ले भागा था। इस कारण दोनों वंशों में शत्रुता बढ़ती गयी, यहाँ तक कि शहाबुद्दीन गोरी ने जब पृथ्वीराज को ११९१ में परास्त किया, उस समय जयचन्द्र ने (अपने भविष्य को न सोचकर) चौहान राजा की सहायता तक न की। उसके चित्त में यह विचार काम कर रहा था कि मेरी सत्ता पृथक् है। वह

एक स्वतंत्र राजा की प्रतिष्ठा में भूला हुआ था। उसने पृथ्वीराज के अन्त का सहर्ष स्वागत किया। वह मूर्खतावश यह समझने लगा था कि गहड़वाल वंश के शत्रु चौहान लोगों का नाश हो जाने पर वह सारे उत्तरी भारत का स्वामी बन जायगा। दो वर्ष के बाद ही (११९४ ई०) उसका सपना टूट गया। शहाबुद्दीन गोरी ने कन्नौज के समीप युद्ध में जयचन्द्र को मार डाला। इस तरह बारहवीं सदी के अन्त में गंगा-यमुना का द्वाबा मुसलमानों के अधिकार में चला गया। जयचन्द्र के पितामह गोविन्दचन्द्र के सन्धि-विग्रहिक मंत्री लक्ष्मीधर ने गहड़वाल राजाओं के लिये क्रियाकल्पतरु नामक राजनीति ग्रंथ की रचना की थी। गोविन्दचन्द्र के कहने पर राजधर्म के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हुए लक्ष्मीधर ने उस ग्रंथ को लिखा था परन्तु उसका वास्तविक उपयोग पिछले नरेश न कर सके। यह बड़े आश्चर्य की बात है। जयचन्द्र ने कन्नौज को छोड़ कर काशी को अपनी राजधानी बनाया था। वहीं पर उसके दरबार में महाकवि श्रीहर्ष रहा करते थे। कान्यकुब्ज-राजा की प्रतिष्ठा तो थी ही इसलिये श्रीहर्ष ने उसके दरबार में रहना पसंद किया। उसने राजसभा में रहकर 'नैषधचरित' तथा वेदान्त ग्रंथ 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' की रचना की थी। कहा जाता है कि उसने अन्य ग्रंथ भी लिखे थे। श्रीहर्ष प्रकाण्ड पण्डित तथा योगी भी था। सम्भवतः उसके प्रभाव में आकर जयचन्द्र राजनीति में कम रुचि रखता था और मुसलमानों की चढ़ाई की सूचना पाकर वह शांतचित्त बैठा रहा। चौहान राजा पृथ्वीराज का परास्त होना जानकर तथा अपनी बरबादी की प्रतिध्वनि सुनकर भी जय-चन्द्र चुपचाप बैठा रहा।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि कान्यकुब्ज की ख्याति के कारण ही इसपर अधिकार करने के लिए राष्ट्रकूट, पाल तथा प्रतिहारों में युद्ध होता रहा। प्रतिहार वंश के राज्य में तो मुसलमान गंगा की घाटी में प्रवेश न कर सके; परन्तु महमूद के हाथों ही प्रतिहारों का अन्त हुआ और शहा-बुद्दीन गोरी ने गहड़वाल शासकों का नाश कर कान्यकुब्ज की प्रतिष्ठा तथा राज्यवंश की इतिश्री कर दी। जैसा कहा गया है कि कन्नौज पर अधि-कार करने से विजेता की दुंदुभि सारे उत्तरी भारत में बज जाती थी। उसी प्रकार मुसलमानों की विजय होते ही सिन्ध से बंगाल तक रास्ता निष्कंटक हो गया और थोड़े ही समय में उत्तरी भारत पर उनका राज्य फैल गया।

चौथा अध्याय

चन्देल तथा कलचूरी राजवंश

यह कहा जा चुका है कि १०वं सदी तक उत्तरी भारत में प्रतिहार शासकों का बोलबाला था। उ.के स्थान पर अनेक छोटी छोटी रियासतें कायम हो गयीं। यमुना के दक्षिण बुन्देलखण्ड में एक नये राज्य का उदय हुआ जिसे चन्देलवंश कहते हैं। इस वंश को जेजाकभुक्ति (वर्तमान बुन्देलखण्ड) के चन्देल का नाम भी दिया जाता है। सम्भवत: इस वंश में जेजा नामक कोई राजा पैदा हुआ था, उसी के नाम पर सारे राज्य का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। यह तो निश्चित है कि प्रतिहार वंश का अन्त होने पर चन्देलों की शक्ति बढ़ गयी और वे स्वतंत्र शासक बन गये परन्तु सर्वप्रथम ये प्रतिहार राजाओं के सामंत के रूप में शासन करते थे।

इस वंश का सर्वप्रथम व्यक्ति नानक था जो नागभट्ट द्वितीय (८१५-३३ ई०) प्रतिहार का सामंत था। कई पीढ़ियों तक चन्देल उसी सामंत के रूप में शासन करते रहे। १०वीं सदी तक तो प्रतिहार अपनी शक्ति की चोटी पर थे अत: उन दिनों किसी तरह के स्वतंत्र शासक होने की आशा भी नहीं की जा सकती। जनश्रुति तथा लेखों के आधार पर पता चलता है कि नानूक खजुराहो में रह कर कार्य करता था। प्रशस्तिकारों ने नानूक को नृप तथा महीपति की पदवी से सम्बोधित किया है परन्तु इसका अर्थ यही है कि वह एक ऐतिहासिक पुरुष था, अन्यथा उस पदवी की कोई सार्थकता नहीं है। नानूक के पौत्र जयशक्ति या विजयशक्ति के नाम से बुन्देलखण्ड का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा था। यह गुर्जर प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल का (८९३-९०७ ई०) सामंत था। परन्तु कई पीढ़ियों के बाद हर्ष तथा यशोवर्मन् चन्देल के समय में राज्य की प्रधानता हो गयी। क्रमश: उनकी शक्ति बढ़ने लगी तथा इसके लिये चन्देलों को अवसर भी मिल गया। उन दिनों प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट वंशों में वर्षों से युद्ध होता चला आ रहा था। ९१५ ई० के बाद इसका विनाशक रूप हो गया। राष्ट्रकूट इन्द्र (तृतीय) ने उज्जैनी पर अधिकार करके उत्तरी भारत को रौंद डाला था। भारत की कथित राजधानी कन्नौज

भी नष्ट भ्रष्ट की गयी। प्रायः बीस वर्ष तक गंगा-यमुना के द्वाब का भू-भाग दक्षिण भारत के शासक के हाथों में रहा। प्रतिहारों की दुःखद दशा को देखकर उसके सामंतों ने सहायता की जिससे प्रतिहार राज्य फिर से वापस मिल जाय। उस दुःखद घटना का एक कारण प्रतिहारवंश का गृह-कलह भी था। ९१० ई० के बाद (महेन्द्रपाल की मृत्यु के पश्चात्) भोज द्वितीय तथा महीपाल में गद्दी के लिये झगड़ा छिड़ गया। कलचूरी भोज को चाहते थे परन्तु चन्देलों की सहायता से महीपाल राज्य का मालिक बना। इस झगड़े में चन्देल हर्ष ने प्रतिहार राजा की पर्याप्त सहायता की। राष्ट्रकूट इन्द्र से, युद्ध में खोयी हुई, श्री को वापस लेने में हर्ष चन्देल ने महीपाल की अधिक सहायता की थी। इसीलिये खजुराहो के एक लेख में वर्णन मिलता है कि 'पुनर येन श्रीक्षितिपालदेव (महीपाल) नृपतिः सिंहासने स्थापितः' —हर्ष ने महीपाल को राजगद्दी पर बिठाया। हर्ष के पुत्र यशोवर्मन् के समय में चन्देलवंश की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी और वह सामंतों में प्रधान शासक बन गया। इस वंश के लेखों से पता चलता है कि धंग के शासनकाल (९५४ ई०) तक चन्देल प्रतिहार के सामंत रूप में कार्य करते रहे। परन्तु इसका अर्थ यह था कि वास्तव में चंदेल स्वतंत्र हो गये थे पर दिखावे के लिये प्रतिहार के सामंत थे। आश्चर्य तो इस बात का है कि खजुराहो के लेख यह प्रमाणित करते हैं कि हर्ष चन्देल ने अन्य प्रांत से भू-भाग को जीतकर चन्देल राज्य की सीमा बढ़ायी थी। उसने राजनीति के कारण स्वयं चौहान राजकुमारी से शादी की और त्रिपुरी के कलचूरी राजा लक्ष्मीकर्ण से चंदेल राजकुमारी का ब्याह किया। इस तरह प्रतिहारों के बिना विरोध किये हर्ष चुपचाप अपने राज्य की श्रीवृद्धि में लगा था और उसे सफलता भी मिली। इसके राजकुमार ने प्रतिहारों के कालिंजर किले को जीत लिया था। कुछ विद्वानों का कहना है कि राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के जीतकर लौट जाने के बाद यशोवर्मन् ने राष्ट्रकूटों से कालिंजर को छीना था। इस चन्देल राजा की विजय की धूम सर्वत्र फैल गयी थी। उसने गौड़, कोसल, मालव तथा चेदि सीमा में भी आक्रमण किया था। प्रशस्ति में कुछ अत्युक्तिपूर्ण कथन मिलता है कि यशोवर्मन् का प्रताप हिमालय से मालवा तथा काश्मीर से बंगाल तक फैल गया था। परन्तु उस पर अक्षरशः विश्वास नहीं किया जा सकता। वह प्रतिहारों का परम शत्रु तथा आतंक पैदा करनेवाला व्यक्ति हो गया था। उसने विष्णु भगवान् का एक विशाल मन्दिर बनवाया था।

ऊपर कहा गया है कि १०वीं सदी तक चन्देल, प्रतिहारों के सामंत के रूप में, शासन करते रहे। यशोवर्मन् के प्रभाव तथा आक्रमणों से इसकी वास्तविकता नष्ट हो जाती है। इसके पुत्र धंग ने (९५०-१००२ ई०) अपने को प्रतिहार राजा विनायकपाल द्वितीय का सामंत बतलाया है। यदि इस लेख पर विश्वास न किया जाय तो भी अन्य प्रशस्तियों में वर्णन मिलता है कि धंग ९५४ में एक स्वतंत्र शासक हो गया था। जिस कालिंजर पर अधिकार रखने के लिये कलचूरी, प्रतिहार, राष्ट्रकूट तथा चन्देल शासक इच्छुक थे वह धंग के पूर्ण अधिकार में आ गया था। इसलिये वह लेखों में 'कालिंजराधिपति' कहा गया है।

धंग मध्यभारत का एक शक्तिशाली राजा हो गया था। उसने प्रयाग तथा काशी तक गंगा की घाटी में प्रवेश किया था। उसकी प्रशस्तियों का अध्ययन यह बतलाता है कि धंग ने कान्यकुब्ज नरेन्द्र को युद्ध में परास्त किया था। चन्देल राजा ने प्रतिहार-वंश का अन्त तो कर ही दिया था परन्तु नाममात्र के शासक उस वंश में राज्य करते रहे। सम्भवतः दक्षिण भारत पर भी उसने आक्रमण किया था। इन बातों का विचार कर उसकी शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। धंग की प्रबल इच्छा थी कि उत्तर-भारत में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया जाय पर सहायक न मिलने से वह असफल रहा। उन दिनों भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। हिन्दू राजा लोग मिलकर, संघ की तरह, काम करने में असमर्थ थे। परन्तु फिरिश्ता का कथन है कि कालिंजर के चंदेल राजा धंग ने शाही राजा जयपाल को मुसलमानों के विरुद्ध सहायता भेजी थी। अनंगपाल के हार जाने पर गंगा-यमुना की घाटी मुसलमानों के लिये शांति का स्थान हो गया तथा पूर्व के लिये सुगम मार्ग मिल गया।

धंग का समय चन्देल वंश के लिये सब से अधिक उन्नति का काल था। उसके समय में शान्ति थी तथा राज्य धन धान्य से पूर्ण था। १० तथा ११वीं सदी की स्थापत्य कला में खजुराहो का मन्दिर उत्तरी भारत में सब से उत्तम समझा जाता है। इनका निर्माण चन्देल शासन के वैभव का द्योतक हैं। धंगकालीन मन्दिर, कला तथा सुन्दरता की दृष्टि से, उत्तम माने जाते हैं। भगवान् शिव (शम्भु) का मरकतेश्वर मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार धंग का शासन प्रताप, वैभव तथा श्री से युक्त था।

धंग के उत्तराधिकारी गण्ड ने १००१-२ ई० में राज्य का भार ग्रहण

किया था। यद्यपि लेखों में उसकी विजय-पताका के फहराने का वर्णन मिलता है; परन्तु इसमें सन्देह किया जाता है। वह अत्युक्ति से भरा प्रकट होता है। कुछ वर्षों के बाद, पिता की तरह, गण्ड ने भी मुसलमानों की चढ़ाई को रोकने के लिये (शाही) अनंगपाल का साथ दिया था। इतना ही नहीं, मुसलमान विजेता कन्नौज को जीतकर गण्ड को दबाने स्वयं दक्षिण की ओर गया था। जब महमूद ने प्रतिहार राज्यपाल को अपने वश में कर लिया तो गण्ड ने अपने पुत्र विद्याधर को कन्नौज के राजा राज्यपाल को दण्ड देने के लिये भेजा था। राजा की मृत्यु की खबर पाकर महमूद गंड को दबाने के लिये खजुराहो की तरफ आया। महमूद चंदेल राजा के देशप्रेम की भावना से परिचित था। राज्यपाल के आत्म-समर्पण करने से क्रोधित होकर ही गण्ड ने अपने पुत्र को उसे मारने के लिये भेजा। उसने स्वयं मुसलमान सेना को गंगा की घाटी में रोकने का प्रयत्न किया था पर वह सफल न हो सका। महमूद ने १०२२ ई० में कालिंजर को जीत लिया; परन्तु राजा गण्ड भयभीत होकर महमूद की शरण में चला गया। इस कारण सुल्तान ने कालिंजर का किला वापस कर दिया और जीत का धन लेकर लौट गया। यह दोनों के बीच एक प्रकार की सुलह कही जा सकती है।

चन्देल राजा गण्ड के पश्चात् विद्याधर, विजयपाल तथा देववर्मन् नाम के शासक हुए परन्तु उनके समय की कोई उल्लेखनीय घटनाएँ नहीं हैं। लेखों में उनको परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर कालिंजराधिपति की महान् पदवी से विभूषित किया गया है। परन्तु उनके कारनामों से इस पदवी की सार्थकता नहीं मालूम पड़ती। कई स्थानों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं उनमें भूमिदान का वर्णन मिलता है।

गण्ड के पश्चात् कीर्तिवर्मन् का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। लेखों से पता चलता है कि वह विजयपाल का पुत्र था। इससे पूर्व ही चन्देल शासकों के बुरे दिन आ गये थे। चेदि राजा गांगेयदेव तथा लक्ष्मीकर्ण ने चन्देल राज्य पर पूर्ण प्रभाव स्थापित कर लिया था। परन्तु कीर्तिवर्मा ने अपने सामंत गोपाल के सहयोग से चन्देलों की राज्यश्री को लौटा लिया। उसके आरम्भिक जीवन में लक्ष्मीकर्ण चेदि राजा का ही प्रभाव व्याप्त था। लेखों तथा 'प्रबोधचन्द्रोदय' काव्य के वर्णन से पता चलता है कि कीर्तिवर्मन् अन्त में चेदि के प्रभाव को मिटा कर अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। चेदि राजा कर्ण के प्रताप को मिटाने में सामंत गोपाल का बड़ा

हाथ था। सम्भवतः यह घटना ११वीं सदी के अन्तिम भाग की है। लेखों के अतिरिक्त चन्देल सिक्के इस बात को प्रमाणित करते हैं कि कीर्तिवर्मन् ने ही चन्देल राज्य को कलचूरी नरेश के पंजे से छुड़ाया था। मुद्राशास्त्र-वेत्ताओं का कहना है कि कीर्तिवर्मन् ने सर्वप्रथम अपने वंश में सोने का सिक्का चलाया था जो कलचूरी गांगेयदेव चेदि के सिक्कों से मिलता-जुलता है। इसका अर्थ यह है कि मध्यभारत (बुंदेलखंड) में कीर्तिवर्मन् से पहले चेदि वंश के सिक्के चलते थे। जब चन्देल राजा कीर्तिवर्मन् ने उस भाग को जीत लिया तो प्रचलित सिक्कों के अनुकरण पर अपना सिक्का चलाया। इससे पहले किसी चन्देल राजा ने सोने का सिक्का तैयार नहीं कराया था। सिक्कों के आधार पर ही कीर्तिवर्मन् के उत्तराधिकारी सलक्षणवर्मन् का नाम मिलता है। इस राजा के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है परन्तु इस राजा के प्रचलित सोने के सिक्के (द्रम) तथा ताँबे के द्रम से अनुमान किया जाता है कि इसने कुछ समय तक अवश्य राज्य किया होगा। अजयगढ़ के लेख में वर्णन आता है कि सलक्षणवर्मन् ने मालवा के परमार तथा चेदि राजा यशःकर्ण को युद्ध में नीचा दिखलाया था। सम्भव है, इसने शत्रुओं को परास्त किया हो। इसके पश्चात् चंदेल-वंश में दो शासक राज्य करते रहे जिनके समय की किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं मिलता। १२वीं सदी के आरम्भ में मदनवर्मन् नाम का राजा गद्दी पर बैठा जिसके लेख तथा सिक्कों के आधार पर मुख्य घटनाओं का वर्णन किया जाता है। इसने शक्ति संचय करके गुजरात के शासक सिद्धराज पर चढ़ाई की थी तथा चेदि राजा (गया कर्ण) को परास्त किया था। काशी जीतकर गहड़वाल राजा को मित्रता स्थापित करने के लिये वाध्य किया। इसके लेखों के वर्णन से पता लगता है कि चन्देल राजाओं ने कालिंजर-विजय को इस प्रकार सम्बन्धित किया जिससे उसकी महत्ता प्रकट होती है। इसका कारण यह था कि कालिंजर दुर्ग पर अधिकार गुर्जर प्रतिहार, राष्ट्रकूट तथा चन्देलों ने क्रमशः स्थापित किया था। इसकी स्थिति ही ऐसी थी जिससे कालिं-जर के किले पर कब्जा करना शासक के लिये आवश्यक था। मदनवर्मन् के लिये भी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर श्री कालिं-जराधिपति' की महान् पदवी का उल्लेख पाया जाता है। लेखों के सिवा मदनवर्मन् के सिक्के इस बात की पुष्टि करते हैं कि उसके समय में चन्देलों की खोयी लक्ष्मी आ गयी थी। इसके सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्के राज्य

की शान्ति तथा वैभव के द्योतक हैं। मदनवर्मन् के शान्तिमय शासन (११२९–११६३ ई०) के बाद इतिहास में प्रसिद्ध राजा परमर्दि (पर-माल) चंदेल राज्य का उत्तराधिकारी हुआ (... मदनवर्मन् पादानुध्यातो परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर कालिंजराधिपति परमर्दिदेव)। इसके जीवन की दो बड़ी घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है। पृथ्वीराज चौहान के मदनपुरवाले लेख से पता चलता है कि १२वीं सदी के अन्त में परमर्दि को चौहान राजा पृथ्वीराज ने हराया था। परन्तु थोड़े समय के बाद इसने महोबा तथा बुंदेलखण्ड के विजित स्थानों को पथ्वी-राज से वापस ले लिया था। वर्तमान समय के भाट द्वारा कथित आल्हा-ऊदल का गान इसी युद्ध से सम्बन्धित कहा जाता है। इसके ऐतिहासिक विवेचन में न जाकर यह कहना पर्याप्त है कि परमर्दि (परमाल) ने पृथ्वीराज से हार न मानी। लेकिन १२०३ ई० में महोबा पर कुतुबुद्दीन ऐबक के आक्रमण को वह रोक न सका। कालिंजर पर मुसलमानों के झंडे फहराने लगे। परमाल को यवनों की बातें माननी पड़ीं लेकिन उनके कार्यान्वित होने से पहले वह मर गया था। यहां से चन्देलों का अन्त हो गया।

मध्यकालीन इतिहास में चन्देल शासकों का एक प्रधान स्थान था। इस वंश के राजाओं ने हिन्दू संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न किया था। धंग, गंड तथा विद्याधर ने बाहरी आक्रमण से देश को बचाने में सहयोग दिया। शाही राजाओं को सेना द्वारा सहायता दी, पर बुरे दिन देखने थे, इससे हिन्दू राजाओं का उद्योग कारगर न हो सका। उसके कितने ही कारण थे। जहाँ तक चन्देल राजाओं का क्षेत्र था, उन्होंने देश को समृद्ध बनाया। बुंदेल-खण्ड में खजुराहो, कालिंजर तथा महोबा आज भी इनकी कीर्ति का गान करते हैं। शिव के परम भक्त होकर इन्होंने सुन्दर मन्दिरों का निर्माण कराया। कीर्तिवर्मन् के राजकवि कृष्ण मिश्र ने 'प्रबन्धचन्द्रोदय' में चंदेलों की विजययात्रा का वर्णन दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि बुंदेल-खण्ड के बनाने का श्रेय चन्देल राजाओं को ही है।

मध्य प्रांत के कलचूरी नरेश

९वीं सदी में मध्यप्रांत के जबलपुर (प्राचीन डाहल) प्रदेश में एक वंश राज्य करता था जो अर्जुन के वंश से अपना सम्बन्ध जोड़ता रहा। पुराणों में वर्णित हैहयवंश की एक शाखा नर्मदा घाटी की माहिष्मती (मान्धाता) में राज्य करती थी। परन्तु यह कहना कठिन है कि मध्य-

प्रांत के कलचरी (हैहय-वंश) उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में स्थित कलचूरी से सम्बन्धित थे या नहीं । कसया के एक लेख से पता चलता है कि इस वंश में सोढ़देव आदि कई राजा हुए जो प्रतिहारों के अधीन होकर शासन करते रहे। वे युद्ध में सदा प्रतिहार शासक की ओर से सम्मिलित होते थे। पीछे चन्देल तथा प्रतिहार युद्ध के अशान्तिमय वातावरण में कलचरी लोगों ने कुछ स्वाधीनता का अनुभव किया तो भी इस शाखा को किसी प्रकार प्रधानता न मिल पायी। सम्भव है कि ये आगे बढ़ने पर गुर्जर प्रतिहारों के दबाव से डर कर मध्यप्रांत में चले गये हों।

डाहल (डहाल, वर्तमान जबलपुर) शाखा के कलचूरी वंश का संस्थापक कोकल्ल माना जाता है। यद्यपि उसके शासनकाल का कोई लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ परन्तु यह सच है कि इसी राजा के कारण कलचूरी वंश का प्रभाव बढ़ा। रण ने त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाया। १०वीं सदी के प्रारम्भ में कोकल्ल का उदय हुआ पर थोड़े ही दिनों में उसका प्रताप सर्वत्र फैल गया। अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिये उसने तत्कालीन राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया ; अपनी शादी चन्देल राजकुमारी से की तथा अपनी पुत्री राष्ट्रकूट वंश में ब्याही थी। इस सम्बन्ध के कारण कठिन परिस्थितियों में कोकल्ल ने अपने जामाता को राष्ट्रकूट-चालुक्य युद्ध के समय त्रिपुरी में रक्खा। गुर्जर प्रतिहारवंश के गृहयुद्ध के समय भोजदेव ने कलचूरी राजा की सहायता ली थी। बनारस के एक लेख से इस बात की पुष्टि होती है। यद्यपि अन्य लेखों में वर्णित कोकल्ल द्वारा पृथ्वी-विजय की वार्ता अत्युक्तिपूर्ण है और उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता परन्तु यह निश्चित है कि जबलपुर प्रदेश पर उसका राज्य विस्तृत था। उसके पश्चात् कई पीढ़ियों तक कलचूरी तथा राष्ट्रकूट वंशों में वैवाहिक सम्बन्ध चलता रहा। कोकल्ल के वंशजों ने अपनी पुत्रियों की शादी राष्ट्रकूट राजकुमारों से की थी, इस कारण उनका राजनैतिक सम्बन्ध बना रहा। प्रायः सौ वर्षों तक इस चेदि वंश में कोई शक्तिशाली शासक न हुआ। ११वी सदी के आरम्भ में कोकल्ल द्वितीय के पुत्र गांगेयदेव (१०१९–१०४१ ई०) का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसने चारों ओर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा राज्य का विस्तार किया। मुसलमान लेखकों तथा प्रशस्तियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गांगेयदेव ने त्रिपुरी के बाहर काशी तक अपनी राज्य-सीमा फैलायी थी। कर्ण के लेखों में यहाँ तक वर्णन मिलता है कि

गांगेयदेव ने १०१९ ई० के लगभग कुंतल तथा उड़ीसा (उत्कल) पर भी आक्रमण किया था। चंदेल प्रशस्तियाँ यह बतलाती हैं कि काशी तथा प्रयाग जीतकर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। नैपाल से रामायण की एक हस्तलिखित प्रति मिली है जिसकी अन्तिम पंक्तियों (colophon) में लिखा है कि गांगेयदेव तिरहुत का राजा था। इस तरह उसके राज्य-विस्तार की जानकारी प्राप्त की जाती है। इसके समय में सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्के चलाये गये थे। इस वंश में सर्वप्रथम गांगेयदेव ने सिक्के चलाये जिससे प्रकट होता है कि चेदिवंश में यही एक प्रधान राजा था। शान्तिमय वातावरण में वस्तुविनिमय के लिये मुद्रानिर्माण राजा के प्रताप तथा शक्ति का द्योतक माना जाता है। यही नहीं, गांगेयदेवकालीन वैभव का पता उस समय की स्थापत्य कला से भी मिलता है। राजा ने भगवान् शिव के लिये एक विशाल मन्दिर बनवाया था। उसके उत्तराधिकारी कर्ण के लेख में वर्णन मिलता है कि गांगेयदेव ने अपनी सौ पत्नियों के साथ प्रयाग में मक्ति प्राप्त की थी। सम्भवत: १०४१ ई० के लगभग वह मर गया और सभी स्त्रियाँ साथ में सती हो गयी हों। विद्वानों का अनुमान है कि परमार भोज का उदय होने पर चेदि राजा का अन्त हो गया था तथा उसी ने कलचूरी राजा को परास्त किया था।

गांगेयदेव का उत्तराधिकारी लक्ष्मीकर्ण कलचूरी-वंश में सब से प्रभावशाली राजा था। भारतीय जनश्रुति तथा लेखों में कर्ण को शक्तिशाली विजेताओं में गिना जाता है। 'रासमाला' तथा 'प्रबंधचिन्तामणि' ग्रंथों में लक्ष्मीकर्ण की विजय का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इस राजा ने चालुक्य भीम की सहायता लेकर धारा नगरी के परमार राजा भोज को परास्त किया था। कहा जाता है कि कर्ण ने मगध पर आक्रमण कर बौद्ध मन्दिरों तथा बिहारों को नष्ट किया था। अपने पिता की तरह काँगड़ा से लेकर काशी तक के प्रांत इसके अधिकार में थे तथा कन्नौज के प्रतिहार राजा इसके अधीन होकर राज्य करते रहे। तत्कालीन चंदेल राजा को इसने अछूता नहीं छोड़ा परन्तु कुछ वर्ष बाद कीर्तिवर्मन् के हाथों पराजित हुआ। परमार तथा चन्देल सत्ता को दबाकर लक्ष्मीकर्ण मध्यभारत का वहुत बड़ा प्रतापी शासक बन बैठा। उसके लेख प्रयाग तथा काशी तक मिलते हैं और उसका सम्बन्ध उत्तरी भारत के सभी राजाओं से था। कर्ण ने त्रिकलिंगाधिपति की पदवी धारण की थी। इस प्रकार पश्चिम में माही नदी से हुगली

के मुहाने तक तथा उत्तर में गंगा-यमुना की घाटी से महानदी और ताप्ती तक उसका राज्य विस्तत हो गया था। इससे पता चलता है कि गुर्जर प्रतिहारों के बाद क्रमशः चन्देल तथा परमार नरेश जो अधिकारपूर्ण शासन स्थापित कर चके थे उसी सत्ता को लक्ष्मीकर्ण ने भी ग्रहण किया था। बुरे दिन आने पर कर्ण चंदेलों के हाथों हराया गया। मालवा स्वतंत्र हो गया और परमार-लक्ष्मी को उदयादित्य ने शत्रुओं से छीन लिया। चालुक्य राजा भीम से भी मैत्री जाती रही, इस कारण सहायता न मिलने से युद्ध में कर्ण पराजित हुआ। प्रायः १०८७ के लगभग महादेव पर्वत के समीप चेदि राज्य सीमित हो गया। तात्पर्य यह है कि ११वीं सदी की तीसरी चौथाई में लक्ष्मीकर्ण का राज्य समाप्त हो गया। कर्ण ने शैव होने के नाते काशी में कर्णमेरु नामक मन्दिर बनवाया था। इसके लेख भी शिव-प्रार्थना से प्रारम्भ किये गये हैं जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। उसने हूणवंश की राजकुमारी आवल्लदेवी से विवाह किया जिससे यशःकर्ण नाम का पुत्र पैदा हुआ था। वही लक्ष्मीकर्ण का उत्तराधिकारी हुआ। यद्यपि यशःकर्ण ने पैतृक राज्य को स्थिर रखने का प्रयत्न किया परन्तु चेदिवंश की गिरती दशा को सँभाल न सका। उसके शासनकाल में (१०७३–११२० ई०) परमार राजा ने पुरानी शत्रुता का बदला लिया और चेदि राजधानी त्रिपुरी पर चढ़ाई कर दी। इसी प्रकार उत्तर में गहड़वाल नरेशों ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर काशी को जीत लिया और कलचरी-सीमा से अन्य प्रदेशों को छीन कर अपना राज्य बढ़ाया।

कलचूरीवंश का अन्तिम राजा गयाकर्ण था जो लक्ष्मीकर्ण के बाद गद्दी का मालिक बना। उसके समय का केवल एक लेख जबलपुर के पास मिला है जिसमें शिव-मन्दिर के निर्माण का वर्णन पाया जाता है। इसने परमार राजकुमारी से शादी की और वैवाहिक सम्बन्ध से राज्य की शक्ति बनाये रखने का प्रयत्न किया था तो भी उसके राज्य की हालत बिगड़ती गयी। उत्तरी भाग (गंगा-यमुना घाटी) में अच्छे प्रदेशों पर गहड़वाल राजाओं ने अधिकार कर लिया था तथा काशी प्रांत चन्देल लोगों के हाथ में चला गया। मदनवर्मन् चन्देल (११२९–६३ ई०) का प्रभाव बेतवा तक व्याप्त था, जिसका विवरण मऊ के लेख में पाया जाता है। उस लेख में स्पष्ट लिखा है कि मदनवर्मन् से पहले चेदि राजाओं का प्रताप सर्वत्र फैला था परन्तु इसी के बाद कलचूरी वंश का अन्त हो गया। मदनवर्मन् के सिक्के

तमाम बुंदेलखण्ड से मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि चेदि शासन उस भाग से हट गया था। उसी स्थिति में चन्देल सिक्के वहाँ प्रचलित हो पाये थे। उत्तरी भारत में गहड़वालों तथा चन्देलों के कारण कलचूरी राज्य क्षीण होता गया और दक्षिण कोशल में चेदिवंश की एक शाखा ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इन कारणों से १२वीं सदी के आरम्भ में ही कलचूरी वंश का अन्त हो गया। उस वंश के अन्तिम राजाओं के लेखों में इस अवनति का आभास तक नहीं मिलता तथा उनमें सम्राट् की महान् पदवियों का उल्लेख मिलता है। इनपर विश्वास नहीं किया जा सकता जो अत्युक्ति के रूप में हैं।

पाँचवाँ अध्याय

पाल तथा सेन-राजवंश

प्राचीन काल में बंगाल के दो विभिन्न राज्यों का नाम मिलता है। गौड़ शब्द से पश्चिमी तथा उत्तरी-पश्चिमी बंगाल का बोध होता है। पाणिनि के सूत्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गौड़ का नाम मिलता है। इसी के समीप मध्य तथा पूर्वी बंगाल का सम्मिलित भूभाग दूसरा राज्य समझा जाता था जो वंग के नाम से प्रसिद्ध था। धर्मसूत्रों में इस वंग प्रदेश का नाम मिलता है। इन दो राज्यों से सम्बन्धित बंगाल में दो पृथक् राजवंश शासन करते थे। बंगाल का भविष्य मगध के साथ अधिकतर सम्बद्ध रहा। मगध के मौर्यों तथा गुप्तवंशों का राज्य बंगाल तक विस्तृत था। हाँ, कुषाणों के प्रयत्न करने पर भी काशी से आगे उनका राज्य न फैल सका। गुप्तवंश की अवनति होने पर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। अतएव छठी सदी में गुप्तों के स्थान पर गौड़ में धर्मादित्य, गोपचन्द्र तथा समाचारदेव नामक राजा राज्य करते रहे। इन राजाओं के सोने के भद्दे सिक्के मिले हैं। इस आधार पर इनका अस्तित्व स्थिर किया जाता है, अन्यथा छठी सदी में बंगाल का अधिक इतिहास अन्धकार में ही रहा। कन्नौज के राजा मौखरि ईशान वर्मा की हरहा (बाराबंकी जिला) की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गौड़ राजा ने मौखरि नरेश से युद्ध करने के लिये इधर-उधर हाथ पैर फैलाये थे ; परन्तु उसका उद्योग असफल रहा। सातवीं सदी के आरम्भ में गौड़ नरेश शशांक ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था। उसने बंगाल से चलकर कन्नौज के मौखरि राजा गुप्तवर्मा को मार डाला तथा थानेश्वर के शासक राज्यवर्द्धन का भी अन्त कर दिया था। वह बौद्धधर्म का कट्टर विरोधी था। कहा जाता है कि, शशांक शैव था जो उसके प्रचलित सोने के सिक्कों से भी प्रमाणित होता है। उस पर वृषभ के साथ शिव की आकृति पायी जाती है। शशांक ने बौद्धों का नाश किया और बोधिवृक्ष को क्षति पहुँचायी। शशांक के सिक्के तथा लेख बतलाते हैं कि वह एक स्वतंत्र शासक था जिसका राज्य बंगाल से उड़ीसा तक फैला हुआ था। सातवीं सदी में हर्षवर्द्धन ने उसे परास्त करने के विचार

से बंगाल पर चढ़ाई की थी। सम्भवतः शशांक की मृत्यु हो गयी थी। इस प्रकार उसकी मृत्यु के पश्चात् कर्णसुवर्ण (गौड़ की राजधानी) से लेकर ताम्रलिप्ति (तमलूक) तक के प्रदेश हर्ष के अधिकार में आ गये थे। यह घटना शशांक की मृत्यु (६१९–६३७) के बाद की है। हर्ष बंगाल पर विजय प्राप्त कर अधिक समय तक राज्य का उपभोग न कर सका। ६४७ ई० के बाद बंगाल में अराजकता फैल गयी। हर्ष के समान कोई शक्तिशाली राजा न रह गया। इस स्थिति से लाभ उठा कर आसाम के राजा भास्कर वर्मन् ने उत्तरी बंगाल तथा कर्णसुवर्ण को जीत लिया। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की राय है कि सातवीं सदी के उत्तरी भाग में बंगाल पर पिछले गुप्त नरेश जीवित गुप्त तथा वहाँ के स्थानीय राजा मिल कर शासन करते थे। परन्तु इसका कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। केवल पिछले गुप्त नरेश की उल्लिखित पदवी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उस अशान्त वातावरण को देखकर ही आठवीं सदी के पर्व भाग में कन्नौज के राजा यशोवर्मन् ने मगध तथा गौड़ नरेशों को परास्त किया था। पर उसका प्रभाव अस्थिर रहा। आँधी की तरह उसकी शक्ति का प्रदर्शन मात्र था। इसी समय देश की अशान्त स्थिति तथा अराजकता (मात्स्य न्याय) के कारण बंगाल-निवासियों ने अपने सरदार गोपाल को राजा चुन लिया जिसने अपने बल-पराक्रम से पूरे बंगाल (पूर्वी तथा पच्छिमी) पर शासन स्थापित किया। जनता ने इसका स्वागत किया, इसलिये शीघ्र ही गोपाल का शासन अच्छे मार्ग पर आ गया। सम्भवतः उसके नाम के आधार पर ही इस वंश का नाम 'पालवंश' हुआ। आठवीं सदी के अन्त में गोपाल का पुत्र धर्मपाल गद्दी पर बैठा जो बत्तीस वर्ष तक राज्य करता रहा। इसने पाल राज्य को अत्यन्त उन्नत तथा शक्तिशाली बनाया और उत्तरी भारत में वह एक प्रधान शासक हो गया। वह प्राचीन पाटलिपुत्र के वैभव को लौटाने में काफी प्रयत्नशील रहा। उसने भारत के अन्य राज्यों पर भी चढ़ाई की। कन्नौज पर अधिकार स्थापित करने के लिये राष्ट्रकूट और प्रतिहार राजाओं से धर्मपाल को लड़ना पड़ा। कन्नौज के शासक इन्द्रायुध को हटाकर अपने मनोनीत व्यक्ति चक्रायध को इसने गद्दी पर बैठाया। तीनों वंशों में युद्ध चलता रहा। ध्रुव से हार कर धर्मपाल चुप नहीं रहा। उसने पुनः राष्ट्रकूट गोविन्द (तृतीय) से युद्ध किया जिसमें वह उसके हाथ से पराजित हुआ। इसका सामंत चक्रायुध भी (८३६ ई० के लगभग) गद्दी से हटाया

गया। धर्मपाल के कन्नौज पर अधिकार तथा उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने के विचार स्वप्न हो गये तथा प्रतिहारों ने कन्नौज पर राज्य स्थापित कर लिया। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में पालवंश को सफलता न मिल सकी परन्तु सांस्कृतिक विकास में इनका बड़ा हाथ रहा। पाल नरेश बौद्ध धर्मावलम्बी थे और उसके प्रचार के लिये तथा ग्रंथों के पठन-पाठन के लिये इन्होंने विक्रमशिला (भागलपुर जिले) में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की। इन्होंने अनेक विहार, मठ तथा मन्दिर बनवाये। इन सब कार्यों से राजा के उच्च विचार तथा दानशीलता का परिचय मिलता है। विक्रमशिला का विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र था। वह ८वीं सदी से लगातार चार सौ वर्ष तक विभिन्न विषयों में शिक्षा देता रहा। यहाँ पर तिब्बत से विद्वान् आया-जाया करते थे। यहीं के पण्डितों की लिखी संस्कृत पुस्तकें तिब्बती भाषा में अनूदित मिलती हैं जिनका अनुवाद इसी मध्य हिन्दू काल में (८००–१२००) हुआ था। ऐसे संस्कृति के केन्द्र और विद्या के घर को १२०३ ई० में मसलमान बख्तियार खिलजी ने नष्ट कर दिया।

धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल की ख्याति चारों तरफ फैल चुकी थी। कुछ लेखों में वर्णन आता है कि विन्ध्य से हिमालय तक इसका प्रताप फैला हुआ था। परन्तु इस तरह के विवरण पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। भागलपुर के शिला-लेख के उल्लेख से मालूम पड़ता है कि इसके भ्राता जयपाल ने उड़ीसा तथा आसाम आदि के कुछ भागों पर विजय प्राप्त कर ली थी परन्तु वह पश्चिम की ओर न बढ़ सका। देवपाल के समय उसके शत्रु गुर्जर राजा मिहिरभोज (८३६–८८५ ई०) ने पाल राज्य में घसने का प्रयत्न किया था लेकिन वह सफल न हो सका। देवपाल का नाम भारत से बाहर द्वीपों में भी प्रसिद्ध था। नालंदा के ताम्रपत्र में वर्णन आता है कि इस शासक ने, सुवर्णद्वीप के राजा बलपुत्रदेव के कहने पर, अपने राज्य के पाँच ग्राम नालंदा विश्वविद्यालय के लिये दान में दे दिये थे। यह विश्वविद्यालय प्राचीन भारत का सब से प्रधान शिक्षा-केन्द्र था जहाँ पर दस हजार विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विदेशों से आये विद्यार्थियों की भी संख्या कम न थी। इस प्रकार पाल राजा के शासनकाल में बौद्ध विश्वविद्यालयों में अच्छे ढंग की शिक्षा दी जाती रही। वहाँ से निकले विद्यार्थियों की ख्याति सर्वत्र फैल जाती थी। पिता की तरह देवपाल भी बुद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसने मगध में विहार तथा मन्दिरों का निर्माण

कराया था। उसके पश्चात् पालवंश की अवनति होने लगी। देवपाल का भतीजा विग्रहपाल प्रथम शक्तिहीन शासक था और सदा धार्मिक कृत्य में लगा रहता था। वह नारायणपाल को गद्दी देकर राजकाज से पृथक् हो गया। कुल मिला कर नारायणपाल ने ५४ वर्ष (८५८–९१२ ई०) तक राज्य किया परन्तु वह पूर्वजों की तरह अपने राज्य को अक्षुण्ण नहीं रख सका। उसी के राज्य-काल में मगध तथा उत्तरी बंगाल कन्नौज के प्रतिहारों के अधिकार में चला गया। पूर्वी बंगाल में स्थानीय शासन शक्तिशाली हो गये। इस कारण पालवंश का राज्य पश्चिमी तथा दक्षिणी बंगाल में ही सीमित हो गया। कहा जाता है कि नारायणपाल ने अपने अन्तिम दिनों में बिहार प्रान्त पर पुनः अधिकार कर लिया था। जिस समय राष्ट्रकूट तथा प्रतिहार राजा युद्ध में फँसे थे, पाल-नरेश ने उस परिस्थिति से लाभ उठाया। परन्तु इससे कुछ राज्य की यथार्थ वृद्धि न हो पायी। इस प्रकार नारायणपाल का राज्य शान्तिमय न रहा। उसके दो-तीन पीढ़ी बाद पालवंश पर फिर आपत्ति आयी और कम्बोज के लोगों ने विग्रहपाल द्वितीय के समय में राज्य को हिला दिया। ११वीं सदी के आरम्भ में महीपाल के समय पालवंश की प्रतिष्ठा वापस आ गयी। बंगाल में स्थान-स्थान पर जो छोटी रियासतें शासन कर रही थीं उन सब ने महीपाल के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। उसने गौड़ राजा से उत्तरी बंगाल छीन लिया। पश्चिमी बंगाल के सूरवंश ने भी पालवंश की अधीनता स्वीकार कर ली थी। लगभग १०२३ ई० में महीपाल ने कई आक्रमणों का सामना किया। दक्षिण भारत के चोल राजा राजेन्द्र (१०२०–१०२५) ने उड़ीसा की ओर से पाल-राज्य पर चढ़ाई की थी जिसमें गांगेयदेव कलचूरी ने भी महीपाल के विरुद्ध सहायता की थी अथवा स्वयं आक्रमण किया था। इससे प्रकट होता है कि महीपाल के अन्तिम दिनों में पाल-राजवंश की अव-नति होने लगी थी। यह कहा जा चुका है कि महीपाल के पश्चात् राज्य के बुरे दिन आ गये। उसका पुत्र नयपाल शान्तिपूर्वक राज्य न कर सका। चेदि राजा लक्ष्मीकर्ण ने पालवंश की सीमा पर आक्रमण कर दिया। युद्ध वर्षों तक चलते रहे। इसकी पुष्टि तत्कालीन लेखों से की जाती है। चेदि राजा के साथ भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान ने नयपाल की सन्धि करा दी जिसके फलस्वरूप पाल-राजकुमार चेदि-राजकुमारी से ब्याहा गया। परन्तु इस प्रकार की सन्धि से शान्ति न हो पायी। ११वीं सदी के मध्य में चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य ने पालवंश की लक्ष्मी को हरण कर लिया जो

अशान्ति का दूसरा कारण था। तीसरा कारण गृहकलह था जिसमें पाल-राज (विग्रहपाल के पुत्र) आपस में राज्य के लिये गहयुद्ध करते रहे। इस गृहकलह से लाभ उठा कर पूर्वी तथा उत्तरी बंगाल के सामंत स्वतंत्र होने लगे। यवराजों में अन्तिम पुत्र रामपाल विचित्र बुद्धि का व्यक्ति था। वह सामंतों के स्वतंत्रता की घोषणा करने पर भी स्वयं उनके पास गया। विनती का उलटा फल देख कर रामपाल ने शक्ति एकत्र करके उत्तरी बंगाल के कैवर्त लोगों को मार भगाया और सारे भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार रामपाल पैंतालीस वर्ष तक राज्य करता रहा परन्तु उसके मरते ही पालवंश का नाश होने लगा था। यद्यपि उसके पश्चात् कई पाल राजा बिहार में शासन करते रहे परन्तु उनका केवल नाम लिया जाता है। अन्त में बंगाल का प्रदेश सामंतों ने जीत लिया। विजय सेन सब से प्रधान सामंत था जिसका नाम उल्लेखनीय है। उसन उत्तरी बंगाल में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। पूरी अवधि तक परब में सेन राजा तथा पश्चिम में गहड़वाल शासकों के बीच में पाल राजा १२वीं सदी तक जीवन व्यतीत करते रहे। चार सौ वर्ष तक बिहार तथा बंगाल पर शासन करने के पश्चात् पालवंश का अन्त हो गया। सर्वप्रथम राजाओं की निर्वलता के कारण सामंत स्वतंत्र हुए तथा बाहरी शत्रुओं का ध्यान आकर्षित हो गया। परन्तु गृहकलह ने बुरे दिन को अत्यन्त समीप बुला लिया। इतना होते हुए भी पाल-काल में सांस्कृतिक अभ्युदय हुआ। पालवंशी नरेश बौद्ध धर्मावलम्वी थे। शिक्षा तथा कला के प्रचार में इन्होंने बहुत कार्य किया। उस समय नालंदा तथा विक्रम-शिला के दो महाविहारों (विश्वविद्यालयों) में हजारों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। भारतीय कला में इस समय विशेष उन्नति हुई। यही कारण है कि उस समय की तक्षण कला का नाम पाल शैली पड़ गया है। इस वंश के शासक भारतीय संस्कृति की श्रीवृद्धि में सदा सहायक रहे। उन्होंने हजारों मठों, मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया था। उनके समय में तांत्रिक बौद्ध-धर्म का अभ्युदय हुआ, जिसका प्रचार ११वीं सदी में तिव्बत में जाकर भिक्षुओं ने किया था। इतना होते हुए भी बंगाल में नारायण तथा महादेव की पूजा का प्रचार था जो पाल-राजाओं की सहिष्णुता का परिचय देता है।

बंगाल के सेन-शासक

पालवंश की अवनति प्रारम्भ होने पर किसी राजा में ऐसी शक्ति न थी जो उस गिरती हुई दशा को सुधार सके। महीपाल के बाद ही बाहरी आक्रमण

होने लगे। १०४२ ई० के लगभग चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने उत्तरी पूर्वी आक्रमण के सिलसिले में पाल-सीमा पर चढ़ाई कर दी थी। इस अशान्ति के समय में पश्चिमी बंगाल (राढ़) में एक नये वंश की स्थापना हुई जो इतिहास में सेन नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश के संस्थापक सामंत सेन के पौत्र विजय सेन ने बासठ वर्ष (१०९५–११५८ ई०) तक राज्य किया। उसी के समय राज्य की श्रीवृद्धि हुई। राजशाही जिले के देवपारा के लेख से पता चलता है कि विजय सेन ने उत्तरी बंगाल (गौड़) से पाल राजा को मार भगाया था। पूर्वी बंगाल में प्राप्त लेखों से स्पष्ट पता चलता है कि अपने राज्यकाल के अन्त में विजय सेन का अधिकार पूर्वी बंगाल में हो गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि बारहवीं सदी के मध्य तक सम्पूर्ण बंगाल पर सेनवंश का अधिकार हो गया था। विजय सेन ने कामरूप तथा कलिंग के राजाओं को भी परास्त किया था। पालवंश के विरुद्ध सेन राजा ने शिवपूजा का प्रचार किया तथा मन्दिर बनवाये। इस तरह बौद्धधर्म को हटाकर ब्राह्मण-धर्म (शैवमत) का प्रचार बगाल में विजय सेन के द्वारा किया गया था।

विजय सेन के बाद सेन राज्य की सीमा को बढ़ाने में कोई समर्थ न रहा। उसका पुत्र बल्लाल सेन शान्त प्रकृति का शासक था। पिता के विजित प्रदेशों की उसने रक्षा की पर स्वयं जीतने की इच्छा से बाहर न निकला। भगवान् शिव की पूजा करना तथा साहित्य-चर्चा के अतिरिक्त उसके पास कोई काम न था। यों कहना चाहिए कि शासन-प्रबंध में उसकी दिलचस्पी न थी। कहा जाता है कि समाज में बल्लाल सेन ने जातीय सुधार किया तथा कलीन ब्राह्मणों को बंगाल में स्थान दिया। इसे वहाँ कुलीन प्रथा का आरम्भ मानते हैं। जाति-संगठन के कार्य का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता परन्तु बंगाल में कुलीन जातियों के रखने का श्रेय बल्लाल सेन को ही है। विद्वानों का कथन है कि इस राजा ने दानसागर तथा अद्भुतसागर नामक ग्रंथों की रचना की थी। बंगाल का वह समय साहित्य-चर्चा के उपयक्त न था। राजा की शक्ति की अवनति का उदाहरण बल्लाल के उत्तराधिकारी लक्ष्मण सेन के कारनामे से मिलता है। मुसलमान लेखकों ने इस राजा का उल्लेख राय लखमनिया के नाम से किया है। लक्ष्मण सेन का भी दरबार कवियों से भरा हुआ था। धोयी कवि ने पवनदूत लिखकर राजसभा में ख्याति प्राप्त की थी, तथा जयदेव ने गीतगोविन्द लिख कर सारे बंगाल को भक्ति रस में डबो दिया। प्रधानतया सेन-राजाओं के शासनकाल में साहित्य तथा भक्ति का

रसास्वादन ही प्रजा करती रही। भगवान् पर निर्भर रहन से प्रजाजन तथा राजा में राजनीति में सक्रिय भाग लेने की भावना नहीं रही। सम्भवतः सी कारण अथवा गीतगोविन्द के रसपूर्ण पदों में लक्ष्मण सेन इतना आनन्द-विभोर हो जाता था कि शत्रुओं के कार्यों का समाचार भी न सुन पाता था। बल्लाल सेन स्वयं प्रथम श्रेणी का कवि था। राजसभा में कवि-समागम के समय रस में डूब जाना स्वाभाविक था। अतएव सेन राजा के लिये उस आनन्द को छोड़ कर रणक्षेत्र में जाना सम्भव न था। उसके अन्य देशों की ओर आँख उठाने की खबरें भी संदेहपूर्ण समझी जाती हैं। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि राय लखमनिया बड़ा डरपोक तथा यद्धभीरु राजा था। ११९७ ई० में जब मुसलमान सरदार मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने सेन-राजधानी पर चढ़ाई की तो वह महल की खिड़की के रास्ते भाग गया। वह शत्रु का सामना क्षण भर भी न कर सका। बख्तियार के नदिया पर यकायक चढ़ाई करने का कारण यही था कि सेन राज्य में उसे कहीं रुकावट न हुई। उसका मार्ग निष्कण्टक था। अतएव वह सीधे राजधानी पर चढ़ गया। सेन राजा भागकर गंगा पार पूर्वी बंगाल (वंग) में चला गया, जहाँ पर उसके वंशज पचास वर्ष तक शासन करते रहे। बाद में यह भूभाग भी मुसलमानों के हाथ में चला गया।

राजनैतिक दृष्टि से सेन-राजाओं को सफलता न मिल सकी। अशान्त वातावरण में शस्त्र के बदले शास्त्र की चर्चा सेन-राजसभा में होती रही। इनके शासन-काल में अच्छे साहित्यिक ग्रंथ लिखे गये। जातीय सुधार कर बंगाल में बल्लाल सेन ने ख्याति प्राप्त की। उसने अपने नाम से संवत् चलाया जिसका प्रयोग लेखों में पाया जाता है। सेन-शासन के पश्चात् बंगाल का पूरा प्रान्त मुसलमानों के हाथ में आ गया।

छठा अध्याय

पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम भारत

(क) सिन्ध के शासक

वर्तमान समय में सिन्ध प्रान्त सिन्ध नदी के मुहाने के समीप के प्रदेश में स्थित है। परन्तु मध्यकाल में सिन्ध रियासत उस भाग में थी जो उत्तर में कन्धार तथा सीस्तान तक, दक्षिण में समुद्र किनारे, पश्चिम में मकरान तथा पूर्व में काश्मीर और कन्नौज राज्य की सीमा तक विस्तृत था। सिन्ध राज्य के इतिहास का ज्ञान अरब लेखकों द्वारा होता है। छठी सदी में प्रभाकर-वर्धन ने इस राज्य पर आक्रमण किया था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष-वर्धन ने भी उसपर चढ़ाई की थी। उन दिनों सिन्ध में रायवंश का शासन था। ६३२ ई० में अन्तिम राजा राय साहसी के मरने पर उसका ब्राह्मण मंत्री चच गद्दी पर बैठा। उसके बाद ही उसने विधवा रानी से विवाह कर लिया। चीनी यात्री ह्वेनसांग चच के शासनकाल में सिन्ध में गया था। चच ने अपनी शक्ति से राज्य की सीमा झेलम के उद्गम तक बढ़ा ली थी। ७वीं सदी के अन्तिम भाग में उसके पुत्र दाहिर ने कन्नौज-राजा की सहायता से पिता से गद्दी लेने का प्रयत्न किया और पूर्ण सफल हुआ। कुछ समय के बाद ही दाहिर को अरब वालों का मुकाबिला करना पड़ा। इसका एक विशेष कारण यह था कि इसी के शासनकाल में समुद्र किनारे समुद्री डाकुओं ने एक जहाज पर अधिकार कर लिया था जो लंका द्वीप से माल लेकर ईरान जा रहा था। यह कहा जाता है कि उसमें सारा सामान लंका के राजा की ओर से ईरान के गवर्नर हज्जाज को भेंट के रूप में जा रहा था। सिन्धु तट के समीप माल लूटे जाने से ईरानवाले नाराज हो गये और हज्जाज के साथी मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध पर चढ़ाई करने के लिये भेजा गया। वह ७११ ई० में सिन्ध में पहुँचा। उसके पास सेना अधिक थी। फिर सिन्ध के कुछ लोगों ने मुहम्मद की सहायता भी की। इस कारण कासिम ने देवल (कराँची) के बन्दरगाह और हैदराबाद के समीपस्थ भागों पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया। राजधानी अलोर को जीतकर उसने

अपना गवर्नर नियुक्त किया। मुल्तान नगर को भी अरबों ने जीता और उस समय से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष तक सिन्ध अरब के खलीफा के कब्जे में रहा।

ओमर के समय से ही अरबवालों का आक्रमण बढ़ता गया और सिन्ध के बाहर गुजरात पर भी चढ़ाई हुई। खलीफा हारून अल रशीद (७८६–८०९ ई०) के समय में प्रायः सारे सिन्ध पर मुसलमानों का शासन था। भारत में उसने राजदूत भी भेजे थे। उस समय सिन्ध में सर्वत्र इस्लाम का प्रचार हो गया था परन्तु तत्कालीन परस्थितियों को देख कर मुसलमान गवर्नर ने हिन्दू मन्दिरों को नष्ट नहीं किया। कर तथा जजिया दे देने के बाद शासक वहाँ के निवासियों से बुरा व्यवहार न करते थे, जिससे हिन्दू कुछ स्वाधीनता का अनुभव करते और धर्म के मामले में स्वतंत्र थे। ब्राह्मणों को जीर्ण तथा नष्ट मन्दिरों की मरम्मत करने की आज्ञा मिल जाती थी। मुसलमानों में राज्य वृद्धि की पूरी इच्छा होते हुए भी वे कन्नौज के प्रतिहार शासकों के डर से सिन्ध के बाहर बढ़ न सके। चालुक्यों के कारण दक्षिणी भाग में भी उनका बढ़ाव रुका हुआ था। हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का जो कुछ कारण हो, परन्तु मसलमान गवर्नरों को मन्दिरों से बड़ी आमदनी थी। मुल्तान का सर्यमन्दिर इसका उदाहरण था। अल बिलाउरी आदि अरब लेखकों ने लिखा है कि खलीफा के समय में मुल्तान में मूर्तिपूजा होती थी। मुहम्मद बिन कासिम ने भी हिन्दू मन्दिर को नहीं तोड़ा। जब कभी गुर्जर प्रतिहार राजा मुसलमानों पर आक्रमण करना चाहते थे तभी मुसलमान गवर्नर हिन्दू मन्दिर तोड़ने की आवाज़ उठाता था। इस प्रकार मूर्ति के नष्ट किये जाने के भय से प्रतिहार शासक लौट जाते और सिन्ध के मुसलमानों की किसी प्रकार की क्षति न होने पाती थी।

इस तरह की साम-दाम की नीति से मुसलमानों का राज्य सिन्ध पर कुछ दिनों तक बना रहा। भारतीयता से अरबवाले अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने इस देश के सम्पर्क में आकर गणित, ज्योतिष तथा आयुर्वेद ऐसे विज्ञान को सीखा। संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद अरबी में किया गया। पंचतंत्र की कहानियाँ भी अरब देश में पहुँच गयीं। यहाँ से खलीफा के दरबार में वैद्य भेजे गये थे। कहने का तात्पर्य यह कि अरब तथा भारत के राजनैतिक सम्बन्ध को छोड़कर सांस्कृतिक सम्बन्ध ने गहरा रूप धारण कर लिया। अरबवालों के गवर्नर मुल्तान आदि प्रान्तों में शासन करते रहे। परन्तु सिन्ध में मुल्तान

और मनसूरा में रियासतें कायम हो जाने पर खलीफा का प्रभाव जाता रहा और वे स्वतंत्र रियासतें हो गयीं ।

१०२५ ई० के लगभग गजनी-वंश का उदय होने पर अरबवालों का प्रभाव नष्ट हो गया। ९वीं सदी के आरम्भ में अरब से सूम्रह आदि जातियाँ सिन्ध में आकर बस गयी थीं। इन्हीं लोगों ने गजनी सुल्तान के बाद सिन्ध पर अधिकार किया और तीन-चार शताब्दियों तक शासन करते रहे ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अरबवाले अपने धर्म-प्रचार के लिये एशिया के पश्चिमी भाग से पूर्व की ओर बढ़े थे। उन्हें सिन्ध पर चढ़ाई करने का एक बहाना मिल गया था। सिन्ध के निवासियों ने (जाट तथा मेद) राजा के साथ विश्वासघात किया, इसी कारण मुहम्मद बिन कासिम ने बिलूचिस्तान से शीघ्र ही सिन्ध पर चढ़ाई कर दी। भारत में सर्वप्रथम इस्लाम धर्मावलम्बियों का आगमन सिन्ध में हुआ। इन्हीं के द्वारा भारत का ज्ञान तथा विज्ञान पश्चिम में फैला तथा योरपवालों ने भी सीखा। प्रतिहारवंश के डर से वे सिन्ध के बाहर न जा सके परन्तु १०वीं सदी से उनका भय जाता रहा और वे गंगा की घाटी में प्रवेश पा गये ।

(ख) उत्तर-पश्चिम के शासक

इतिहास जाननेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि प्राचीन समय में भारत की सीमा वर्तमान सरहदी सूबे के बाहर काबुल तक फैली थी। उत्तर-पश्चिमी भारत में, मध्यकाल से पूर्व भी, पिछले कुषाणवंश के राजा राज्य करते थे जिनको लेखों तथा सिक्कों में शाही कहा गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि कपिशा के समीप बौद्ध शाही राजा शासन करते थे। उन लोगों ने हिन्दू शाही नाम धारण कर लिया था। विद्वानों ने उन्हें तुर्की शाही कहा है जिनका शासन काबुल के समीप तथा पंजाब के कुछ भाग पर था। उन राजाओं के बारे में कोई विशेष जानकारी नहीं है। उनके ईरानी ढंग (ससैनियन प्रकार) के सिक्के मिलते हैं जो सर्वथा भद्दे आकार के हैं। इस प्रकार उनके शासन के विषय में संदेह का स्थान नहीं रह जाता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये एक ही वंश के थे। ७वीं सदी से ९वीं शताब्दी तक तुर्की शाही राजा अरबवालों से लगातार युद्ध करते रहे पर अन्त में हार गये। अन्तिम राजा लगुतरमान को उसके मंत्री कल्लर ने गद्दी से हटा कर अपने हाथ में शासन ले लिया। अरब लेखकों ने इस वंश को हिन्दू शाही नाम दिया है। इस वंश में कई राजा हुए

जिनके नाम सिक्कों पर मिलते हैं और इससे उनकी ऐतिहासिकता प्रकट होती है। 'राजतरंगिणी' में कल्हण ने भी राजाओं का नाम हिन्दू शाही दिया है जिनसे काश्मीर के बादशाह से युद्ध हुआ था। १०वीं सदी के आरम्भ में कल्लर के वंशज उद्भाण्डपुर में शासन करने लगे।

शाही वंश के द्वितीय राजा सामंत का नाम सिक्कों से मिलता है जो पंजाब तथा अफगानिस्तान में मिले हैं। उन सिक्कों को घुड़सवार ढंग के सिक्के कहते हैं। ऊपरी भाग में राजा का नाम श्री सामंतदेव लिखा रहता है। सिक्कों के आधार पर ही सामंत के उत्तराधिकारी भीम का नाम लिया जाता है जिसने काश्मीर के राजा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।

१०वीं सदी के मध्य भाग से काबुल के मुसलमानों ने शाही शासक पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। काबुल अरबवालों के अधिकार में आ गया था। उस समय अलप्तगीन नामक मुसलमान योद्धा ने उस प्रान्त को जीतकर गजनी में एक स्वतंत्र रियासत कायम की थी। अलप्तगीन सर्वप्रथम बोखारा के तुर्की राजा का सेनापति था। बाद में गजनी पर अधिकार कर उसने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। सन् ३६ में उसकी मृत्यु हो जाने पर उसका जामाता सुबुक्तगीन गद्दी पर बैठा। हिन्दू शाही राजाओं से इसका युद्ध होता रहा। इस वंश के दो राजाओं—जयपाल तथा अनंगपाल—का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है जिन्होंने मुसलमानों को भारत में प्रवेश करने से रोका था। मैदान में शासन करनेवाले राजाओं ने शाही-नरेशों की सहायता की थी परन्तु कोई भविष्य में आनेवाली आपत्ति का अनुमान भी न कर सका। मुसलमानों ने अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया जिससे शाहीवंश का राज्य भारत से बाहर समाप्त हो गया। उनके भय से शाही राजधानी उद्भाण्डपुर (ओहिन्द) से हटाकर भटिण्डा (पटियाला रियासत) में लायी गयी। जयपाल ने सोचा कि इस स्थान से गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन का मुकाबिला अच्छी तरह हो सकेगा। जब उसने आक्रमण किया तो जयपाल ने समीप के हिन्दू राजाओं—देहली, अजमेर तथा कन्नौज—से सहायता माँगी। युद्ध में सारी हिन्दू सेना को पीछे हटना पड़ा और जयपाल को अपनी मर्यादा नष्ट करनेवाली सन्धि करनी पड़ी। इस हार का कारण यह था कि हिन्दू शासकों ने इस युद्ध को साधारण समझ कर मुकाबिला किया था। वे भारत के भविष्य का कुछ अनुमान भी न कर सके कि इस

हार का कितना भीषण परिणाम होगा। १००१ ई० में दूसरी बार यवन-आक्रमण की चिन्ता इतनी बढ़ गयी कि जयपाल अपने राज्य का भार राजकुमार अनंगपाल को सौंप कर अग्नि में जल गया। भारत के अन्य राजाओं की सहायता का अन्दाजा लगाकर जयपाल ने आत्महत्या को श्रेयस्कर समझा जिससे पुनः ग्लानि न हो। कुछ वर्ष बाद ही (१००८ ई०) गजनी के सुल्तान महमूद ने अनंगपाल पर चढ़ाई कर दी। इसका मुख्य कारण यह था कि अनंगपाल ने महमूद को, सुल्तान की रियासत पर चढ़ाई करने के लिये, शाही राज्य से मार्ग देना अस्वीकार कर दिया था। इसी लिये महमूद ने अनंगपाल का अंत करने का धावा बोल दिया था। इस अवसर पर अनंगपाल ने भारत के राजाओं (उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, देहली तथा अजमेर) को महमूद से युद्ध करने के लिये निमंत्रित किया जिसका प्रत्युत्तर भी अच्छा मिला। सभी राजाओं ने सहायता भेजी। सेना की संख्या भी पर्याप्त हो गयी। भारतीय जनता में संस्कृति की रक्षा-भावना की लहर दौड़ पड़ी। पुरुषों के अतिरिक्त भारतीय नारियों ने भी यथाशक्ति सहयोग दिया। सब ने पूरी सहायता की तो भी फल उलटा हुआ। कहा जाता है कि तीर के लगने से अनंगपाल का हाथी भाग चला और हिन्दू सैनिकों ने इसे हार का अपशकुन मान कर हिम्मत छोड़ दी। इससे महमूद की विजय हुई। इस जीत का कारण भारतीय राजाओं की कमज़ोरी अवश्य थी परन्तु पर्वतीय मार्ग ने महमूद को सहायता पहुँचायी। भारत में सदा से खैबर के दर्रे पर शासकों की आँख लगी रहती थी। बिना उसपर अधिकार किये शत्रुओं को रोकने का उपाय ही न था। शाही नरेशों से इस मार्ग को सुबुक्तगीन ने छीन लिया था अतएव मुसलमान सेना बिना रोक-टोक के मैदान में घुसती चली आयी। यद्यपि अनंगपाल ने आगे बढ़ कर उनकी तेजी को रोका था पर इस्लाम मत के माननेवालों के धार्मिक उन्माद की कोई सीमा ही न थी। उस समय धर्म-प्रचार की भावना काम कर रही थी। कुछ ही दिनों में अनंगपाल के उत्तराधिकारी मारे गये और पंजाब के पश्चिमी भाग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। भारत से मुसलमान अधिकारियों के हटाने का स्वप्न जाता रहा। महमूद इससे शान्त न बैठा; उसने १०१४ ई० में थानेश्वर जीत लिया। चार वर्ष बाद वह मथुरा को नष्ट करता कन्नौज तक पहुँच गया और प्रतिहार वंश का अन्त उसी के हाथों हुआ। पूर्वी भाग में ग्वालियर और कालिंजर पर तथा पश्चिम में सोमनाथ पर उसने चढ़ाई की। यद्यपि उसके आक्रमण लूट

के ढंग के थे और भारत में राज्य स्थापना की कोई इच्छा न थी, तो भी शाही वंश के राज्य तथा पंजाब के कछ भाग को उसने अपन राज्य में मिला लिया। सब से बड़ी बात यह थी कि महमूद ने भारतीय सेना के उत्साह, लगन, आत्म-विश्वास तथा शान्ति को मिटा दिया। उनमें यह भावना आ गयी कि भारतीय वीर थोड़े से बाहरी शत्रुओं का मुकाबिला नहीं कर सकते। मुसलमानी आक्रमण के भय ने बहुत गहरा प्रभाव उत्पन्न कर लिया था। इतना होते हुए भी पश्चिमी तथा मध्य भारत में राजपूत सरदार, प्रतिहार वंश का अन्त हो जाने पर, रियासत कायम करने की बात सोच रहे थे।

सातवाँ अध्याय

हिमालय प्रदेश की रियासतें

(क) काश्मीर के शासक

मध्यकाल से पूर्व काश्मीर का इतिहास पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है। संभवतः पर्वतीय प्रदेश में स्थित होने के कारण वहाँ लोगों का आना-जाना सदा से कम रहा है। प्राचीन समय के बारे में इतना कहा जा सकता है कि काश्मीर राज्य मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित था। ईसवी सदी के बाद कुषाणवंश ने वहाँ शासन किया। परन्तु गुप्त साम्राज्य से काश्मीर पृथक् रहा। ह्वेनसांग के कथन तथा सिक्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हूण लोगों ने भी इस भूभाग पर काफी समय तक शासन किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सातवीं सदी से पूर्व का इतिहास प्रकाश में नहीं आ सका है। पूर्व मध्य-काल से मुसलमानों के आक्रमण तक तीन विभिन्न वंश काश्मीर में राज्य करते रहे जिनका वर्णन राजतरंगिणी में पाया जाता है अर्थात् ७०० ई० से १२वीं सदी तक का काश्मीर का इतिहास लिखित रूप में मिलता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण का सम्बन्ध धर्म से अधिक है। मध्यकाल ही में काश्मीर के हिन्दू शासक का जन्म हुआ और १२०० ई० से पहले उनका राज्य समाप्त भी हो गया।

सातवीं सदी के आरम्भ में ही दुर्लभवर्धन ने करकोट वंश की स्थापना की। यह कहा जाता है कि राजा नाग करकोट के वंश में पैदा हुआ था इसलिये उसने अपने वंश को करकोट-वंश नाम से विख्यात किया। काश्मीर के बाहर दुर्लभवर्धन ने पंजाब के भाग पर भी अधिकार कर लिया था। चीन राज्य की सीमा काश्मीर राज्य से मिलती थी, अतः काश्मीर के शासक ने चीन से राजनैतिक सन्धि स्थापित कर राज्य की प्रधानता बढ़ायी। इसी प्रकार कन्नौज के राजा हर्ष से दुर्लभ ने मित्रता कर ली थी। इन सब बातों से प्रकट होता है कि दुर्लभवर्धन के शासनकाल में काश्मीर शक्तिशाली राज्य था और इसके अधीन कई छोटी रियासतें थीं। लगभग ५० वर्ष राज्य करने के बाद दुर्लभ का पुत्र चन्द्रापीड़ गद्दी पर बैठा। वह अधिक समय तक राज्य न कर पाया था कि भाइयों में गद्दी के लिये झगड़े हो गये। दो भाइयों

के मारे जाने के पश्चात् दुर्लभवर्धन का तीसरा पुत्र ललितादित्य मुक्तापीड़ राज्य का अधिकारी हुआ। शक्ति संचय करके वह भारत के दिग्विजय के लिये निकला।

राजतरंगिणी के वर्णन से पता चलता है कि ललितादित्य ने सर्वप्रथम कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को हराया और वहाँ से कलिंग होता हुआ वह दक्षिण भारत में भी पहुँच गया था। वह करनाट, द्वारिका तथा अवन्ती होकर काश्मीर को वापस आया। यद्यपि ललितादित्य के इस भारतव्यापी दिग्विजय पर पूर्ण तरह विश्वास नहीं किया जा सकता फिर भी यह सत्य है कि करकोटवंश में ललितादित्य सब से प्रतापी राजा हुआ था। उसने पंजाब, चीनी तुर्किस्तान तथा काश्मीर के उत्तरी प्रदेशों पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया था। उसने चीन के राजा के पास राजदूत भेजकर मैत्री की थी। राज्य जीतकर उसने सीमा बढ़ायी परन्तु अपने राज्य के बाहर उसका ध्यान ही न था। बाहरी शत्रु सिर पर बैठे थे। इससे पूर्व इसके भाई ने चीन के राजा से सहायता माँग कर अरबवालों के आक्रमण से बचाने का प्रयत्न किया था पर मुक्तापीड़ को अपनी रियासत से इन बातों के लिये समय ही न था अथवा वह विदेशी (अरबों के) आक्रमण के भविष्य के फल का अनुमान न कर सका। वह धर्मनिरत होकर चालीस वर्ष तक राज्य करता रहा। उसने अपने राज्य में बौद्ध बिहार बनवाया और साथ साथ हिन्दू देवता शिव तथा सूर्य के मन्दिर के निमित्त दान दिया। उसके बनवाये मन्दिरों के भग्नावशेष आज भी मौजूद हैं।

सन् ७६० ई० में ललितादित्य की मृत्यु हो जाने पर उत्तराधिकार के लिये झगड़ा खड़ा हो गया। जयापीड़-मुक्तापीड़ के पौत्र ने अपनी शक्ति से राज्य का शासन ले लिया। वह करकोटवंश का अन्तिम पराक्रमी राजा था जिसने कन्नौज के शासक इन्द्रायध को परास्त किया था। कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि जयापीड़ विनयादित्य ने नेपाल तथा बंगाल पर भ आक्रमण किया था पर इसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से नहीं होती। जयापीड़ विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राज-सभा में अच्छे-अच्छे पंडित थे। वामन और दामोदरगुप्त के अतिरिक्त रत्नाकर प्रधान सभापंडित था जिसने 'हरविजय' महाकाव्य लिखा था। ये महाकवियों के मणि माने जाते थे। कल्हण का कहना है कि ये अवन्तिवर्मा की सभा में भी वर्तमान थे। इससे प्रकट होता है कि महाकवि रत्नाकर अधिक दिनों तक जीवित रहे।

जयापीड़ के बाद काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के भी दरबार में ये रहने लगे।

जयापीड़ विनयादित्य के पश्चात् (७७९–८१० ई०) करकोटवंश की अवनति होने लगी। अन्तिम समय में यह राजा भी कठोर हृदय का हो गया था। नवीं सदी के मध्य तक इस वंश में कई छोटे-छोटे राजा हुए परन्तु उनमें एक का भी नाम उल्लेखनीय नहीं है। करकोट-शासनकाल में काश्मीर, राजनैतिक दृष्टि से, अच्छी दशा में रहा। पंजाब के भी कई जिले इसकी सीमा में आ गये थे। सारा देश कई राज्यों (टुकड़ों) में सुशासन के लिये विभक्त किया गया था। परन्तु इस समय काश्मीर का राज्य आर्थिक तथा सामाजिक संकट में था। कुछ सरदार आतंक जमाये हुए थे। प्रजा में हाहाकार मचा हुआ था। अतएव करकोटवंश का नाश कर अवन्तिवर्मन् नामक सरदार ने ८५५ ई० में एक नये राजवंश की स्थापना की। यह उत्पल वंश नाम से प्रसिद्ध है। अवन्तिवर्मन् ने देश में शान्ति स्थापित कर विजय की ओर ध्यान दिया। उसने देश में सुशासन तथा प्रजा में विश्वास पैदा कर अन्य बातों पर भी विचार किया।

काश्मीर के इतिहास में अवन्तिवर्मन् का नाम गर्व के साथ लिया जाता है। एक सच्चे प्रजापालक तथा अच्छे शासक की श्रेणी में अवन्तिवर्मा की गिनती की जाती है। यह विद्वानों का आश्रयदाता तथा प्रसिद्ध दानी था। ब्राह्मणों के परिपालन और मन्दिरों के निर्माण के लिये इस राजा ने हाथ खोल कर दान दिया। आनन्दवर्द्धन उसके सभापंडित थे। कल्हण ने रत्नाकर को भी इसके दरबार का विद्वान् बतलाया है। उसके बनवाये मन्दिर राजा की कीर्ति का गान कर रहे हैं। इतना ही नहीं, राजा के मंत्री ने प्रजा की भलाई तथा सार्वजनिक लाभ के लिये नहरें खुदवायी थीं। झेलम नदी की घाटी की भूमि इससे अधिक उर्वरा हो गयी। पैदावार बढ़ जाने से जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गयी। उस मंत्री तथा राजा के वंश के नाम से कई नगर बसाये गये थे। काश्मीर में इस प्रकार के प्रबंध से प्रजा करकोट-वंश की दुर्दशा को भूल गयी और सुशासन के लिये उत्पलवंश प्रसिद्ध हो गया। ८८३ ई० में अवन्तिवर्मन् की मत्यु हो गयी। अच्छे के बाद बुरे दिन दिखलायी पड़े। काश्मीर की श्री समाप्त हो गयी। राज्य में झगड़े आरम्भ हो गये। इस विकट परिस्थिति में उसके पुत्र शंकरवर्मन् ने राज्य का भार सँभाला। उसका समय आक्रमण, विजय तथा पराजय में व्यतीत हुआ। उसने

काँगड़ा को जीता और प्रतिहार राज्य के कुछ भाग को अपने अधिकार में किया था। इस प्रकार उसका जीवन लड़ाई में बीता। यहाँ तक कि ९०२ ई० में, आक्रमण से लौटते समय, शंकरवर्मन् की मृत्यु हो गयी। इन तमाम लड़ाइयों का फल यह हुआ कि काश्मीर की प्रजा आर्थिक संकट में पड़ गयी। राजा ने कई प्रकार के कर लगा दिये। धार्मिक कृत्य भी कर से मुक्त न थे। काश्मीर राज्य के सिक्कों का इतिहास यह बतलाता है कि शंकरवर्मन् के समय से सोने के सिक्के बन्द हो गये। उससे पूर्व सोने के सिक्कों का चलन था। आर्थिक कठिनाइयों ने उसे वाध्य किया। उसकी जीवन-घटनाओं की पुष्टि सिक्कों से होती है। कोष खाली हो जाने पर राज्य ने सोने के सिक्के के स्थान पर ताँबे के सिक्के चलाये थे। कहने का तात्पर्य यह कि शंकरवर्मन् का शासन अवन्ति के सामने कष्ट तथा संकट का था। प्रजा दुखी थी। धन-जन की हानि हुई।

शंकरवर्मन् के पश्चात् दसवीं सदी के मध्य तक काश्मीर का इतिहास झगड़े, दुर्दशा तथा कठिनाइयों से पूर्ण रहा। राजा शक्तिहीन हो गये। सैनिकों के एक समूह में सारी शक्ति केन्द्रित हो गयी। जिसको वह शासक बनाना चाहते थे वही राज्य करता था। राजा प्रजा की सुविधा की ओर ध्यान न देकर अपने सुख तथा आराम में व्यस्त रहता था। दसवीं सदी में कई राजा गद्दी पर बैठे। उन दिनों (९१८ ई०) काश्मीर में एक विकट अकाल पड़ा जिसमें असंख्य जनता भूख से मर गयी तो भी राजा को कोई परवाह न थी। इस तरह ९३९ ई० के समीप उत्पल वंश का अन्त हो गया।

इस वंश के अन्तिम राजा सूरवर्मन् के बाद ब्राह्मणों ने एक मंत्री के पुत्र प्रभाकरदेव को काश्मीर का राजा बनाया। इस राजा ने अपने थोड़े दिनों के शासन में देश में शान्ति स्थापित करने तथा प्रजा को सुखी बनाने का अथक परिश्रम किया। इस वंश में सब से प्रधान शासक दिद्दा नामक रानी थी। उसने पूरी शक्ति लगाकर लोगों के विरोध को दबा कर पचास वर्ष तक राज्य किया। चूँकि वह किसी लोहर सरदार की पुत्री थी अतएव वह वंश लोहर-वंश के नाम से विख्यात हुआ। क्षेमगुप्त के चलाये सिक्कों से पता चलता है कि वह उसकी रानी थी। सिक्कों पर एक ओर रानी का नाम खुदा मिलता है। रानी दिद्दा का नाम काश्मीर के इतिहास में प्रसिद्ध है। पति की मृत्यु के पश्चात् राजकुमार की संरक्षिका के रूप में वह शासन करती रही। यद्यपि उसका समय पर्ण रूप से शान्तिमय नहीं रहा फिर भी राज्य में रानी के आतंक

से किसी प्रकार का झगड़ा न हो सका। १०वीं सदी के बाद, मरने से पहले, दिद्दा ने अपने भतीजे लोहर राजकुमार संग्रामराज के लिये मार्ग सुगम कर दिया जिससे वह राज्य का उत्तराधिकारी बन सके।

राज्य पाने पर संग्रामराज अपनी शक्ति का प्रदर्शन न कर सका। उसके शासन-काल (१००३–२८ ई०) में तुंग ने राज्यभार सँभाला था। उन दिनों गजनी के मुसलमान शासक हिन्दू शाही राजाओं पर आक्रमण कर रहे थे। शाही नरेश त्रिलोचनपाल ने अन्य लोगों के समान काश्मीर के राजा से भी सहायता माँगी और तुंग ने मुसलमान-आक्रमण को रोकने के लिये शाही नरेश की सहायता की थी परन्तु महमूद की जीत हुई। भारत के राजा पराजित होकर अपने-अपने स्थान को भाग गये। महमूद ने काश्मीर की घाटी पर, १०२१ ई० में, चढ़ाई की; परन्तु पर्वतीय प्रदेश होने के कारण उसको पूरी सफलता न मिल सकी। वह काश्मीर के किलों को न जीत सका तब लाचार होकर लाहौर वापस गया। ११वीं शताब्दी से काश्मीर की हालत बड़ी बुरी हो गयी थी। राजा प्रजा को कष्ट देने पर तैयार रहता था। उसे अपने सुख तथा ऐश्वर्य के लिये धन की आवश्यकता रहती थी। राजा देश तथा प्रजा से सभी प्रकार से धन एकत्र करता था। मन्दिरों से लूट कर तथा प्रजा पर कर लगा कर इच्छा की पूर्ति करता रहा। यहाँ तक कि हर्ष नामक शासक ने मुसलमान सेनापति नियुक्त कर धार्मिक संस्थाएँ नष्ट कर दी थीं। देश में अराजकता, झगड़े तथा लूट का दौरदौरा था। दसवीं सदी से काश्मीर अराजकता तथा दुर्दशा का घर बना रहा। उस समय कोई भी ऐसा राजा न हुआ जिसके राज्य में प्रजा सुख की नींद सोती, क्योंकि क्रान्ति तथा अराजकता पूरी तरह फैल चुकी थी।

अन्त में कई सो वर्ष के गृहयुद्ध, कुशासन तथा प्रजा की दुर्दशा के बाद मुसलमानों ने काश्मीर को जीत लिया और हिन्दू शासन का अन्त हो गया।

काश्मीर के इतिहास की जानकारी होने पर प्रायः यह पता चलता है कि यह देश झगड़े, कलह तथा लूट का घर बना था। राजा क्रूर, प्रजा के नाशक तथा धनलोलुप थे जिनको प्रजा की तनिक भी चिन्ता न थी। प्रजा के कष्टों की कोई सीमा न थी तो भी काश्मीर के पंडित सरस्वती की सेवा करते रहे। यह देश संस्कृत-पंडितों का घर माना जाता है। अराजकता के सम्मुख विद्वानों ने अपना सिर नहीं झुकाया। वे अपने ऊँचे आदर्श का पालन करते रहे। नवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक काश्मीर में संस्कृत के महान् विद्वान्

तथा कवि पैदा हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से संस्कृत साहित्य का भण्डार भरा। उनके ग्रंथों को आज भी साहित्य में महत्त्व प्राप्त है। नवीं सदी में अवन्ति-वर्मन् का शासन काश्मीर के इतिहास में साहित्य तथा कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'स्वर्ण-युग' माना जाता है। उसका सभापंडित शिवस्वामी एक महान् कवि था। रत्नाकर भी उसके आश्रय में था। उसके मंत्री सूर्य ने सार्वजनिक लाभ के लिये नहरें खुदवायीं और मन्दिर बनवाये। अवन्तिवर्मा के समय में कई नगर बसाये गये। संस्कृत साहित्य में क्षेमेन्द्र का नाम प्रसिद्ध है। उस अद्वितीय कवि ने कई ग्रंथों की रचना की जिससे साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। १२वीं सदी में, जयसिंह के समय में, कल्हण ने राजतरंगिणी नामक महान् ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा था जिसमें काश्मीर का इतिहास वर्णित है। इस ग्रंथ में ९वीं सदी से १२वीं सदी तक का विस्तृत इतिहास मिलता है परन्तु उससे पूर्व का विवरण अधूरा है। ललितादित्य तथा अवन्तिवर्मन् के शासनकाल में बनाये गये मन्दिर आज भी काश्मीर की उत्तम कला का प्रमाण देते हैं। ललितादित्य के शासनकाल में निर्मित सूर्य-मन्दिर सर्वप्रसिद्ध है। शिव तथा विष्णु के भी अनेक मन्दिर बनाये गये। राजा ने भूखों को भोजन तथा प्यासों को पानी देने के लिये विभिन्न स्थान निश्चित किये थे। कहने का तात्पर्य यह कि यद्यपि काश्मीर में इने-गिने ही शासक हुए जो सच्चे प्रजापालक थे और देश को उन्नति की ओर ले गये फिर भी अधिक समय तक काश्मीर में अराजकता तथा अशान्ति रही। इसको देखते हुए काश्मीर में संस्कृत साहित्य की श्रीवद्धि आश्चर्यचकित करती है।

(ख) नैपाल के शासकगण

हिमालय प्रदेश की रियासतों में नैपाल सदा से पृथक् रहा है। काश्मीर तो भारत का अंग बना रहा और वहाँ प्राचीन समय में आर्य लोग बसते रहे; परन्तु नैपाल में उनसे भिन्न मंगोलियन जाति के लोग बसते थे। एक समय था जब यह देश तिब्बत अथवा चीन के अधीन था। नैपाल के मूलनिवासी आर्य नहीं हैं। भारत से ब्राह्मण और क्षत्रिय धर्म तथा संस्कृति के प्रचार के लिये, वहाँ गये थे। उस समय से भारतीय नरेश का अधिकार नैपाल पर हो गया। यह देश हिमालय की हिम से आच्छादित शृंखलाओं तथा सिवालिक पर्वत से घिरा है। इसलिये यहाँ कोई बाहरी शत्रु पहुँच न सका। इस पर्वतीय प्रदेश में स्थान-स्थान पर नदियों की उपजाऊ घाटियाँ हैं जिनमें वहाँ के लोग रहते हैं।

नैपाल के इतिहास की जानकारी अधिक नहीं है । कारण यह है कि वंशावली तथा कुछ शिला-लेखों के अतिरिक्त वहाँ कोई अन्य साधन या ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। प्राचीन काल में नैपाल अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था परन्तु उस समय से लेकर गुप्तकाल के आरम्भ तक वहाँ के इतिहास की जानकारी नहीं मिलती। प्रयागवाले शिला-लेख में नैपाल गुप्त साम्राज्य के सीमा-प्रान्तों में उल्लिखित है । 'समतटऽवाककामरूप नेपाल कर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिः ।' सम्भवतः तत्कालीन लिच्छवी-वंश का राज्य वहाँ था। छठी सदी में नैपाल के शासक अंशुवर्मन् का नाम मिलता है जिसके बारे में ह्वेनसांग ने लिखा है । उसके लेखों से पता चलता है कि अंशवर्मन् सर्वप्रथम लिच्छवी राजा शिवदेव का मंत्री था इसलिये सामंत की पदवी से विभूषित किया गया है । अन्य लेखों में अंशुवर्मन् महाराजाधिराज कहा गया है। यह वंश ठाकूरी वंश के नाम से विख्यात हुआ जिसका आदिपुरुष अंशुवर्मन् माना जाता है। इससे प्रकट होता है कि कुछ समय बाद अंशुवर्मन् स्वतंत्र होकर शासन करने लगा । विद्वानों का मत है कि ७वीं सदी के आरम्भ में हर्षवर्धन ने नैपाल को जीता और वहाँ हर्ष संवत् का प्रचार किया था। परन्तु डा० त्रिपाठी का मत है कि हर्ष ने कभी नैपाल पर विजय नहीं प्राप्त की। उसके समय में नैपाल तिब्बत के अधीन था । ८वीं सदी के अन्त तक लिच्छवी-वंश का शासन नैपाल में था । उस वंश का सब से प्रसिद्ध राजा शिवदेव था जिसके विषय में कई बातें ज्ञात हैं। वह बौद्ध मतानुयायी था । उसने मगध के राजा आदित्यसेन की पौत्री से शादी की । इस प्रकार लिच्छवी वंश का शासन ८वीं शताब्दी तक चलता रहा। ९वीं सदी से एक राजपूतवंश ने स्वतंत्रता के साथ नैपाल में शासन आरम्भ किया। नैपाल के पूर्व राजा भी क्षत्रिय थे। परन्तु राजपूत वंश के बारे में ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह कहाँ से आया । सम्भवतः राजपूताने पर मुसलमानों के आक्रमण होने पर राजपूत वहाँ से भाग कर नैपाल के पर्वतीय प्रदेश को सुरक्षित देख कर, वहाँ रहने लगे । इन लोगों ने एक नया संवत् चलाया जिसे नैपाली संवत् कहते हैं । इन राजपूत राजाओं के बारे में अधिक जानकारी नहीं है परन्तु वर्तमान काल में ये अपने को चित्तौड़ के शिशोदिया वंश से सम्बन्धित बतलाते हैं । शिशोदिया वंशवाले राजपूत नैपाल में १२वीं सदी के बाद गये। अतः उन राजपूतों का वर्तमान गोरखा वंश से किसी प्रकार का जातीय सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता ।

नैपाली पंडितों ने जो वंशावली लिखी है उसपर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। काश्मीरी पंडितों की तरह ये विद्वान् न थे परन्तु शिव के पुजारी थे। नैपाल में भगवान् पशुपति नाथ का स्थान अत्यन्त प्राचीन है। वहाँ के लोग शिव के भक्त हैं। बुद्ध धर्म का भी वहाँ काफी प्रचार था। लेकिन यह कहना कठिन है कि नैपाल में शिवपूजा प्राचीन है या बौद्ध धर्म। वहाँ के लेखों में वर्णन मिलता है कि शासक मन्दिर तथा मठ बनाने के लिये सदा दान दिया करते थे। अतएव वहाँ के राजाओं में धार्मिक सहिष्णुता की भावना थी। बौद्धधर्म का तांत्रिक रूप नैपाल में दिखलायी पड़ता है। हिन्दू मूर्तिपूजा का भी उनपर प्रभाव पड़ा। देवीपूजा के अनुकरण पर तारा नामक देवी की प्रतिष्ठा नैपाल में बढ़ी। परन्तु पशुपतिनाथ के सामने किसी अन्य देवता की पूजा वहाँ नहीं के बराबर थी। मध्यकाल के बाद राजपूताने से राजपूत सरदार वहाँ जाते रहे। मध्यकालीन इतिहास में ठाकूरी वंश के अतिरिक्त राजपूतों की प्रधानता न थी जो सम्भवतः नैपाल में राज्य करते रहे।

(स) आसाम के शासक

प्राचीन समय में हिमालय का तीसरा प्रदेश कामरूप (वर्तमान आसाम) के नाम से विख्यात था। वर्तमान प्रान्त से उस समय आसाम की सीमा विस्तृत थी जिसमें उत्तरी बंगाल का भाग तथा भटान भी सम्मिलित था। आसाम के प्राचीन इतिहास के बारे में अधिक ज्ञात नहीं है। गुप्तकालीन प्रयाग की प्रशस्ति में सीमा-राज्यों में कामरूप का भी नाम आता है। उसके पश्चात् मध्यकाल तक का इतिहास सर्वथा अज्ञात है। छठी शताब्दी के निधानपुर वाले लेख में कामरूप के राजा का नाम भास्करवर्मन् मिलता है जहाँ चीनी यात्री ह्वेनसांग भी गया था। भास्करवर्मन् के पिता का नाम सुस्थितवर्मन् था जो बंगाल (गौड़) के राजा शशांक से डरा करता था। इस कारण भास्करवर्मन् ने उसके शत्रु कन्नौज के राजा हर्षवर्धन से मित्रता कर ली थी। भास्करवर्मन् समय-समय पर हर्ष की राजसभा में आता-जाता था। जब ह्वेनसांग आसाम में गया था तो शासक ने उसका अच्छा स्वागत किया था। बंगाल पर हर्ष की विजय के समय कर्णसुवर्ण पर भास्करवर्मन् ने अधिकार कर लिया। परन्तु वह भाग कब तक आसाम में सम्मिलित रहा, यह कहा नहीं जा सकता। भास्करवर्मन् के उत्तराधिकारियों के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भवतः किसी स्थानीय सरदार ने विद्रोह कर राज्य-

भार अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार नवीं सदी तक इस वंश का शासन चलता रहा परन्तु उसके बारे में कुछ विशेष रूप से कहा नहीं जा सकता। आसाम का एक शासक श्रीहर्ष प्रसिद्ध है जो आठवीं सदी के मध्य में वहाँ राज्य करता रहा। कहा जाता है कि उसने कलिंग तथा कोशल राज्यों को जीता था परन्तु उसका प्रमाण नहीं मिलता। उसी समय बंगाल के पाल नरेश प्रदेशों पर विजय पा रहे थे। देवपाल ने (८१५–५५ ई० में) प्राग्ज्योतिष (आसाम) पर आक्रमण किया था और उसे सफलता भी मिली। इसी तरह बारहवीं सदी तक पाल-वंश का प्रभुत्व आसाम पर बना रहा और उसके मंत्री शासन का भार सँभालते रहे। आसाम की ऐसी भौगोलिक परिस्थिति थी कि मुसलमान आक्रमणकारी वहाँ पहुँच न सके। इससे पूर्व मध्यकाल तक वहाँ मुसलमानों का राज्य स्थापित न हो सका। उस समय आसाम में हिन्दू तथा बौद्ध तांत्रिक मतों का खूब प्रचार था। कामाख्या शक्ति की उपासना के लिये प्रधान स्थान माना जाता है। यहाँ पर मंगोलियन जाति की प्रधानता रही। शनैः शनैः इनमें धर्म का प्रचार हो गया।

आठवाँ अध्याय

राजपूतों का उदय तथा शासन

वर्तमान राजपूताने का नामकरण ही यह बतलाता है कि इस भूभाग में किसी समय राजपूत रहा करते थे। बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि राजपूत शब्द प्राचीन नहीं है। उसका प्रयोग मध्यकाल से होने लगा था। प्राचीन भारतीय समाज में चार वर्णों का नाम लिया जाता है, जिसमें क्षत्रिय शासक का काम करते थे। परन्तु मध्यकाल से अधिकतर शासक राजपूत राजा कहलाने लगे। इस काल से पूर्व लोग राजपूत शब्द से अपरिचित थे। इस बात पर विद्वानों में गहरा मतभेद है। सभी एकमत नहीं हो सके हैं कि राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रिय जाति के वंशज थे या नहीं। अधिकतर पश्चिमी विद्वान् यह कहते आये हैं कि मध्यकाल से पूर्व जो शक तथा हूण जातियाँ बाहर से आयीं और हिन्दू धर्म में मिल गयीं, उन्हीं को शुद्ध करके राजपूत बनाया गया था। शुद्ध क्षत्रिय जाति से उनका कोई सम्बन्ध न था। विदेशी हूण आदि सरदारों से उच्च राजपूतवंशों की उत्पत्ति हुई। उन लोगों ने हिन्दू-धर्म तथा समाज को अपना लिया और अपना सम्बन्ध प्राचीन वीरों से जोड़ लिया। परन्तु इस विचार से हम सहमत नहीं हो सकते। इसका मूल कारण यह है कि जिस आधार पर राजपूतों को विदेशी माना गया है वही ठीक नहीं है।

जो विद्वान् राजपूतों को विदेशी (बाहर से आनेवाली) जाति मानते हैं वे प्रमाणस्वरूप भाट तथा चन्द लिखित उद्धरण उपस्थित करते हैं जिनसे पता चलता है कि राजपूतों के चार वंश—परमार, प्रतिहार, चौहान और चालुक्य—अग्निकुल से उत्पन्न हुए यानी विदेशियों को अग्नि के द्वारा शुद्ध करके राजपूत बना लिया गया। यदि समस्त प्रमाणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

अग्निकुल से वंशों के उत्पन्न होने की बात कवि की थोथी कल्पना है। नवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक के अनेक लेखों में उन वंशों को सोम या सूर्यवंशी कहा गया है। चहमान, परमार तथा प्रतिहार लेखों में राजा को

सूर्यवंशी कहा गया है। 'हम्मीर महाकाव्य' में भी चौहान सूर्यवंशी कहे गये हैं। चालुक्य-लेखों में सोमवंश का बार-बार उल्लेख मिलता है। १२वीं सदी के बाद कवियों तथा भाटों ने इन वंशों को अग्निकुल से उत्पन्न बतलाया है। इससे पहले का कोई प्रमाण नहीं मिलता। १३वीं सदी के बाद उस वंश के भाटों ने सोम-सूर्यवंश से उत्पत्ति तथा पूर्वजों की प्रशस्तियों (९वीं से १२वीं सदी तक) में आये उल्लेखों को भुलाकर राजपूत राजाओं को अग्निकुल से उत्पन्न बतलाया है। इसी लिये यह कहा जाता है कि पूर्व लेखों के प्रमाणों को न मानकर पीछे की कवि-कल्पना को सत्य मानना युक्तिसंगत नहीं है। चौहान, परमार, चालुक्य तथा प्रतिहार वंश विदेशी नहीं माने जा सकते। वशिष्ठ द्वारा अग्निकुल से उत्पन्न करने की बात सर्वथा कल्पित मानी जा सकती है। इन राजपूतवंशों का विदेशियों से कोई सम्बन्ध न था। ये प्राचीन आर्य क्षत्रियवंश के थे। और शारीरिक बनावट में आर्यों से मिलते-जुलते थे। अतः यह कहना स्वाभाविक हो जाता है कि राजपूत वैदिक आर्यों के ही वंशज थे। नवीं सदी के आरम्भ से इनका शासन राजपूताने से सम्बन्धित था, पर बाहर के स्थानों में भी जाकर इन्होंने राज्य किया। गुर्जर प्रतिहार वंश के नष्ट हो जाने पर १०वीं सदी से उस राज्य के अनेक सामन्तों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। छोटी राजपूत रियासतों ने बढ़ कर राज्य का रूप धारण कर लिया और मार्ग में रुकावट न होने से अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। मुसलमान विजेताओं का भी ध्यान उन पर था, इस कारण राजपूत राजाओं पर भी आक्रमण किया जिससे उस शक्तिशाली क्षत्रिय जाति से पीछा छूटे।

१ मालवे का परमारवंश

परमार वंश का उदय भी अग्निकुल से बताया जाता है। इसका उल्लेख परमार वंश के ११वीं सदी के लेख में मिलता है। किन्तु यह प्रशस्ति बहुत पीछे की है अतएव उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। भारतीय विद्वानों की राय में परमार राष्ट्रकूट वंश की एक शाखा थी, यद्यपि उनके लेखों में राष्ट्रकूट से सम्बन्ध की बात नहीं कही गयी है। परन्तु अनुमान किया जाता है कि दोनों वंशों (राष्ट्रकूट तथा परमार) में शत्रुता होने के कारण प्रशस्तिकारों ने उस सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया। जिस भाग—गुजरात, मालवा तथा दक्षिणी राजपूताना—पर परमार वंश ने दसवीं सदी से राज्य

स्थापित किया उसपर नवीं सदी में प्रतिहारों का राज्य था। इस भाग के लिये राष्ट्रकूट तथा प्रतिहारवंशों का डेढ़ सौ वर्ष तक युद्ध चलता रहा। इसी युद्ध के कारण प्रतिहारों ने अपनी राजधानी मालवा से कन्नौज कर दी। राजधानी के परिवर्तन से भी प्रतिहार राजाओं ने गुजरात तथा मालवा के भौगोलिक महत्त्व को ध्यान से नहीं हटाया। १०वीं सदी के पूर्व भाग तक गुर्जर-प्रतिहार शासक का राज्य मालवा तक फैला था। परन्तु राष्ट्रकूट इन्द्र ने कन्नौज तक आक्रमण कर प्रतिहारों के दक्षिण में फैले प्रताप को समाप्त कर दिया। राष्ट्रकूट शासकों ने गुजरात को जीतकर उस प्रान्त पर अपना गवर्नर नियुक्त किया। उनके लेख से पता चलता है कि गुजरात में सियक नामक गवर्नर नियुक्त किया गया था। परमार वंश के आदिपुरुष वाक्पति से इसकी समता की जाती है। कुछ लोगों का अनुमान है कि परमार वंश के आदि व्यक्ति का नाम उपेन्द्र था जिसका वर्णन पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' में मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति से इस बात की पुष्टि होती है। इससे पता चलता है कि वाक्पतिराज उपेन्द्र की कई पीढ़ियों बाद पैदा हुआ था। सियक वाक्पति से पूर्व परमार वंश का शासक और एक ऐतिहासिक पुरुष था। उसके शासन-काल में प्रतिहारवंश का अन्त हो रहा था, अतः सियक ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसके बाद वाक्पतिराज परमारवंश का प्रधान व्यक्ति तथा शक्तिशाली शासक था। राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय के उत्तरी भारत के आक्रमण में वाक्पतिराज ने पूरा सहयोग दिया था। प्रायः ९३० ई० के लगभग कन्नौज के प्रतिहार वंश की अवनति हो रही थी। उसी समय से दक्षिण भारत पर उनका राज्य समाप्त हो गया और वाक्पतिराज गुजरात तथा मालवा का मालिक हो गया। इन्दौर की प्रशस्ति में वाक्पति के लिये 'अमोघवर्ष-देवापराभिधान वाक्पतिराजदेव पृथ्वीवल्लभ श्रीवल्लभ नरेन्द्रदेवः' की लम्बी उपाधि मिलती है। वल्लभ की उपाधियों तथा अमोघ-वर्ष के नाम से प्रकट होता है कि परमार राष्ट्रकूटवंश की एक शाखा थी। नागपुर के एक लेख में इस राजा के लिये मुञ्जराज की उपाधि मिलती है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' ग्रंथ में भी इस पदवी का उल्लेख पाया जाता है। वाक्-पतिराज ने शक्ति का संगठन करके विजय करना आरम्भ कर दिया। उदयपुर की प्रशस्ति से पता चलता है कि उसने करनाट, लाट, केरल, चोल आदि राजाओं को परास्त किया था। इस तरह सन् ९९७ ई० के लगभग उसने अनेक राजाओं को हराकर शक्तिशाली विजेता का नाम धारण कर लिया।

तत्कालीन लेखों में वाक्पति के युद्ध तथा विजय का वर्णन पाया जाता है जिससे प्रकट होता है कि मालवा, गुजरात तथा राजपूताना प्रान्त में इस परमार राजा की प्रसिद्धि हो गयी थी और उसका प्रभाव व्याप्त हो गया था।

साहित्यिक ग्रंथों तथा लेखों से प्रकट होता है कि वाक्पति मुञ्ज योग्य सेनानायक के अतिरिक्त उच्च श्रेणी का कवि तथा विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उदयपुर की प्रशस्ति में उसे शास्त्रज्ञ तथा ऊँची श्रेणी का कवि कहा गया है। पद्मगुप्त ने वाक्पतिराज को सरस्वती का सेवक बतलाया है तथा उसकी रचनाओं का उल्लेख भी किया है। इन सब प्रमाणों से राजा के प्रखर बुद्धि-सम्पन्न तथा विद्यासेवी होने की बात सत्य मालूम पड़ती है।

अन्तिम समय (१०वीं सदी के अन्त) में कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप ने मुंज पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि चालुक्य राजा के मंत्री ने अपने स्वामी को विद्वान् परमार राजा मुंज पर चढ़ाई करने से रोका था परन्तु तैलप ने उसकी एक न सुनी। उसने मुंज को जीत कर कैदी बना लिया। जनश्रुति से पता चलता है कि तैलप की पुत्री से परमार राजा का गुप्त रीति से विवाह तय हो गया था परन्तु पता चलने पर चालुक्य शासक ने मुंज को मरवा डाला। इस तरह ९९४ ई० के लगभग मुंज का नाता इस संसार से टूट गया।

वाक्पतिराज ने जब गोदावरी के किनारे तैलप से मकाबिला किया था तभी सिद्धराज को युवराज बना दिया था। जैन ग्रंथों से पता चलता है कि मुंज के पश्चात् शासन-प्रबन्ध सिद्धराज के हाथ में आ गया था। इस बात की पुष्टि प्रशस्तियों तथा पद्मगुप्त द्वारा रचित ग्रंथ से भी होती है। उदयपुर के लेख में मुंज के उत्तराधिकारी सिद्धराज का नाम आता है। उसी प्रसंग में सिद्धराज द्वारा किसी हूण राजा के परास्त किये जाने का वर्णन मिलता है। सिद्धराज को नवसाहसांक भी कहा जाता था। इस कारण पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने राजा के जीवन की मुख्य घटनाओं का उल्लेख किया है। उसमें नागकन्या शशिप्रभा से राजा के विवाह का सुन्दर वर्णन मिलता है। पद्मगुप्त के कथन से पता चलता है कि सिद्धराज ने हूण राजा लाट तथा कोशल (कलचूरी) के नरपति को युद्ध में परास्त किया था। यद्यपि इस राजा के समय का कोई लेख नहीं मिलता परन्तु 'नवसाहसांकचरित' के आधार पर ज्ञात होता है कि राजा ने

थोड़े समय (७ या ८ वर्ष) तक राज्य किया। इसके बाद उसका पुत्र भोजदेव परमार गद्दी पर बैठा।

परमार राजा भोजदेव के अनेक शिलालेख मिले हैं जिनकी तिथियों से पता लगता है कि उसने १०२०–१०४० ई० तक राज्य किया था। अल-बेरूनी ने भी लिखा है कि १०३० ई० में मालवे का राजा भोजदेव धारा नगरी में शासन करता था। परमारवंश के सब लेखों में भोजदेव की प्रशंसा ही प्रशंसा मिलती है। उदयपुर के लेख से प्रकट होता है कि इस राजा ने कैलाश से मलय पर्वत (दक्षिण) तक तथा पूर्व से पश्चिम तक समस्त प्रान्तों को जीत लिया था। करनाट, लाट, गुर्जर, चेदि आदि नरेश उसकी सेनाओं से पददलित कर दिये गये थे। धार के एक लेख में राजा को सार्वभौम की पदवी दी गई है। उसने तत्कालीन प्रसिद्ध कलचूरी राजा गांगेयदेव को परास्त कर यश प्राप्त किया था। अपने पिता के परम शत्रु चालुक्य राजा को जीतकर भोजदेव ने अपने को शान्त किया। परमार राजा भोजदेव की शक्ति तथा प्रभाव अधिक प्रदेशों में फैल गया था। कहा जाता है कि जब महमूद की सेना ने ग्वालियर तथा बुंदेलखण्ड पर आक्रमण किया था तो भोजदेव ने उसे (तुरुष्क को) परास्त किया था। सम्भवतः भोजदेव ने बुंदेलखण्ड के चन्देलों तथा ग्वालियर के शासकों से मित्रता स्थापित कर ली थी। इसी कारण गजनवी से सामना करने में उसे कठिनाई का अनुभव न करना पड़ा। इस तरह प्रारम्भ में श्री ने भोजदेव का साथ दिया था परन्तु वह स्थायी न हो पाया। थोड़े समय के पश्चात् चालुक्य सोमेश्वर ने अपनी हार का बदला चुका दिया। 'विक्रमांकदेवचरित' में एक स्थान पर वर्णन आता है कि सोमेश्वर ने (१०४४–६८ ई०) धारा नगरी पर आक्रमण कर भोजदेव को परमार राजधानी से भागने के लिये बाध्य किया था। इसी प्रसंग में करनाट तथा कलचूरी राजा की सम्मिलित सेना ने भोज को नीचा दिखलाया था। जैन इतिहासकारों ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है कि धारा नगरी का राजा भोजदेव चालुक्य भीम तथा कलचूरी राजा कर्ण द्वारा मारा गया था। युद्ध में भोजदेव के मारे जाने पर लक्ष्मीकर्ण की सेना ने धारा नगरी को ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार भोजदेव का दुःखद अन्त हो गया।

भारत के मध्यकालीन इतिहास में परमार राजा भोजदेव की ख्याति विजेता होने के नाते उतनी नहीं है जितनी भारतीय कला तथा साहित्य के भण्डार को भरनेवाले के रूप में है। उसे कविराज कहा जाता था। कहा

जाता है कि भोजदेव ने विभिन्न विषयों पर अनेक पुस्तकों की रचना की थी। आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, अलंकार, कला तथा कोष-संबंधी पुस्तकें लिखी गयीं। परन्तु भोजदेव के लगातार युद्ध में फँसे रहने के कारण यह सन्देह किया जाता है कि राजा को इन विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखने का अवसर कैसे मिला। यह अधिक सम्भव है कि भोजदेव के दरबारी विद्वानों ने उन ग्रंथों को लिखा हो और महाराजाधिराज भोज के नाम से उनका सम्बन्ध कर दिया हो। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसकी राज-सभा में पण्डितों का जमघट था। विद्याप्रेमी राजा के आश्रय में रहकर उन विद्वानों ने समस्त विषयों पर ग्रंथ लिखे, यहाँ तक कि तत्कालीन सुन्दर कविताएँ प्रस्तरशिला पर उत्कीर्ण मिली हैं। कहने का तात्पर्य यह कि परमार राजा भोजदेव के समय में साहित्य, कला तथा विज्ञान विषयक पुस्तकें लिखी गयीं। इसी कारण धारा नगरी प्रसिद्ध है। राजा भोजदेव का नाम पर-मार वंश में सबसे अधिक विख्यात है। कलाप्रेमी होने के कारण भोज ने विशाल मन्दिरों तथा भवनों का निर्माण भी कराया था।

१०६० ई० के लगभग भोजदेव की मृत्यु के पश्चात् चालुक्य राजा तथा कलचूरी शासक के बीच धारा नगरी के धन के बटवारे के लिये झगड़ा खड़ा हो गया। भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह पहले कलचूरी लक्ष्मीकर्ण के अधीन था परन्तु भीम तथा कर्ण के झगड़े से लाभ उठा कर वह चालुक्य राजा की शरण में चला गया। तब उसने धारा नगरी से सेना हटा कर जयसिंह को गद्दी पर बिठा दिया। यह राजा अधिक समय तक शासन न कर सका। उसके शासनकाल की किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं मिलता।

जयसिंह के पश्चात् परमार राज्य का शासन उदयादित्य को सौंपा गया। चालुक्य राजा की सहायता से लक्ष्मीकर्ण परास्त किया गया और मालवे में शान्ति हो गयी। राजा ने अपने सामन्तों को अच्छे पद देकर प्रतिष्ठित किया और पड़ोसी गोभिलपुत्र विजयसिंह से अपनी पुत्री श्यामल देवी का विवाह कर दिया। इससे उत्पन्न अल्हण देवी कलचूरी गया कर्ण से ब्याही गयी थी। इस प्रकार १०८८ ई० तक मालवा में शान्ति हो गयी। परमारवंश का यह अन्तिम शासक था। इसके लेखों में राजा के प्रभुत्व का वर्णन मिलता है।

दो पीढ़ियों के बाद परमारवंश का प्रभाव नाममात्र का रह गया। उज्जैन तथा धारा से कुछ दूर पर ही सामंत स्वतंत्र हो गये। इस कारण १२वीं

सदी के आरम्भ में चालुक्य जयसिंह ने परमारवंश की बची हुई प्रतिष्ठा छीन ली। अवन्ति भी परमार-शासकों के हाथ से चली गयी। चालुक्य-प्रशस्ति-कार तथा जैन इतिहासकारों ने लिखा है कि १२वीं सदी के मध्य तक अवन्ति, मालवा तथा धारा नगरी का शासक बल्लाल हो गया था। अतएव डेढ़ सौ वर्ष के शासन के पश्चात् चालुक्य राजाओं के हाथ में परमार-वंश का अन्त हो गया।

२ चालुक्य (सोलंकी) वंश

कई बार कहा जा चुका है कि गुर्जर प्रतिहार के राज्य का अन्त हो जाने पर कई छोटे राज्यों का उदय हो गया जिन्होंने कालान्तर में अपना प्रभाव तथा शक्ति का क्षेत्र बढ़ाया। गुजरात और काठियावाड़ में ९वीं शताब्दी तक गुर्जर प्रतिहारों का शासन था। प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूट नरेशों में पारस्परिक युद्ध के कारण अन्य लोगों को सिर उठाने का अवसर मिल गया। १०वीं सदी के मध्य भाग तक यह युद्ध चलता रहा। पारस्परिक झगड़े में दोनों शासकों की हानि हुई। प्रतिहारों के बाद गुजरात तथा काठियावाड़ प्रान्त से राष्ट्रकूट राजाओं का भी प्रभाव जाता रहा। ९७३ ई० के लगभग राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की मृत्यु हो गयी। अतएव राष्ट्रकूट शासन की अवनति के समय गुजरात में चालुक्य शासन का उदय हुआ।

चालुक्य-वंश की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। दक्षिण भारत के (कल्याणी) चालुक्य से इस वंश का सम्बन्ध स्थिर नहीं हो पाया है। गुजरात के ऊन नामक स्थान से प्राप्त दानपत्र में प्रतिहारों के चालुक्य सामंत का उल्लेख मिलता है। इसी की पुष्टि महीपाल (प्रतिहार नरेश) के हदल दानपत्र से की जाती है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि चालुक्य सामंत काठियावाड़ तथा गुजरात में शासन करते थे। इन लेखों में मूलराज का नाम मिलता है जिसने अनहिल पाटन में एक राज्य कायम किया था। इसी को चालुक्यवंश का आदिपुरुष संस्थापक मानते हैं। इसका पिता राजी महाराजा-धिराज की पदवी से विभूषित किया गया था। वह कन्नौज से आकर गुजरात में प्रतिहारों का गवर्नर बन कर कार्य करता था। परन्तु उसके पुत्र मूलराज ने राष्ट्रकूट तथा प्रतिहार राज्यों को नष्ट होते देख कर सरस्वती नदी की घाटी में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। मूलराज ने अनहिलवाड़ को स्थानीय चावड़ा सरदारों से छीन कर उसे अपनी राजधानी बनाया।

जैन इतिहासकारों ने यह लिखा है कि मूलराज ने शक्ति संचय कर सरस्वती की घाटी से बाहर पूर्व, पश्चिम और उत्तर में राज्य का विस्तार किया था। इन आक्रमणों में साकम्बरी के चौहान विग्रहराज तथा लाट के राजा वारप्पा से मूलराज ने मुकाबिला किया। मूलराज ने कच्छ तथा सौराष्ट्र के आभीर सरदार को भी हराया था। इसी घटना का वर्णन हम्मीर महाकाव्य में दूसरे ढंग से मिलता है कि चौहान विग्रहराज द्वारा गुजरात का चालुक्य राजा मूलराज पराजित किया गया था।

चालुक्य राजा मूलराज शासन के अन्तिम दिनों में भक्ति तथा धार्मिक कार्य में समय व्यतीत करता रहा। उसने ब्राह्मणों को दान देने तथा विशाल मन्दिर बनवाने में पर्याप्त धन व्यय किया। चालुक्य लेखों के आधार पर पता लगता है कि मूलराज प्रायः पचास वर्ष तक राज्य करता रहा। इसके वास्तविक उत्तराधिकारी का पता नहीं लगता। क्योंकि उसके मरने के बाद पचीस वर्ष तक कोई शासक नहीं रहा। उस अवधि के बाद भीम प्रथम का नाम लिया जाता है। मुसलमान इतिहासकार बतलाते हैं कि चालुक्य राज्य की पश्चिमी सीमा सिन्ध प्रान्त तक फैली हुई थी। मूलराज के बाद चामुण्ड तथा वल्लभराज चालुक्य राज्य के शासक हुए। परन्तु उनके बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं। सम्भवतः १०७८ ई० के लगभग भीम प्रथम गद्दी पर बैठा। मुसलमान इतिहासकार उसका शासनकाल ४२ वर्ष मानते हैं। चालुक्य राजा भीम ने परमार भोज से मैत्री स्थापित की थी परन्तु भोज के कारण वह मैत्री स्थिर न रह सकी। परमार राजा पहली बार गुजरात पर आक्रमण कर दक्षिण की ओर मुड़ गया था। दूसरी बार परमार सेना ने अनहिल पाटन (वर्तमान पटन) को नष्ट किया। चालुक्य क्रोध से भरे थे पर भीम प्रथम को इसका बदला लेने या भोज पर आक्रमण करने का अवसर न मिल सका। कलचूरी राजा लक्ष्मीकर्ण ने जिस समय परमार राजा पर चढ़ाई की थी, उसने भीम को मालवे पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया था। सन् १०२५ ई० में महमूद ने सोमनाथ के सिलसिले में अनहिलवाड़ (चालुक्य-राजधानी) को घेर लिया था। कहा जाता है कि भीम इससे इतना डर गया कि मुसलमान सेना का मुकाबिला न कर, भाग कर छिप गया। सोमनाथ पर चढ़ाई कर महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला और वह लूट का सारा धन गजनी उठा ले गया। महमूद के इस आक्रमण का विशेष वर्णन अरबी पुस्तक 'तारीखुल कामिल' में भी मिलता है। महमूद के

इस आक्रमण का स्थायी प्रभाव गुजरात पर न रह सका। मुसलमान सेना तथा सुल्तान के चले जाने पर भीम ने चालुक्य शक्ति को पुनः जागृत किया। इसके बाद परमार भोज से लड़ाई हुई और अन्त में कलचूरी राजा की सहायता से मालवे (परमार राज्य) को जीत सका। यह कलचूरी तथा चालुक्य मैत्री थोड़े दिनों के बाद ही समाप्त हो गयी और अन्त में भीम ने कर्ण को परास्त कर दिया। पारस्परिक झगड़े के कारण परमार लोगों ने समय पाकर मालवे पर पुनः अधिकार कर लिया।

उस समय की राजनैतिक घटनाओं के भविष्य की ओर किसी की दृष्टि न थी। महमूद द्वारा सोमनाथ के ध्वंस करने पर भी हिन्दू राजाओं की आँखें न खुलीं। सभी अपनी शक्ति के मद तथा विजय के घमण्ड में चूर थे। भीम को भी आनेवाले बुरे दिनों का आभास न मिल सका।

भीम का पुत्र कर्ण भी पिता की तरह अदूरदर्शी था। यद्यपि उसने काफी दिनों तक (१०६३—९३ ई०) राज्य किया परन्तु उसके शासनकाल में कोई भी घटना उल्लेखनीय नहीं है। परमार राजा ने कर्ण को शक्तिहीन समझ कर चढ़ाई कर दी थी। उदयादित्य के द्वारा चालुक्य राजा हार गया। कर्ण के पराजित होने का विशेष कारण था। धार्मिक कार्यों में फँसे रहने के कारण वह राजकाज में अधिक मन न लगा सका और जैसा हम्मीर महाकाव्य में लिखा है कि चौहान राजा ने कर्ण को सरलता से मार डाला था।

सन् १०९४ ई० के लगभग उसका पुत्र जयसिंह सिद्धराज गद्दी पर बैठा। वह चालुक्यवंश का सब से प्रतापी राजा था। 'प्रबंध-चिन्तामणि' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जयसिंह ने पचास वर्ष तक राज्य किया था। जिस समय छोटी उम्र में वह गद्दी पर बैठा उस समय उसकी माता मयणल्लदेवी के हाथ में शासन का भार था। कहा जाता है कि महमूद के आक्रमण के बाद सोमनाथ-तीर्थयात्रा के लिये रानी ने सभी कर हटा दिये थे।

गद्दी पर बैठने के बाद जयसिंह ने अनेक प्रदेशों को जीत कर चालुक्य राज्य को खूब बढ़ाया। जयसिंह एक पराक्रमी योद्धा था। उसके जो लेख गुजरात, काठियावाड़ तथा मध्य भारत से मिले हैं वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उन प्रदेशों पर जयसिंह सिद्धराज का अधिकार हो गया था। इसी प्रसंग में सौराष्ट्र के आभीर राजा को परास्त कर उसने अपना गवर्नर

नियुक्त किया था। जब जयसिंह सोमनाथ की यात्रा के लिये गया था, परमार राजा यशोवर्मन् ने अवसर देख कर गुजरात पर आक्रमण कर दिया। वहाँ से लौटने पर परमार तथा चालुक्य राजाओं में कई वर्ष तक युद्ध होता रहा पर अन्त में धारा नगरी में जयसिंह की सेना प्रवेश कर गयी और यशोवर्मन् पकड़ लिया गया। 'कुमारपालचरित' तथा 'वसन्तविलास' नामक साहित्यिक ग्रंथों में चालुक्य राजा की विजय का वर्णन मिलता है कि जयसिंह ने परमार-राजधानी धारा नगरी को नष्ट कर दिया था। चालुक्य-लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। जयसिंह का ध्यान धारा-माण्डू राजमार्ग की ओर था जिसके द्वारा उसकी सेना स्वतंत्र रूप से आ-जा सकती थी। परमार-राज्य पर अधिकार करने से यानी मालवा तथा दक्षिणी राजपूताना पर अधिकार हो जाने पर जयसिंह चन्देल तथा कलचूरी राज्यों के सम्पर्क में आ गया। इसका फल पारस्परिक युद्ध था। 'कुमारपालचरित' के वर्णन से ज्ञात होता है कि जयसिंह ने चन्देल राजा मदनवर्मन् को युद्ध में हराया था और कालिंजर तक धावा बोल दिया था। इस युद्ध से कोई विशेष लाभ उसे नहीं हुआ। इसी सिलसिले में चालुक्य राजा जयसिंह ने कलचूरी गोविन्दचन्द्र देव से मैत्री की थी।

इस प्रकार युद्ध में जयसिंह का सारा जीवन व्यतीत हुआ। लड़कपन से धार्मिक कार्य में उसका मन लगा रहता था। उसने कितने ही मन्दिर तथा भवन बनवाये थे। उसमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना काम करती थी। इस कारण शैव होने पर भी अन्य मत के प्रचार में वह सहायता करता था। राज्य के विभिन्न मतों में शास्त्रीय वाद विवाद हुआ करता था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार के जैन आचार्य हेमचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जयसिंह का राज्यकाल चालुक्य वंश के लिये अच्छा था। उसके समय में आन्तरिक शान्ति के अतिरिक्त राज्य की वृद्धि भी हुई।

जयसिंह के कोई पुत्र न था जो चालुक्यवंश की गद्दी पर बैठता। इस कारण उसके दूर के सम्बन्धी कुमारपाल ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इसमें गुजरात के जैन लोगों ने उसकी सहायता की थी। वह प्रतापी नवयुवक था अतएव शीघ्र ही सब विरोधियों को दबा कर विजय करने लगा। मालवा लेने के लिये परमार शासक ने प्रयत्न किया था परन्तु कुमारपाल ने अपनी सत्ता अक्षुण्ण रक्खी।

कुमारपाल के शासन-सम्बन्धी अनेक लेख मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि चालुक्य राजा ने तीस वर्ष तक राज्य किया। सूरि-रचित 'कुमारपाल-चरित' में उसकी विजय का विस्तृत वर्णन मिलता है। लेखों में उल्लेख मिलता है कि उसने विन्ध्य तक दक्षिण में तथा लाट तक विजययात्रा की थी। कुमारपाल ने चौहान राजा से युद्ध किया था। कोकण के राजा मल्लिकार्जुन को भी इसके सामने नीचा देखना पड़ा था।

इन विजय-यात्राओं के सिवाय कुमारपाल का शासनकाल भारतीय धार्मिक इतिहास में प्रसिद्ध है। जैन इतिहासकार लिखते हैं कि जीवन के आरम्भिक काल में राजा शैवमत को मानता था। भक्त होने के नाते उसने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था; परन्तु वृद्धावस्था में, हेमचन्द्र के भाषण से प्रभावित होकर, उसने जैनमत ग्रहण कर लिया। इसी कारण जीवहिंसा की उसने मनाही कर दी थी। जयसिंह सूरि ने राजा की जीवन-घटनाओं का पूरा विवरण 'कुमारपाल-चरित' में किया है तथा राजा के धर्म-परिवर्तन का वृत्तान्त भी उसी ग्रंथ से मिलता है। जैनमत ग्रहण करने के बाद कुमारपाल ने जैनों के पवित्र स्थानों की यात्रा की थी। इस पुस्तक से पता चलता है कि राजा ने समाज-सुधार के लिये बहुत प्रयत्न किया। जुआ खेलना, मांस तथा मदिरा का उपयोग, वेश्या-व्यसन आदि कामों की उसने मनाही कर दी। इस प्रकार राज्य कर अन्त में उसने अजयपाल को उत्तराधिकारी बनाया और ११७४ ई० में वह संसार से चल बसा।

कमारपाल के बाद गुजरात के पिछले चालुक्य नरेशों के बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं। १२वीं सदी के अन्त में, भोला भीम नामक राजा के शासन-काल में, राज्य शक्तिशाली मंत्रियों तथा प्रान्तपतियों में विभाजित हो गया था। राजा अनहिलवाड़ में रहता था। उसी समय से मुसलमान सुल्तानों ने आक्रमण करना आरम्भ किया। तत्पश्चात् एक के बाद दूसरे आक्रमण होते रहे। अन्त में गुजरात तथा काठियावाड़ मुसलमानों के हाथ में आ गया।

३. चौहान वंश

१०वीं सदी के पश्चात् गुर्जर प्रतिहार राज्य का अन्त हो जाने पर कई स्वतंत्र राज्य स्थापित किये गये जिनके शासक पहले प्रतिहार राजाओं

के सामंत थे और उनके अधीन होकर सैकड़ों वर्ष तक राज्य-प्रबन्ध करते रहे । उन्हीं राजाओं में साकम्बरी (साँभर) के चौहान नरेश भी गिने जाते हैं । प्रतिहार लेखों से स्पष्ट पता चलता है कि ७वीं सदी से १०वीं शताब्दी के मध्य भाग तक चौहान उनके सामंत थे ।

अन्य राजपूतों की तरह भाट तथा जनश्रुति के आधार पर चौहान की उत्पत्ति भी अग्निकुल से बतलायी जाती है कि विदेशी जाति के लोग आबू पर्वत के समीप अग्नि से शुद्ध होने पर हिन्दू जाति में प्रवेश कर राजपूत कहलाये । परन्तु ऐसी जनश्रुतियों पर विश्वास नहीं किया जा सकता । १४वीं सदी से पूर्व चौहानवंश से सम्बन्धित लेखों में इस तरह का वर्णन नहीं मिलता। यदि इसमें कुछ सत्यता का अंश होता तो १०वीं या ११वीं सदी के चौहान-वंश के विजोलिया शिलालेखों में अग्निकुल से उत्पत्ति क्यों नहीं बतलायी गयी है ? इसके अतिरिक्त उस समय के जितने प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथ हैं—जैसे पृथ्वीराज-विजय और हम्मीर-महाकाव्य—उनमें भी इस तरह की उत्पत्ति (अग्निकुल) का विवरण नहीं आता । इन ग्रंथों में चौहानवंश को सूर्य-मण्डल से उत्पन्न बतलाया गया है ।

भारत के मध्यकालीन इतिहास में चौहान वंश का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । १२वीं सदी के मध्य में इनका प्रधान स्थान साँभर था जहाँ से वे दिल्ली की ओर बढ़े थे । साहित्य-ग्रंथों से पता चलता है कि वासुदेव नामक व्यक्ति चौहान वंश का आदिपुरुष था । चौहान लेख में गुर्जर प्रतिहार नागभट्ट के सामंत तथा चौहान के पूर्वपुरुष का गूवक नाम से उल्लेख मिलता है । मही-पाल दूसरे (९४६ ई०) के प्रतापगढ़वाले लेख में चौहान महासामंत को इन्द्रराज का नाम दिया गया है ।

तात्पर्य यह है कि सन् ९५० ई० तक जिन प्रदेशों पर चौहान शासन था वे सभी प्रतिहार साम्राज्य में सम्मिलित रहे । इस वंश की कई शाखाएँ थीं । साकम्भरी (साँभर) शाखा के विग्रहराज ने प्रायः १०वीं सदी के अन्त में अपनी स्वतंत्रता घोषित की । इस प्रकार चौहान प्रतिहारों की अधीनता से पृथक् हो गये, जो पूर्व में दो शताब्दियों तक सामंत के रूप में कार्य करते रहे थे । विग्रहराज के हर्ष शिलालेख से तो छः पीढ़ियाँ पूर्व तक के सामंतों का वृत्तान्त मिलता है ।

ग्रंथों तथा लेखों में चौहानवंश के आदिपुरुष का नाम वासुदेव मिलता है । उसके उत्तराधिकारी 'शाकम्भरीश्वर' की पदवी से विभूषित किये गये

हैं। अतः यह सत्य है कि साँभर के समीप चौहान राजा निवास करते थे। कई पीढ़ियों के बाद ९७३ ई० में विग्रहराज चौहान का नाम विख्यात हुआ जिसने स्वतंत्र शासन आरम्भ किया था। 'पृथ्वीराज-विजय' ग्रंथ में इनके गुजरात तथा नर्मदा तक के आक्रमणों का वर्णन मिलता है। परन्तु चौहान राजा इन भागों को संगठित रूप से न रख सके। ११वीं सदी के मध्य भाग में कई पीढ़ियों बाद चौहानवंश के शासक को परमार भोज ने परास्त किया था परन्तु चौहान साँभर के भाग में सदा बने रहे। 'पृथ्वीराज-विजय' के वर्णन से पता चलता है कि सैकड़ों वर्ष तक चौहान राजा विभिन्न शासकों से युद्धों में फँसे रहे; लेकिन कोई विशेष उल्लेखनीय घटनाएँ नहीं मिलतीं। विजोलिया शिलालेख से चौहानवंश के शासकों का नाम मिलता है, जिसमें अजयराज अधिक प्रसिद्ध हुआ था। १२वीं सदी के आरम्भ में पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र अजयराज ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली और राजा होते ही मालवराज को जीत कर उज्जैन तक राज्य विस्तृत किया था। इतना ही नहीं, राजा ने समीप के सारे शासकों को जीतकर राज्य की उन्नति की। इसने अजयमेरु (वर्तमान अजमेर) नामक नगर की स्थापना कर शहर में सुन्दर मन्दिर तथा विशाल भवन बनवाये थे। इसके राज्य के वैभव का पता शासक द्वारा प्रचलित सिक्कों से लगता है। देश की श्रीवृद्धि के लिये राजा ने चाँदी का रूपक (रुपया) तैयार कराया और ताँबे के सिक्के भी चलाये। रानी को इस काम में बड़ी दिलचस्पी थी। वह प्रतिदिन नये सिक्के तैयार कराती थी। यही कारण है कि सिक्कों पर रानी का नाम भी अंकित कराया गया था। उनपर एक ओर श्री सोमलदेवी लिखा मिलता है। तात्पर्य यह है कि देश की श्रीवृद्धि की ओर राजा का ध्यान था, इस कारण उसका समय शान्तिमय रहा।

उसके उत्तराधिकारी अरणोराज का समय अशान्ति में व्यतीत हुआ। एक ओर चालुक्य राजा कुमारपाल से (११४४–७३ ई०) युद्ध होता रहा और दूसरी ओर पंजाब से मुसलमान सेना पुष्करतीर्थ पर चढ़ आयी थी। राजा ने यवन सेना को मार भगाया फिर भी राजा को शान्ति नहीं मिली। उसके पुत्रों में ही गद्दी के लिये झगड़ा खड़ा हो गया था। अन्त में विग्रहराज चौथा, अपनी स्थिति दृढ़ कर, राज्य का मालिक बन गया। देहली शिवालिक स्तम्भ लेख में विग्रहराज के लिये दूसरा नाम विशलदेव भी लिखा मिलता है। प्रशस्तिकार ने वर्णन किया है कि राजा ने हिमालय से लेकर विन्ध्य तक

म्लेच्छों को मार भगाया था। इस तरह चौहान राज्य में पंजाब का थोड़ा भाग (सतलज तथा यमुना के मध्य) मिला लिया गया। यही कारण है कि पंजाब के मुसलमान गजनी शासकों से चौहान राजा लड़ते रहे। उनके लेखों में म्लेच्छों तथा तुरुष्कों पर राजपूत राजा की विजय का वर्णन मिलता है। युद्ध के प्रसंग में विग्रहराज चौथे (विशलदेव) ने गहड़वाल राजा विजयचन्द्र से दिल्ली का प्रदेश जीत लिया था। दिल्ली प्रदेश पर चौहानों का अधिकार हो जाने से गंगा-यमुना की घाटी का द्वार उनके हाथ में आ गया। यह प्रदेश (कुरुक्षेत्र का भाग) प्राचीन समय से भारतीय तथा विदेशियों का युद्धक्षेत्र रहा है। कोई भी शत्रु उत्तर-पश्चिम से गंगा की घाटी में दिल्ली के मार्ग को छोड़ कर प्रवेश नहीं कर सकता था। गोरीवंश के सुल्तान ने पंजाब में आकर इस मार्ग को रुका पाया। भारत के पूर्वी भाग में जाना सम्भव न था। दिल्ली के द्वार के लिये मुसलमान तथा राजपूत नरेश में युद्ध होता रहा। मुसलमान दिल्ली पर कब्जा कर गँगा की घाटी में बढ़ना चाहते थे परन्तु उनको सफलता न मिल सकी। विग्रहराज का अन्तिम समय शान्ति में बीता। प्रसिद्ध योद्धा होने के सिवाय चौहान राजा कवि तथा विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके समय में 'ललित विग्रहराज' तथा 'हरकेलि' नाटक लिखे गये जिनमें राजा के युद्ध का वर्णन मिलता है। विग्रहराज मुंज तथा भोज की तरह शासन-कार्य और साहित्य-सेवा में लगा रहा।

इस वंश के सब से अन्तिम राजा पथ्वीराज तृतीय का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। मुसलमान इतिहास-लेखक इसे राय पिथौरा भी कहते हैं। इसके पिता सोमेश्वर ११८० ई० के लगभग जब मर गये तो उस समय पथ्वीराज छोटा बच्चा था। सोमेश्वर ने अपनी रानी कर्पूरदेवी को उसका संरक्षक बनाया था। पथ्वीराज ने बड़े होने पर कार्यभार सँभाला और मंत्रियों की सहायता से सुचारु रूप से शासन किया। शासनभार ग्रहण कर विजयी कहलाने की उत्कंठा से उसने अन्य राज्यों पर आक्रमण किया। मदनपुर की प्रशस्ति में वर्णन मिलता है कि उसने बुंदेलखंड (चन्देल राज्य) पर चढ़ाई की थी और परमाल को परास्त कर महोबा तथा अन्य दुर्गों पर अधिकार कर लिया था। चंदवरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' के विवरण से पता चलता है कि चौहान राजा ने गहड़वाल राजा जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को स्वयंवर में हरण कर लिया था। आजकल विद्वान् इस घटना पर विश्वास नहीं करते —

इसको ऐतिहासिक घटना नहीं समझते । सम्भवतः चंदेल तथा गहड़वाल शासकों ने एक संघ बना कर चौहान राजा पृथ्वीराज का सामना किया था। पंजाब में यामिनी सुल्तान खुसरो मलिक (११६०–८६ ई०) के राज्य का अन्त हो जाने पर गोरी सुल्तान तथा चौहान राज्य आमने-सामने हो गये। पहले कहा जा चुका है कि चौहान-शासन के कारण दिल्ली का मार्ग मुसलमानों के लिये बन्द था और गंगा-यमुना की घाटी अभी तक विदेशी आक्रमणों से बची रही। मुसलमान सल्तान गंगा घाटी के धन तथा मन्दिरों पर आँख लगाये बैठे थे और इसपर अधिकार करने के लिये हिन्दू शासन का अन्त करना चाहते थे। 'पृथ्वीराजविजय' में भी इस बात का उल्लेख है कि चौहान राजा ने म्लेच्छ सेना को नष्ट करने का संकल्प कर लिया था। परन्तु वह आस-पास के शासकों को मुसलमानों के विरुद्ध सहायता करने को तैयार न था। चालुक्य सेना ने गुजरात से गोरी सेना को भगा दिया था परन्तु चौहानों ने चालुक्य राजा भीम को इस कार्य में सहायता नहीं दी। हिन्दू राजा एक ही ध्येय की पूर्ति के कार्य के लिये भी परस्परिक लाभ या हानि में फँसे रहे और द्वेष को भुला न सके। वे संघ सिद्धान्त के मूल्य को न समझ सके। सामहिक शक्ति लगा कर मुसलमानों का मुकाबिला नहीं हुआ, जिसका फल सबको भुगतना पड़ा। मुसलमानी सेना ने संगठित होकर हिन्दुओं का सामना किया। अन्त में मुसलमानों की सर्वत्र विजय हुई। पृथ्वीराज से ११९१ ई० में शहाबुद्दीन गोरी से युद्ध हुआ जिसमें सुल्तान कठिनता से बच सका। इससे उसके दिल पर गहरा धक्का लगा। दूसरे साल ही वह बड़ी सेना लेकर हिन्दुस्तान पर फिर चढ़ आया। इस बार पृथ्वीराज ने समीपवर्ती राजाओं से सहायता भी माँगी। गहड़वाल राजा जयचन्द्र को छोड़कर सभी ने सेना भेज कर सहायता की परन्तु हिन्दू सेना मुकाबिले में ठहर न सकी। सुल्तान की सेना ने हिन्दू सिपाहियों को मार गिराया और पथ्वीराज युद्धक्षेत्र से भाग गया। वह सरस्वती नदी के किनारे पकड़ा गया और मार डाला गया। कहा जाता है कि दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर भी अजमेर और साँभर में चौहान वंश के शासन की आज्ञा गोरी ने दे दी। क्योंकि इस वंश के शासक ने सुल्तान गोरी की अधीनता में रहकर कर देना स्वीकार कर लिया था। अन्त में चौहान राजकुमार अजमेर छोड़कर रणथम्भोर चला गया जहाँ वह एक शताब्दी तक राज्य करता रहा।

४. दिल्ली के तोमर शासक

राजपूताना के राजपूत शासकों में तोमर लोगों का भी नाम लिया जाता है। जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि ८वीं सदी में अनंगपाल नामक तोमर शासक ने दिल्ली को बसाया था और उसी समय से वह उनकी राजधानी रही।

प्रतिहार महेन्द्रपाल के लेखों से पता चलता है कि पंजाब के करनाल जिले में तोमर लोग गुर्जर प्रतिहार शासकों के सामंत के रूप में निवास करते थे। करनाल के तोमर तथा दिल्ली का तोमर वंश एक ही माने जाते हैं। सम्भवतः तोमर वंश के लोग दिल्ली के समीप ९वीं सदी में आकर रहने लगे और प्रतिहार भोज के समय में उसकी राज्य-सीमा के अन्तर्गत आ गये। १०वीं सदी में ज्यों ही प्रतिहार वंश की अवनति हो गयी, तोमर लोगों ने दिल्ली में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। पारस्परिक द्वेष के कारण उसी समय से साँभर के चौहान राजा से ये लगातार युद्ध करते रहे। इसकी पुष्टि विग्रह-राज के हर्ष शिलालेख से की जाती है जिसमें वर्णन आता है कि चौहान राजा ने तोमर शासक को हराया था। उसी में विग्रहपाल के पिता सिंहराज (९५० ई०) द्वारा तोमर नायक की पराजय का वर्णन भी आता है। इससे पता चलता है कि विग्रहराज से पूर्व दिल्ली प्रदेश पर तोमरवंश का अधिकार था। चौहान वंश की शक्ति बढ़ने पर १२ वीं सदी के मध्यभाग में विशल-देव ने तोमर लोगों से दिल्ली को छीन लिया।

वहाँ रहकर तोमर शासक दिल्ली के मार्ग पर कब्जा किये बैठे थे। कई बार उन्होंने मुसलमानों का सामना किया। जब १०१४ ई० में महमूद ने थानेश्वर पर चढ़ाई की थी उस समय भी तोमर राजा ने महमूद का विरोध किया था। इन्होंने पंजाब के यामिनी सुल्तानों से भी युद्ध किया था।

कनिंघम ने सिक्कों के आधार पर तोमरवंश के कई शासकों का नाम बतलाया है जिसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से नहीं हो सकी है। उनके कथना-नुसार सल्लक्षणदेव, अजयपालदेव, कुमारपालदेव, अनंगपालदेव तथा महीपाल-देव सन् ११२८ तक शासन करते रहे। तोमर वंश में अनंगपाल नामक कई राजा हुए। सिक्केवाले अनंगपाल से दिल्ली के संस्थापक अनंगपाल की समता नहीं की जा सकती। इन राजाओं के सिक्कों पर हिन्दू शाही राजाओं

के चिह्न (घुड़सवार तथा बैठी देवी) मिलते हैं। ११६४ ई० के लगभग विशलदेव ने दिल्ली को जीतकर तोमरवंश का अन्त कर दिया और वह प्रदेश पृथ्वीराज तक चौहानों के अधिकार में रहा। तत्पश्चात् गोरी सुल्तान के हाथ में चला गया। दिल्ली जीतने के बाद तोमरवंश का नामोनिशान न रहा।

नवाँ अध्याय

मुसलमानों का आक्रमण

तथा

हिन्दू-भारत का अंत

यह सर्वविदित है कि सारे एशिया में हिन्दूसंस्कृति पर्व मध्यकाल तक फैल चुकी थी। अरब से लेकर चीन तक सारे देश भारतीय सभ्यता के पुजारी थे। भारतवर्ष के बाहर पूर्व तथा पश्चिम में बौद्धधर्म के अधिक अनुयायी थे। भारतीय उपनिवेश भी स्थापित हो चुके थे। छठीं शताब्दी में ही अरब में मुहम्मद साहब (पैगम्बर) का जन्म हुआ जिन्होंने इस्लाम मत का प्रचार आरम्भ किया। मुहम्मद साहब के अनुयायी खलीफा इस्लाम का प्रसार करने में अग्रसर हुए। योरप के स्पेन से लेकर ईरान तक इस्लाम धर्म का झंडा फहरा चुका था। उसी समय से मुसलमानों का ध्यान भारत के उपजाऊ मैदान की ओर भी गया। सर्वप्रथम ६३७ ई० में बम्बई के करीब थाना नामक स्थान पर अरबवालों ने अपनी सेना भेजी और आसपास के शहरों में उनके जहाज़ी बेड़े पहुँचे। इसके पश्चात् सिन्ध पर आक्रमण किया। धीरे-धीरे दक्षिणी अफगानिस्तान तथा बिलूचिस्तान पर भी उन लोगों ने अधिकार कर लिया। अफगानिस्तान में कुषाणवंश के राजा शासन करते रहे और उस समय अरबवालों ने काबुल पर बारम्बार आक्रमण किया। दक्षिणी भाग पर तो पूरा अधिकार हो गया परन्तु नवीं सदी तक काबुल के समीप तुर्की शाही राजाओं का शासन किसी प्रकार चलता रहा। इधर सिन्ध पर विजय पाकर अरबवालों का अधिकार बिलूचिस्तान पर जम गया था। कहा जाता है कि सिन्ध के राजा चच के पुत्र दाहिर ने प्रथम मुसलमानों के आक्रमण को रोका था; पर वह महम्मद बिन कासिम की चढ़ाई को न रोक सका। कासिम ने कराँची (प्राचीन देवल) को जीतकर सिन्ध नदी के मुहाने से देश में प्रवेश किया। यद्यपि दाहिर ने रोकने का प्रयत्न किया था परन्तु उसके कुछ कर्मचारी शत्रु से मिल गये जिससे राजा युद्ध में मारा गया।

यह सत्य है कि उस समय बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मानुयायियों में द्वेष भाव फैल गया था। दोनों धर्मों में भारी लड़ाई हो रही थी। देखने के लिये एक ही परिवार में एक राजा ब्राह्मण धर्म को मानता था और दूसरा बौद्ध था। राजा चच हिन्दू ब्राह्मण था और उसका उत्तराधिकारी राजा चन्द्र बौद्ध मतानुयायी था। ऐतिहासिक अनुमानों से जान पड़ता है कि ब्राह्मण तथा बौद्ध ने आपसी झगड़े के कारण अपने को असमर्थ देखकर मुसलमानों की ओर मेल तथा प्रेम का हाथ बढ़ाया था। नेरू नगर में इस्लामी सेना का स्वागत तथा हिन्दुओं द्वारा भोजन का प्रबन्ध संदेह को दूर कर देता है। सिन्ध में मुहम्मद बिन कासिम की जीत इसी कारण हो गयी। सन् ८७० ई० के बाद बगदाद के खलीफा के मरने पर इस्लामी दुनिया का केन्द्र अरब से सिन्ध में आ गया जहाँ का गवर्नर स्वतंत्र होकर राज्य-शासन करने लगा था। सिन्ध में दो छोटी रियासतें स्थापित हो गयीं जिनमें मुल्तान का राज्य प्रधान समझा जाता था। सिन्ध की मुसलमानी रियासतें अपने धर्म का प्रचार न कर सकीं; क्योंकि उनको कन्नौज के प्रतिहार राजाओं से डर रहता था और आगे बढ़ने का अवसर न मिलता था। यद्यपि अरबवालों को सिन्ध के जीतने से कोई विशेष राजनैतिक लाभ न हो सका परन्तु उन्होंने भारत की संस्कृति के संसर्ग में आकर यहाँ की विद्याओं—धर्म, दर्शन, चिकित्सा, गणित तथा ज्योतिष—को अपने यहाँ फैलाने में सफलता प्राप्त की थी। ये बातें अनेक अरब यात्रियों ने लिखी हैं।

यह कहा गया है कि अरबवालों के सिन्ध जीतने पर मुहम्मद बिन कासिम की अध्यक्षता में सिन्ध से दक्षिण-पश्चिम प्रान्तों पर चढ़ाइयाँ की गयीं। चढ़ाइयों का ताँता लगा रहा। राजपूताने के मारवाड़, उज्जैन (मालवा), भड़ौच आदि स्थानों पर मुसलमान सेना-नायकों ने आक्रमण किया। परन्तु दक्षिण भारत की ओर चालुक्य राजाओं की शक्ति को जानकर वे आगे न बढ़ सके। मुसलमानों के परम शत्रु कन्नौज के प्रतिहार शासक पूर्वी भारत में उनका मार्ग रोके हुए थे। अतएव दसवीं सदी तक भारत के विस्तृत मैदान—सिन्ध-गंगा की घाटी—में मुसलमान फैल न सके। प्रतिहारवंश के शासक अपनी शक्ति के कारण उत्तरी भारत के सम्राट् बन बैठे थे परन्तु वे भी धार्मिक भय के कारण मुसलमानों को जीत न सके। मुल्तान में एक विशाल सूर्य-मन्दिर था जिसको मुसलमानों ने सुरक्षित रक्खा था। उससे उनको बहुत आर्थिक लाभ था। परन्तु जब कभी प्रतिहार राजा उनपर आक्रमण करने की बात सोचते थे तभी

मुसलमान मुल्तान के सूर्य-मन्दिर को तोड़ने का नारा लगाते थे। धार्मिक भय के कारण प्रतिहार शासक शान्त हो जाते और इस तरह मुसलमान उनके आक्रमण से बच जाते। इसी प्रकार कितने ही वर्षों तक हिन्दुओं के आक्रमण से बचने का साधन मुल्तान का सर्यमन्दिर बना रहा। धर्मभीरु गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने भविष्य को न समझ कर मुसलमानों को छोड़ दिया। कहने की विशेष आवश्यकता नहीं कि मध्यकाल में सारे देश में देवभक्ति तथा अन्धविश्वास फैला हुआ था। सर्वत्र भव्य तथा विशाल देवालय बनाये गये थे। जैसा कहा गया है, मुल्तान के सूर्यमन्दिर पर प्रतिहारों की अपार श्रद्धा थी और इसी अन्धश्रद्धा के कारण सारे राष्ट्र (भारत) को हार खानी पड़ी। सिन्ध के बाहर न बढ़ने पर अरबवालों ने काबुल की ओर हाथ फैलाया। तुर्की शाही के स्थान पर हिन्दू शाही वंश का राज्य हो गया था। दसवीं सदी के अन्त तक प्रतिहार राजा महीपाल का शासन समाप्त हो गया था। उस वंश के राजा शक्तिहीन हो गये और सारा साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट गया। इस बँटवारे का नतीजा यह हुआ कि छोटे राजा अपनी रक्षा तथा राज्य के बढ़ाने में फँस गये। किसी ने देश पर आनेवाली आपत्ति (मुसलमानों के आक्रमण) को सोच न पाया। आपस की फूट, वैर तथा झगड़े में कोई भी राजा शक्ति संचय न कर सका कि वह मुसलमानों की शक्ति को रोक सके।

उधर काबुल के समीप गजनी में, ९६२ ई० में अलप्तगीन ने स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया था। उसके मरने पर उसके दामाद सुबुक्तगीन के हाथ में शासन की बागडोर गयी। १०वीं सदी के अन्त में भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में हिन्दू शाही राजा जयपाल का राज्य था। इसने सुबुक्तगीन के कारनामों (धार्मिक प्रचार) को सुन कर सुल्तान को दण्ड देने के लिये प्रस्थान किया। परन्तु दैवी आपत्ति—पहाड़ी तूफान—के कारण जयपाल की बुद्धि काम न कर सकी और सुल्तान के साथ उसे सन्धि करनी पड़ी। सुबुक्तगीन के मरने पर १००१ ई० में नये सुल्तान महमूद ने जयपाल को पेशावर के पास हरा दिया। इस पराजय के क्षोभ में जयपाल अग्नि में जलकर मर गया। उसके उत्तराधिकारी अनंगपाल तथा त्रिलोचनपाल से सुल्तान का युद्ध होता रहा। अन्त में १०२६ ई० में हिन्दू शाही वंश का अन्त हो गया और पंजाब तथा सिन्ध पर मुसलमानों का पूरा अधिकार हो गया। इस बीच में महमूद ने रास्ता साफ पाकर थानेश्वर, कन्नौज, कालिंजर तथा सोमनाथ पर आक्रमण किया था यानी मुसलमान उत्तरी भारत के मैदान में आ गये। महमूद की सब चढ़ाइयाँ

लूट के लिये की गयीं। उसकी जीत का फल यह हुआ कि पंजाब से हिन्दू शासन समाप्त हो गया। हिन्दू सेना का सदाचार, प्रसिद्धि तथा शक्ति की ख्याति जाती रही। मध्य तथा पश्चिमी भारत के हिन्दू राजाओं की आँखें खुल गयीं, जो प्रतिहार साम्राज्य के नष्ट होने पर राजा बन बैठे थे तथा सुख और वैभव के मद में पड़े थे।

सिन्ध नदी की निचली घाटी के जीतने पर भी मुसलमानों को वह सफलता न मिली थी जो पंजाब की विजय से हो गयी। राजनैतिक दृष्टि से पंजाब-विजय को अधिक महत्त्व दिया जाता है। संसार के विजेताओं में महमूद गजनवी की भी गणना होती है। उसने अपने पिता सुबुक्तगीन के कार्य का अनुसरण किया था परन्तु भारत में चढ़ाई करके उसने इस्लाम मत का प्रचार नहीं किया क्योंकि वह कोई धर्म-प्रचारक बन कर नहीं आया था। वह भारत के धन को लूट कर गजनी ले जाना चाहता था और वही हुआ भी। सिन्ध जीत कर मुसलमान भारत के मैदान पर अधिकार न कर सके, अतः उत्तरी-पश्चिमी मार्ग द्वारा उन्होंने प्रवेश किया। उस समय तक भारत में प्रतिहार साम्राज्य के स्थान पर कई छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। उसी अवस्था में महमूद गजनवी कन्नौज पहुँच गया। देश की दुर्दशा के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इतने पर भी गहड़वाल तथा राजपूताने के राजा लोग चैन की नींद सो रहे थे। उन्हें भविष्य की चिन्ता न थी। महमूद के लौटने पर भारत में गोर के सुल्तान ने गजनवी का स्थान ले लिया। अफगानिस्तान में हिरात के पास गोर की छोटी रियासत कायम हो गयी थी इसलिये वहाँ गोर तथा गजनवी घरानों में युद्ध होते रहे। अन्त में गोर वंश विजयी रहा। भारत में मुहम्मद गोरी ने अपने भाई को अधिनायक बना कर चढ़ाई करना आरम्भ कर दिया। पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि मुहम्मद गोरी ने गहड़वाल तथा चौहानवंश का नाश किया था। सर्वप्रथम अपने मुसलमान भाई—मुल्तान के राजा—को परास्त कर उसने अपनी शक्ति दृढ़ की। तत्पश्चात् पृथ्वीराज को जीत कर अजमेर तथा दिल्ली पर अधिकार किया। इस प्रकार वह अपनी शक्ति का विस्तार करता गया।

महमूद के समय से ही उत्तरी भारत की राजनैतिक दशा परिवर्तित हो गयी थी। हिन्दू राजाओं में ऐक्य नहीं था। कन्नौज का शासक सब से बड़ा राजा समझा जाता था पर उसकी शक्ति कुछ अधिक न थी। महम्मद ने १२वीं सदी में पंजाब पर अधिकार कर उत्तरी भारत पर अपना शासन

विस्तृत कर लिया। पृथ्वीराज के परास्त होने पर मुहम्मद के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने तथा बख्तियार के पुत्र इख्तियारुद्दीन ने उत्तरी भारत के अधिक भाग को गोर राज्य में मिला लिया। मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से पता चलता है कि कुतुबुद्दीन, गुलाम की अवस्था में ही, अजमेर को जीतता हुआ सब से पहले गुजरात जा पहुँचा। अजमेर पहुँच कर गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिये गोर से सेना भेजी ग ी थी। हिन्दू राजाओं ने शक्ति भर सामना किया परन्तु अन्त में सब हार गये। यह घटना बारहवीं सदी के अन्तिम दिनों की है। इसके बाद कुतुबुद्दीन ने कालिंजर पर चढ़ाई कर किले पर अधिकार कर लिया और मन्दिरों को तोड़ कर मसजिद बनायी। परन्तु यह विजय स्थायी न रह सकी। चंदेल राजा ने कालिंजर को फिर जीत लिया और प्रायः सौ वर्ष तक वह उस भूभाग पर राज्य करता रहा। मैदान में आने से तथा गंगा की घाटी में प्रवेश करने पर मुसलमान विजेता की हिम्मत बढ़ती गयी। मुसलमान परे उत्तरी भारत को अपने अधिकार में करना चाहते थे। अब उनकी दृष्टि बंगाल पर गय:। बख्तियार खिलजी बिहार प्रान्त को जीतकर बौद्ध संघाराम (विक्रमशिला आदि) को नष्ट करता हुआ नदिया (बंगाल की राजधानी) पर एकाएक आक्रमण कर बैठा। सेन राजा महल से भाग गया और विजेता के हाथों में सारा राज्य चला गया। उस समय से गौड़ या लखनौती को राजधानी बनाकर मुसलमान राज्य करने लगे। पंजाब से बंगाल तक इस्लाम की विजय-पताका फहराने लगी। हिन्दू नरेशों ने अपने कर्म का फल पाया। मन्दिर मसजिद के रूप में परिणत होने लगे। बंगाल के बौद्ध धर्मावलम्बियों ने इस्लाम मत को स्वीकार कर विरोध की भावना को त्याग दिया। इस तरह हिन्दू भारत का धीरे-धीरे अन्त हो गया।

मध्यकालीन हिन्दू भारत के अन्त के कई कारण बतलाये जाते हैं। सर्वप्रथम कारण राजा तथा प्रजा की सद्भावना का अभाव था। प्राचीन समय में राजा प्रजा का रक्षक था तथा 'राजा प्रकृतिरंजनात्' का भाव रखकर शासन प्रबन्ध करता था। राजा मंत्रिमण्डल की सलाह से प्रजा के हित के लिये कार्य करता था परन्तु पूर्व मध्यकाल में निरंकुशता की भावना आ गयी। राजा मनमाने काम करने लगे ; अपने में ईश्वरीय सत्ता को देख और प्रजा के सुख का ध्यान न रख कर भोग-विलास में फँस गये। उनमें दूरदर्शिता तथा नीति का अभाव-सा था। यद्यपि पूर्व मध्यकालीन लेखों

में शासक के लिये सम्राट् की महान् पदवी परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर का उल्लेख मिलता है परन्तु यह अतिशयोक्ति मात्र है। वास्तव में उनकी शक्ति बहुत सीमित थी। गुर्जर प्रतिहारों के बाद हिन्दू नरेशों में कोई भी सम्राट् कहलाने योग्य न रहा। इन्हीं प्रतिहार राजाओं ने मुसलमानों को कई सौ वर्ष तक सिन्ध से आगे बढ़ने न दिया था। इसी कारण अरब लेखकों ने उन्हें मुसलमानों का शत्रु कहा। उनका अन्त होने से उत्तरी भारत में कई छोटी रियासतें स्थापित हो गयीं जिनमें संघ-नीति का विकास न हो पाया। शक्ति के सीमित होने से किसी में इतनी प्रभुता न रही कि बाहरी शत्रु को अकेले रोक सकें। सामूहिक शक्ति संचारित करने का सफल प्रयत्न न किया गया। सभी अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने तथा प्रभुत्व को फैलाने में लगे रहे। यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकालीन हिन्दू राजाओं में एकता न रही। पड़ोसी राज्य मुसलमानों के आक्रमण से भयभीत होते रहे परन्तु राजाओं के सामूहिक रूप से सामना करने की योजना का परिचय उनको न था।

इसके अतिरिक्त पूर्व मध्यकालीन प्रचलित धार्मिक भावना ने लोगों को संसार से विमुख कर दिया। शंकर ने बौद्धधर्म को हटाकर किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं पैदा किया जिससे जनता सांसारिक कार्यों में लग सके। बुद्ध के निवृत्तिमार्ग की तरह शंकर ने भी संन्यासी बनकर मठ में रहने का मत प्रचारित किया था। इसी लिये संघाराम तथा हिन्दू मठों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। प्रवृत्ति मार्ग के उपदेश से लोग सर्वथा अनभिज्ञ हो गये थे। अहिंसा के भाव सर्वत्र व्याप्त थे। प्रजा को इस अहिंसा से विमुख कर हिंसा तथा युद्ध में संलग्न रहने की चर्चा किसी नेता ने प्रचारित नहीं की। इस तरह बुद्धि के विकास के साथ शारीरिक शक्ति का उपयोग न हो पाया। शान्त वातावरण तथा अहिंसा के वायमण्डल में युद्ध और मारकाट की चर्चा सम्भव न थी। यद्यपि अहिंसा ने मानव-जीवन को उच्च भावना के शिखर पर पहुँचा दिया था परन्तु यह कार्य हिन्दू भारत के राजनैतिक पतन का कारण बन गया। यही कारण है कि जितने बौद्ध-प्रधान प्रान्त थे, सब ने इस्लाम मत को प्रथम ही स्वीकार कर लिया। वे धर्मपरिवर्तन का विरोध न करके युद्ध से विमुख हो गये। राजपूतों की तरह विरोधी भावना उनमें जागृत न हो सकी। वे अहिंसा से कायर न बनकर युद्धभीरु बन गये। विभिन्न धार्मिक मतों के प्रचार से जनता में एकता

और संगठन की कमी थी। परस्पर विरोधी अथवा अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी मिल न सके। 'संघशक्ति' की भावना चरितार्थ न हो सकी। इस अवनति के अन्य सामाजिक कारण भी थे।

पूर्व मध्यकाल में हिन्दूसमाज अगणित जातियों में बँटा जा रहा था। चार वर्णों के स्थान पर अनेक उप-जातियाँ पैदा हो गयीं। स्थान, कार्य तथा वंश नाम से जाति-नाम होने लगा। इस तरह की छोटी-छोटी उप-जातियाँ पृथक् होती गयीं, इस कारण हिन्दू समाज क्षीण होता गया। विभिन्न जाति के लोग विभिन्न मतानुयायी हो गये। सब के मार्ग पृथक् पृथक् हो गये। समाज में कोई ऐसा सुधारक न था जो देश की बुरी अवस्था को देख कर जातियों में एकता पैदा करने का प्रयत्न करता। राजनैतिक दुर्दशा के साथ सामाजिक विभिन्नता ने हाथ मिला कर देश को दुर्गति के समीप पहुँचा दिया। मुसलमानों के सम्पर्क से हिन्दू जाति के कितने ही व्यक्ति जाति से च्युत कर दिये जाते थे तो भी शुद्धि का प्रचार इस रूप में न आ सका कि दलित कहे जानेवाले दुबारा जाति में मिल सकें। स्मृतिकार इस ढंग के नियमों का समावेश समाज में न कर सके। मध्यकाल स्मृति-इतिहास के लिये मुख्य समय माना जाता है, परन्तु भेद को मिटा कर जातीय एकता का विवरण किसी स्मृति में नहीं मिलता। एकता रहती तो हिन्दू भारत का अन्त मुसलमानों के आगमन से कदापि सम्भव न था। सामाजिक विभेद, विभिन्न धार्मिक भावनाएँ तथा शासकों की निरंकुशता ने जनता में विचित्र परिस्थिति पैदा कर दी और उचित नेतृत्व के अभाव में मार्ग प्रदर्शन ठीक न हो पाया। प्रजा ने राजा की पूरी सहायता तक न की, इससे शत्रुओं का सामना सामूहिक रूप से न हो सका। इन्हीं कारणों से पूर्व मध्यकालीन हिन्दू भारत का पतन हो गया।

पूर्व-मध्यकालीन भारत

द्वितीय भाग

पहला अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन शासन

ईसा पूर्व शताब्दियों में साम्राज्य की भावना भारत में जागृत की गई थी जिसका पूर्ण विकास गुप्तकाल में मिलता है। तत्कालीन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि सम्राट् के स्वयं शासित देशों के अतिरिक्त महासामन्त भी अधीन होकर शासन करते रहे। उस युग में राज्य का इतना अधिक विस्तार था कि विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों (उपरिकर) की सहायता से शासन प्रबन्ध सम्पन्न हो पाता। गुप्त शासन के पश्चात् भी यही प्रणाली काम करती रही। यों तो गुप्तों के साथ ही वास्तविक साम्राज्य का अन्त होगया था, तो भी हर्ष, गुर्जर प्रतिहार तथा पाल वंशी राजा विशाल राज्य पर शासन करते रहे। उत्तरी भारत (क्षेत्र) में उन सब का शासन कार्य आदर्श रूप से चलता रहा। यह देख चुके हैं कि उत्तरी भारत में वर्धन, प्रतिहार या पाल राज्य यथासमय विस्तृत रहे परन्तु उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर उनकी विस्तृत शासन प्रणाली का परिज्ञान नहीं हो पाता जिससे उन्हें वास्तविक साम्राज्य का नाम दे सकें। हिन्दू राजा तो दिखलाने के लिए ही सम्राट् होने का दावा करते थे।

यह सही है कि विजय करते समय हिन्दू शासकों का ध्यान देश को पद दलित करने की ओर न था पर पराजित नरेश द्वारा आधिपत्य स्वीकार कर लेना आवश्यक समझा जाता था। विजेता देश को जीतकर उसी राज-परिवार के हाथ गद्दी छोड़ देता और विजय दुन्दुभी बजाने वापस चला आता था। पर इस युग में मुसलमानों के कारण उसमें परिवर्तन आ गया। उस रीति से इस्लाम साम्राज्य का सिद्धान्त ही कुछ और था। केवल विजय के नाम से मुसलमान सन्तुष्ट न होते थे। सुलेमान के कथनानुसार अरब विजेता पूरी शक्ति इस्लामी राज्य स्थापित करने में लगा देते थे। इसका एक कारण हिन्दुओं की कमजोरियां भी थीं। छठी सदी के पश्चात् धीरे-धीरे सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होने लगा। एक भाग दूसरे से पृथक् रहता और सीमित परिस्थिति में काम करता था। इस प्रकार के छोटे राज्यों में स्वभावतः शक्ति की कमी थी केवल पहले की

महान् पदवी (परम-भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर) से अपने को सन्तुष्ट करते और सम्राट् होने का गर्व करते रहे। पर्व-मध्यकालीन लेखों में इस तरह की व्यर्थ दिखावटी पदवी का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, उस पदवी के उपरान्त भी चेदि, गहड़वाल तथा सेन कालीन लेखों में अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति की पदवियां उल्लिखित मिलती है। डा० मजूमदार का मत है कि इन पदवियों से शासक की राज्य-शक्ति की वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है। (बंगाल इतिहास १, पृ० २७३) पर वास्तविकता उससे दूर थी। जैसी पदवी थी उसके अनुरूप शक्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता। अधिकतर उस महान् पदवी से भ्रान्ति पैदा हो जाती है परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से सन्देह जाता रहता है। आश्चर्य तो यह है कि पिछले गुप्त नरेशों ने मगध के सीमित क्षेत्र में शासन करने पर भी पूर्वजों से बड़ी पदवी—परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर—धारण करते रहे। किसी लेख में तो इसके साथ चक्रवर्ती शब्द जुड़ा रहता है। कहने का सारांश यह है कि पूर्व मध्यकाल में साम्राज्य भावना का अभाव न था परन्तु राजनैतिक परिस्थिति ने देश को टुकड़ों में बँटवा दिया था। सभी अपने छोटे सीमित राज्य की रक्षा में लगे रहते थे। राष्ट्रीय भाव से उन्होंने उस पहलू पर विचार न किया था। ऐसी दशा में एकछत्र राज्य स्थापित होना सम्भव न था। एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न गुर्जर प्रतिहार तथा पाल नरेशों ने भी नहीं किया। युद्ध ही एक-मात्र सामयिक कार्य मालूम पड़ता था। मुसलमानों के आक्रमण के समय हिन्दू नरेश उस धार्मिक युद्ध में सम्मिलित हो जाते थे, परन्तु सद्भावना की कमी थी जिससे सब में एकता पैदा न हो सकी तथा सम्मिलित शक्ति से देश को मुसलमानों के आक्रमण से न बचा सके। मध्ययुगी दानपत्रों में प्रायः सर्वत्र ही अधिकारियों की सूची में सामन्त शब्द आता है जिससे प्रकट होता है कि प्रत्येक शासक को सामन्त का भी सहयोग था और तभी शासन हो पाता था। डा० मजूमदार का मत है कि साम्राज्य स्थापित होने के बाद सामन्त लोगों की स्थिति आवश्यक हो जाती है। प्रतिहार तथा पाल नरेशों के लेखों में उनके लिए राजन, राजन्यक, राजनक, सामन्त अथवा महासामन्त शब्दों का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं वह महामण्डलिक के नाम से भी पुकारा जाता था (बंगाल का इतिहास भा० १, पृ० २७४–२७५) यद्यपि वे

वास्तव में स्वतन्त्र नहीं थे तथापि किसी प्रकार की समुचित व्यवस्था न होने तथा केन्द्रीय शासन के शक्तिहीन होने के कारण सहायक सामन्त भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने लगे। जिस आदर्श सिद्धान्त को लेकर प्राचीन काल में साम्राज्य का कार्य चलाया गया था वह मध्ययुग में हिन्दू राजाओं के हाथ नष्ट कर दिया गया। आठवीं सदी से एक विभिन्न तरह का राजतंत्र आरम्भ हुआ जिसका आधार विशिष्ट जाति थी। राजा अपनी जाति का ही एक राज्य (clan monarchy) स्थापित कर लेता था। उस तरह का नृपतन्त्र सारे राजपुताना में फैल गया। साधारणतया एक राजा के अधीन अनेक जातियाँ रहती थीं परन्तु नये ढंग का राजतंत्र उससे सर्वथा भिन्न था। राज्य केन्द्र में राजा स्वयं शासन करता रहा और चारों तरफ अधीनस्थ छोटे सरदार शासन करते थे जिन्हें सामन्त या महासामन्त कहा गया है। सियादोनी के लेख में वर्णन आता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा के अनेक सामन्त थे जो राजा भोज के अधीन कार्य करते रहे (ए० इ० भा० १, पृ० २१)। राजा के इच्छा करने पर भी वे एक सूत्र में बँध न सके। उनकी भौगोलिक परिस्थिति भी संघ स्थापना में बाधक होती गई, अतएव विजय प्राप्त करना कठिन था। इन्हीं प्रदेशों ने आगे चल कर मुसलमान काल में सरकार का रूप धारण कर लिया। हिन्दू राज्य के अन्त होने पर पुरानी सारी व्यवस्था जाती रही। अरब वाले इस्लामी राज्य और कालान्तर में साम्राज्य कायम करने में सफल हुए।

नृपतन्त्र

यद्यपि प्राचीन भारत में नृपतन्त्र के साथ साथ गणराज्य भी वर्तमान थे परन्तु चौथी शताब्दी के बाद प्रजातन्त्र के इतिहास का पता नहीं है। ईसा पूर्व सदियों से भारत में नृपतंत्र का प्रचार था। राजा वंशानुगत होता था तथा पूर्व परम्परा को ही मानता रहा। तथापि यत्र-तत्र जनता द्वारा उसे चुने जाने का उल्लेख मिलता है। इतिहास-लेखकों को १२वीं सदी तक राजा के निर्वाचन की कल्पना ही विचित्र मालूम पड़ती है। अत्यन्त प्राचीन इतिहास को छोड़ कर मध्य-कालीन शिला-लेख, ताम्रपत्र तथा साहित्य ग्रन्थों के आधार पर यही प्रकट होता है कि राजा के निर्वाचन की प्रथा भारत में प्रचलित न थी। समय के अनुसार राजा की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा अधिकार में अन्तर होता रहा। परन्तु उन परिस्थितियों में राजा का सब से बड़ा कर्तव्य यह था कि

वह अपनी प्रजा को आन्तरिक अशान्ति और बाहरी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करे (गोपा जनस्य) । वह नियम, व्यवस्था तथा परम्परा का संरक्षक था। वही भावना पूर्व मध्ययुग में भी काम करती रही। राजा के ऊपर सारी प्रजा की सुरक्षा का भार था। इतना ही नहीं; राजा को 'वर्णाश्रम-धर्म पालक' भी कहा गया है। उसका यह भी कर्त्तव्य था कि वह प्रजाजन को अपनी विभिन्न जाति में रहकर कार्य करने में नियोजित करे। पालवंशी राजा धर्मपाल लेखों में वर्णाश्रम धर्म-पालक तथा धर्म में प्रजा का नियोजक बतलाया गया है। शासक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक क्षेत्रों में प्रजा के कल्याण का निरीक्षक था। सारे सांसारिक कार्य सरकार की देख-रेख में रहते थे। तिब्बती आधार पर यह कहा जाता है कि पाल नरेशों ने नालंदा तथा विक्रम-शिला में बौद्ध मठों की स्थापना की थी। देवपाल ने वीरदेव को नालंदा महाविहार का प्रधान नियुक्त किया था। इसी प्रकार लेखों में सभी श्रेणी की धार्मिक संस्थाओं को दान देने का वर्णन मिलता है।

धार्मिक विधि-विचारों के उत्तरोत्तर बढ़ने से स्मृतियों तथा पुराणों ने स्पष्ट रूप से राजा को देवता के समान माना है। मनु ने कहा है कि राजा नर रूप में देवता है। उसके शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं (विष्णुपुराण) । राजा के देवत्व के साथ थोड़े स्मृतिकारों ने उसे ईश्वर का साक्षात् अवतार माना है। हिन्दू ग्रंथकारों ने राजपद दैवी माना है। प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा राजशक्ति पर कोई वैधानिक रोक लगाने की व्यवस्था नहीं की गई है। साधारणतया आमात्य मण्डल राजा पर थोड़ा अंकुश रखता था, पर मंत्रीगण राजा के इच्छानुसार ही नियुक्त किये जाते रहे। पूर्व मध्यकाल में राजा सत्यमार्गगामी भी थे जिसका वर्णन ग्वालियर के लेख में निम्न प्रकार है—'संत्यक्त परकलत्रो धर्मः करतोपि सर्वदा वश्यं निज वनिता परितुष्टोभिलषित सुहृद जनः प्रमदः।' उस राजा का परस्त्री से किसी प्रकार का सम्बन्ध न था और वह अपनी पत्नी के गुणों पर प्रसन्न रहता था। इससे शासक के सत्याचरण का अनुमान किया जा सकता है। वे विद्वानों के आश्रयदाता थे तथा स्वयं शास्त्रज्ञ होते रहे, किंतु स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश राजा के लिए रोक-टोक करना मंत्रियों तथा जनता के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। उन्हें जनमत की परवाह न थी।

एकतंत्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी तथा प्रजा हितैषी होते थे। उस समय ब्राह्मण तथा धर्मगुरुओं का प्रभाव राजा पर होता था। राजा तो सब प्रकार की क्रियाओं का उत्तरदाता और प्रजा की सर्वतोमखी उन्नति का निरीक्षक था। राजा भोज, जयचन्द तथा यशोवर्मा के दरबार को कवियों तथा विद्वानों ने सुशोभित किया था। दान देने की ओर राजाओं की विशेष रुचि थी जिसके प्रमाण में मध्यकालीन अनगिनत दानपत्रों का उल्लेख किया जा सकता है। विशेष धर्म के मानने पर भी वह अन्य धर्मों के विकास में बाधक नहीं था। बौद्ध पाल नरेशों ने तो ब्राह्मण मंत्रियों की नियुक्ति की थी। मध्ययुग की कई सदियों तक राजा प्रजापालक रहे परन्तु इस युग के अन्तिम भाग में शासक स्वेच्छाचारी तथा उच्छृंखल हो गये और मनमानी करने लगे थे।

युवराज

राजाओं के पश्चात् युवराज का नाम लेखों में मिलता है। राजकुमारों के लिए बालकपन से ही शिक्षा का प्रबन्ध होता था और वे प्रायः शस्त्र तथा शास्त्र में योग्यता प्राप्त करते रहे। राजा स्वयं विद्वान होने के कारण गुणग्राही थे। वर्षों तक राज्य करने के बाद उनको यह अनुभव होता कि राज्य के उत्तराधिकारी यानी युवराज की घोषणा कर दें। इस कारण वे योग्यतम पुत्र को ही युवराज बनाते रहे। यह सम्भव न था कि वह सब से ज्येष्ठ पुत्र ही हो पर वह गुणवान अवश्य हो जिससे पिता के जीवन में ही राज्यभार सँभाल सके। अत्यन्त प्राचीन काल में तो राजकुमार किसी प्रान्त का गवर्नर बनाया जाता था। गुप्तकाल में उसे उपरिकर महाराज की उपाधि दी जाती रही। यद्यपि मध्य युग में गवर्नर का पद न था फिर भी उत्तराधिकारी के निश्चय करने की परम आवश्यकता थी। इस तरह किसी अवसर पर राजा उसकी घोषणा कर देता था। यही कारण है कि प्रायः इस काल के दानपत्रों में राज्य के अधिकारियों की सूची में युवराज का सर्वप्रथम स्थान उल्लिखित मिलता है। गहड़वाल, चन्देल तथा परमार लेखों में कर्मचारियों की सूची में युवराज शब्द पाया जाता है। गोविन्दचन्द्रदेव के सभी लेखों में युवराज का नाम मिलता है। जयचन्द्र के युवराज होने के समय लेखों में दान का उल्लेख मिलता है। पाल युग में युवराज के लिये राजपुत्र शब्द का प्रयोग होने लगा था जो ९वीं

सदी के धर्मपालदेव की खालीमपुर प्रशस्ति में उल्लिखित मिलता है। बंगाल के लक्ष्मण सेन तथा उड़ीसा के सुभाकर के नूलपुर ताम्रपत्रों में भी युवराज के स्थान में राजपुत्र का ही प्रयोग किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखों के आधार पर युवराज की स्थिति निश्चित मालूम पड़ती है। ५०० ई० से लेकर १३०० ई० तक उत्तरी भारत में राज्य करने वाले विभिन्न वंशों के राजाओं के सैकड़ों ताम्रपत्र मिले हैं जिसमें भूमिदान का उल्लेख है और वहां युवराज से लेकर गांव के मुखिया तक समस्त शासन अधिकारियों से (जिन से कुछ भी बाधा की आशंका थी) दान पाने वाले व्यक्ति की अधिकार रक्षा का अनुरोध किया गया है। आश्चर्य की बात है कि गहड़वाल तथा सेन लेखों में युवराज के साथ राज्ञी (रानी) का नाम आता है परन्तु उस का पाल लेखों में अभाव है। यह कहना कठिन है कि शासन प्रबन्ध में राज्ञी का कितना हाथ था।

मंत्रिमण्डल

मध्ययुगी शासनतंत्र का मंत्रिमण्डल एक अविच्छेद्य अंग था। छठी सदी में मंत्रियों ने ही हर्षवर्धन को मौखरि राज्य का सिंहासन प्रदान किया था। परमार राजा यशोवर्मा के लेख में 'महाप्रधान' शब्द का प्रयोग मिलता है। गहड़वाल ताम्रपत्रों में महामात्य शब्द आता है। चन्देल-नरेशों के लेखों में अनेक मंत्रियों का उल्लेख मिलता है। कहने का अर्थ यह है कि सुशासन के लिए मंत्रियों का होना आवश्यक समझा जाता था। राजा के अतिरिक्त युवराज तथा प्रान्तों के शासक अपना मंत्रिमण्डल रखते थे। नीति तथा स्मृति ग्रंथों में मंत्रियों की संख्या के विषय में विवेचन किया गया है और पूर्व मध्ययुग के स्मृतिकारों ने इस प्रश्न पर अधिक विचार किया है। उनके मतानुसार मंत्रिमण्डल में तीन, पाँच, सात या दश मंत्रियों का होना जरूरी था। शुक्रनीति में दस मंत्रियों की संख्या मानी गई है जिसमें १—पुरोहित, २—प्रधान, ३—सचिव, ४—मंत्री, ५—प्राड्विवाक, ६—पंडित, ?८—सुमंत्र, ९—अमात्य तथा १०—प्रतिनिधि को सम्मिलित है। परन्तु मध्ययुगी मंत्रियों से इन नामों की समानता नहीं की जा सकती। मंत्रियों का कार्य-क्षेत्र शासन में ही सीमित न था किन्तु उनका कार्य नई नीति का निर्धारण तथा उसे कार्यान्वित करना होता था। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विषयों का चिन्तन और रक्षण उनका परम धर्म था। पर राष्ट्रनीति का समुचित संचालन भी

उनके शासन क्षेत्र में आता था। यदि शुक्र की मंत्री सूची पर विचार किया जाय तो पता लगता है कि मंत्रीगण विभिन्न नाम से इस युग के लेखों में उल्लिखित मिलते हैं। उनकी संख्या दस से अधिक भी मिलती है। पहला मंत्री पुरोहित गुप्तकाल के पश्चात् मंत्रि-मण्डल में नहीं गिना जाता था। वह उस समूह का सदस्य न था पर मंत्रियों से पृथक् उसकी स्थिति थी। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के लेखों में राज राज्ञी युवराज मंत्रि पुरोहित प्रतीहार तथा सेनापति के नाम एक साथ ही मिलते हैं। मंत्रि परिषद् का प्रधान या प्रधान मंत्री सब से महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता था। किन्तु पूर्व-मध्यकालीन लेखों में प्रधान मंत्री शब्द नहीं मिलता। केवल कलचुरि लेख में महामंत्रिन का उल्लेख मिलता है। पाल तथा सेन वंशी लेखों में राजामात्य शब्द का अधिक प्रयोग पाया जाता है जहां राजामात्य से प्रधान मंत्री का तात्पर्य समझा जाता है। परन्तु लेखों के आधार पर कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता।

प्रधान के पश्चात् मंत्रिमण्डल में द्वितीय स्थान युद्ध मंत्री का समझा जाता था जिसे साधारण भाषा में सेनापति कह सकते हैं। देश की रक्षा का प्रश्न प्रमुख होता था, इस कारण युद्ध-मंत्री का परामर्श अन्य विषयों से अधिक महत्त्वपूर्ण था। सेनापति शब्द के स्थान पर प्राचीन लेखों में बलाधिकृत या महाधिकृत शब्द पाये जाते हैं। किन्तु गोविन्दचन्द देव, भोज तथा धर्मपाल के लेखों में सेनापति या महा सेनापति का व्यवहार मिलता है। इसके अधीन सारे सेनाविभाग का कार्य होता था और सारी आय का प्रायः ५० फी सदी धन सेना विभाग पर व्यय किया जाता था। सेना में पैदल, घुड़-सवार, हाथियों के समूह तथा रथ दल, ऐसी चार शाखाएँ होती थीं। इसके प्रधान कर्मचारी को अश्वपति (भटाश्वपति) या हस्त्यध्यक्ष कहते थे। अश्व-पति की देख-रेख में अश्वशालाधिकारी घुड़साल की निगरानी किया करता था। मध्य युग में रथ का नाम लेखों में नहीं मिलता। इसके विपरीत पाल लेखों में नौबल नामक पदाधिकारी का उल्लेख आता है जो जलसेना का जिम्मे-दार था। बंगाल में नौसेना का वर्णन कालिदास ने भी किया है। भारत के अधिकांश भाग समुद्र से दूर थे इस कारण उन भागों में शासकों को स्थल पर ही युद्ध करना पड़ता तथा शत्रु के विरोध में घोड़ों की सब से अधिक जरूरत रहती थी। इसी कारण कई स्थानों पर घोड़े के मेले

युद्ध विभाग

का वर्णन मिलता है। पाल शासक समुद्र के समीप रहते थे अतएव उनके लिए नौसेना की आवश्यकता थी। यही कारण है कि पाल नरेश के लेख और ताम्रपत्र में नौबल व्यापृतक नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। लक्ष्मणसेन के लेख में भी वही शब्द प्रयुक्त मिलता है। रामपाल के लेख से सेना सम्बन्धी अन्य बातों का भो पता चलता है। विद्वानों ने गौभिक शब्द का तात्पर्य गुल्म से माना है जो सेना की एक टुकड़ी समझी गई है। उस टुकड़ी में ९ हाथी, ९ रथ, २७ घोड़े तथा ४५ सिपाही सम्मिलित रहते थे। दूसरा शब्द गणस्थ आता है जिसका अर्थ है गण यानी सेना की टुकड़ी का नायक। इसमें २७ हाथी, २७ रथ, ८१ घोड़े तथा १३५ सिपाही रहते थे। अर्थात् तीन गुल्म बराबर एक गण के होता था। बंगाल के उत्कीर्ण लेखों में सेना विभाग के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। सेन लेख में महापीलुपति तथा महाव्यूहापति शब्दों का प्रयोग मिलता है। पहले शब्द से हाथी के निरीक्षक का तात्पर्य माना गया है। व्यूहापति युद्ध में व्यूह ढंग को व्यवस्थित करता था। इसके अतिरिक्त गाय, भैंस, बकरे तथा भेड़ों के झुण्ड भी सेना के साथ रक्खे जाते थे (बंगाल का इतिहास, पृ० २८१) पाल वंश के लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि बंगाल में भारत के प्रत्येक कोने के सैनिक भरती किये जाते थे। सेना को हर एक प्रकार की सामग्री एकत्र करने के लिए अधिकारी होते थे जो रणभाण्डागारिक के नाम से पुकारे जाते थे। गहड़वाल राजा गोविन्द चन्द्र के लेख में उसके लिए भाण्डागारिक तथा कलचूरि लेख में महाभाण्डागारिक शब्द मिलते हैं परन्तु पाल तथा सेन लेखों में इस पदाधिकारी का नाम नहीं आता। सम्भवतः सेनापति के कार्यों में यह भी सम्मिलित था। पूर्वमध्यकाल में राष्ट्रीय रक्षा में दुर्ग का बहुत बड़ा स्थान था। प्रायः सभी राजाओं ने दुर्ग तैयार करवाया जिनकी निगरानी के लिए कोटपाल नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी। सीमान्त तथा उस ओर के मार्ग की रक्षा द्वारपाल करता था जो अपने क्षेत्र के कोटपाल के निकट सम्पर्क में रहता था। दुर्ग बहुधा सीमा के पास बनाये जाते थे, इस कारण दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति रक्खा जाता था। प्रतिहार साम्राज्य में सीमा का रक्षक कोटपाल ही 'मर्यादाधुर्य' कहा गया है।

मध्यकालीन शासक स्वयं सेना विभाग में दिलचस्पी लिया करते थे। युद्ध में फँसने का सदा भय बना रहता था। एकछत्र राज्य के अभाव में अपने-

अपने राज्य का विस्तार करने में सभी लगे रहते थे। इसलिए अच्छी सेना की जरूरत रहती थी। उस पर आधी आमदनी व्यय की जाती थी। विदेशी लेखकों ने भारतीय सेना के विषय में यत्र-तत्र उल्लेख किया है। सुलेमान ने लिखा है कि भोज राजा के पास अच्छे घुड़सवार थे। ग्वालियर के लेख में रामभद्र नामक सामन्त की निगरानी में एक घुड़सवार सेना का वर्णन मिलता है। प्रतिहार लेखों के हयपति शब्द को अश्वपति में बदल दिया गया है। खजुराहो लेख में देवपाल हयपति कहा गया था परन्तु चन्देल राजा अश्वपति कहे जाने लगे। अरब यात्री अलमसूदी ने प्रतिहार राजा महीपाल के विषय में लिखा है कि कन्नौज के राजा के पास बड़ी विशाल सेना थी। चारों दिशाओं में राजा के पास ७ लाख से ९ लाख तक सेना थी। उत्तर की सेना केवल मुसलमानों को रोकने के लिये थी। यह सर्व विदित है कि मुसलमान विजेता बहुत समय तक सिन्ध तथा मुल्तान से आगे न बढ़ सके, क्योंकि उन्हें प्रतिहार राजा का डर बना रहता था। सम्भवतः इसी घटना को अलमसूदी ने उल्लिखित किया है। (इलियट भाग १, पृ० २१)

इससे पूर्व भी, जयपाल के कहने पर, अनेक राजपूत शासक लाखों सैनिकों के साथ सुबुक्तगीन के विरोध में उत्तर-पश्चिमी सीमा पर गये थे। उन सब में अधिक प्रतिहार सेना की शक्ति का वर्णन अरब यात्रियों द्वारा तथा लेखों में किया गया है। भोजदेव के एक लेख में 'श्रीमहोदय (कन्नौज) सभा-वासिता नेक नौहस्त अश्व रथपति सम्पन्न स्कन्धावारात्' का उल्लेख आता है कि युद्ध के मैदान में हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि सभी वर्तमान थे (ए० इ० १९ पृ० १७) राजा लोग सेना की शक्ति बढ़ाने के लिए शूरता के लिए इनाम भी दिया करते थे। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के सामन्त वत्सराज के कमौली ताम्रपत्र में ऐसा ही वर्णन आता है कि कमल पाल नामक व्यक्ति को उसकी शूरता के लिए तगमा (राजपट्ट) दिया गया था (ए० इ० २, पृ० ३४४) इसके अतिरिक्त चन्देल लेख में 'मृत्यु वृत्ति' नामक शब्द मिलता है, जिसका तात्पर्य यह था कि मुसलमानों से युद्ध करने में मरे व्यक्ति के परिवार को राजा की ओर से, उसकी बहादुरी के स्मरण में, मासिक धन (वृत्ति) मिलता था। (ए० इ० १६, पृ० २० नं० १, २) इस तरह हिन्दू राजा मुसलमानों से लड़ने के लिए प्रजा को प्रोत्साहन दिया करते थे। पुरुषों के अतिरिक्त मध्यकाल में स्त्री वर्ग में भी वीरता की कमी न थी। स्त्रियों ने युद्ध में लड़ने के लिए या सामग्रियाँ एकत्र करने के लिए

अपने आभूषण तक दे दिए थे। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में शूर-वीर नर-नारी भरे पड़े थे।

मध्यकालीन राज्य छोटे होने पर भी स्वतन्त्र थे और एक दूसरे से राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। इस कारण परराष्ट्र विभाग एक अलग मंत्री के सपुर्द कर दिया गया था। लेखों में उसे महासंधि विग्रहिक कहा गया है। इसका अर्थ है कि वह पदाधिकारी जो युद्ध तथा सन्धि करने का अधिकार रखता था। परराष्ट्र मंत्री के लिए साम, दाम, दण्ड, तथा भेद की नीति से काम करना पड़ता था। कलचूरि तथा सेन लेखों में इस पर-राष्ट्र मंत्री के लिए महासन्धि विग्रहिक के साथ दूतक नामक पदाधिकारी का नाम आता है। गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्रदेव तथा बंगाल के राजा धर्मपाल के लेखों में इसे दूत की ही संज्ञा दी गई है। 'दूतो गोविन्द चन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः ।' सम्भवतः स्मृतियों में उल्लिखित दूत के लिए उसका प्रयोग किया गया था। वह गुप्तचर का कार्य करता था और विदेशियों की गति-विधि पर आंख रखता था। गुर्जर प्रतिहार जैसे बड़े राज्यों में परराष्ट्र मंत्री के कई सचिव रहा करते थे। इस विभाग के अन्तर्गत 'महा-मुद्राध्यक्ष' का भी एक उपविभाग था जो राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमतिपत्र देता था। लक्ष्मण सेन के लेख में इसे 'महामुद्राधिकृत' कहा गया है।

परराष्ट्र विभाग

राज्य के आय-व्यय का लेखा कोषाध्यक्ष के पास रहता था जिसका नाम गहड़वाल ताम्रपत्रों में मिलता है। परन्तु इससे पूर्व माल विभाग का एक मंत्री राज्य के नगरों, ग्रामों तथा जंगलों से होने वाली आय का ब्यौरा रखता था। सारे राज्य की भूमि सम्बन्धी अनुमानित आय का हिसाब उसी के पास रहता था। इसके अधीन कई पदाधिकारी होते थे। खेतों की व्यवस्था एक अधिकारी के जिम्मे रहती तो जंगल का कार्य दूसरे कर्मचारी के सपुर्द था जिसे स्मृतियों में आरण्याध्यक्ष कहा गया है। यह जंगलों की आय को बढ़ाता था। पुराने समय में पशुधन भी राज्य का प्रमुख धन था। इसलिए पशुओं की निगरानी के लिए एक गोध्यक्ष नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था जो गाय, भैंस, घोड़े तथा हाथियों के झुण्ड को देखता था। परमार तथा गहड़वाल लेखों में इसे गोकुलिक कहा गया है (ए० इ० १९, पृ० ७१) धर्म-

माल विभाग

पाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी तथा भेंड़ की निगरानी के लिए पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। लक्ष्मण सेन के उत्कीर्ण लेख में—हस्ति, अश्व, गो, महिषा जीविकादिव्यापृत शब्दों का वर्णन यह बतलाता है कि पशु धन की ओर राजाओं का ध्यान था। बंगाल ऐसे कृषि प्रधान प्रान्त में पशु रक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। राज्यकर विभाग के अधीन भूमि सम्बन्धी पत्र रखने वाला पदाधिकारी भी होता था। यह तो सर्व विदित है कि राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था जिसे वसूल करने के लिए पृथक् व्यक्ति नियुक्त किया जाता था। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में इसे षष्ठाधिकृत (छठें भाग को ग्रहण करने वाला) कहा गया है। अन्यत्र इसे औद्योगिक भी कहते थे। भूमिकर अन्न तथा नकद रूप में लिया जाता था। बंगाल में नकद कर वसूल करने वाले को 'हिरण्य सामुदयिक' कहते थे। कहीं भाण्डागारिक शब्द भी लेख में मिलता है। वह व्यक्ति राज-भण्डार में आने तथा जाने वाली वस्तुओं का हिसाब रखता था।

भूमि सम्बन्धी पत्रों को रखने के लिए एक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था जिसे कलचूरि तथा गहड़वाल लेखों में महाक्षपटलिक कहा गया है। यह

लेख्य विभाग

खेतों के विषय में पूरा विवरण तैयार करता और माल विभाग के अधीन होकर कार्य करता था। इसके नीचे भी कई कर्मचारी गण थे जो विहार में 'सीमाकर्मकर', बंगाल में 'प्रमातृ' तथा आसाम में 'सीमा प्रदाता' कहे जाते थे। केन्द्रीय शासन में लेखों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था थी। साधारण आज्ञापत्र के अतिरिक्त भूमिदान तथा अग्रहार के ताम्रपत्र अधिक समय तक सुरक्षित रक्खे जाते थे। परमार लेख में एक घटना का वर्णन मिलता है जहां दो दान पाने वाले व्यक्तियों ने अपने ग्राम को परस्पर बदलना चाहा था। इस कार्य में उन्हें ताम्रपत्रों को भी परिवर्तित करना पड़ा। यह उसी समय तक सम्भव था जब अक्षपटलिक के कार्यालय में पत्र सुरक्षित रक्खे जायँ। भूमि की सीमा तथा समस्त विवरण विद्यमान रहने के कारण भूमिदान की लिखा-पढ़ी शीघ्र कर दी जाती थी। उन पत्रों पर राजा का हस्ताक्षर भी होता रहा। इस तरह के हस्ताक्षर हर्षवर्धन के मधुवन तथा धारा-नरेश जयसिंह के मान्धाता ताम्रपत्र पर खुदे मिले हैं।

प्राचीन भारत में खेती के साथ उद्योग तथा व्यवसाय के कार्य में भी लोग संलग्न रहते थे। यों तो आर्थिक अवस्था का वर्णन पृथक् अध्याय में किया जायगा पर यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि

वाणिज्य विभाग

वाणिज्य विभाग की देख-रेख के लिए शासक की ओर से कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। नगरों तथा ग्रामों में जो माल बिकता था उस पर चुंगी लगाई जाती थी! पाल तथा परमार लेखों में उसके लिए शौल्किक (शुल्क 'चुंगी' ग्रहण करने वाला) शब्द मिलता है। माप-तौल के लिए भी अधिकारी नियुक्त थे। मध्यकाल में बंगाल में हट्टपति (बाजार का स्वामी) नामक कर्मचारी बाजार का निरीक्षण करता था। जनता के उपयोग की सामग्री की व्यवस्था, तथा निर्यात वस्तुओं का प्रबन्ध आदि कार्य उसके जिम्मे था। वह वस्तुओं का मल्य भी निर्धारित करता था पर उसके लिए निश्चित प्रमाग नहीं मिलते। गहड़वाल लेख में दान करते समय 'सलोहलवणाकार' यानी लोहा तथा नमक की खान सहित भूमि देने का वर्णन आता है। सम्भवतः इन सभी कार्यों की देख-रेख इसी विभाग के अधीन था।

नपतन्त्र में राजा ही न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। वह अधीन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुना करता था। उसके अतिरि.त कोई न कोई न्यायाधीश अवश्य था जो सारे विभाग की

न्याय विभाग

देख-रेख करता था। न्याय के विकेन्द्रीकरण की सरकारी नीति थी, इस कारण ग्राम तथा नगर में पृथक् पंचायत कार्य करती रही। कोई भी अर्थी क्रम से अभियोग को उपस्थित करता था जिससे न्यायालयों का काम हलका रहे। स्मृतियों में न्याय विभाग का वर्णन मिलता है परन्तु उत्कीर्ण लेखों में भी कभी उसका उल्लेख मिलता है। इस उदासीनता का कोई समुचित कारण नहीं मालूम पड़ता। छोटे मामले स्थानीय पंचायतों में देखे जाते थे, हाँ, ऊँचे न्यायालय में उसकी अपील होती थी। दण्डाध्यक्ष या प्राचीन न्यायकरणिक का उल्लेख नहीं मिलता। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में दण्डशक्ति शब्द आता है जो स्यात् न्यायालय से सम्बन्धित कोई पदाधिकारी हो। इसे मानने का एक कारण यह भी है कि वह शब्द कर्मचारियों की सूची में मिलता है। स्मृति ग्रंथों तथा मध्यकालीन उत्कीर्ण लेखों में कारागृह का वर्णन नहीं के बराबर है। इसका कारण यह हो सकता है कि कारावास दण्ड उस समय नहीं दिया जाता था और केवल

अर्थ दण्ड से ही काम चलता रहा। पाल वंश के लेखों में दशपराध दण्ड का उल्लेख मिलता है जिसके जुर्माने को वसूल करने के लिए पृथक् पदाधिकारी नियुक्त था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि सामाजिक दुराचार के लिए सब से कठोर दण्ड दिया जाता था। व्यभिचार तथा राजद्रोह के लिए हाथ पाँव तक काट लिये जाते थे। (वाटर भा० १, पृ० १७२) साधारण अभियोग के लिए जुर्माना किया जाता था। मुकदमों में गवाही के अतिरिक्त दिव्यसाक्षी की क्रूर प्रथा विद्यमान थी जिस से मनुष्य की सचाई की जाँच होती रही। जल में डुबाना, आग पर चलाना, विष का प्रयोग आदि दिव्यों का बुरा फल न होने पर वह व्यक्ति अपराध-रहित माना जाता था। पूर्व मध्य काल में निरंकश राजाओं के यहाँ उसकी आज्ञा ही अन्तिम निर्णय मानी जाती रही। मुसलमानों के आक्रमण के समय न्यायालय का व्यवस्थित रूप कैसा था, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। स्यात् शासक मामलों के लिए अपेक्षित समय न दे सकते थे और शीघ्र निर्णय करना आवश्यक समझते थे। इस कारण कभी-कभी स्थान पर ही फैसला कर दिया जाता और अपराधी को उसका फल भुगतना पड़ता था। परन्तु १२वीं सदी तक न्याय करने के लिए कोई न कोई अधिकारी वर्तमान थे। सेन लेखों में महाधर्माध्यक्ष का उल्लेख मिलता है जो न्याय विभाग का सब से बड़ा पदाधिकारी था।

भारतवर्ष में राजतन्त्र में राजमहल का भी एक विभाग था जिनकी निगरानी किसी विश्वासपात्र कर्मचारी के सपुर्द कर दी जाती थी।

महल

बंगाल में उसे 'आवसार्थक' कहा गया है (बंगाल का इतिहास, भा० १, पृ० २८४) उसके अतिरिक्त द्वारपाल नाम के नौकर भी रहा करते थे जिसके लिये मध्यकालीन लेखों में प्रतिहार तथा महा प्रतिहार शब्द भी आता है। वह राजा के सम्मुख मिलने वाले व्यक्तियों को उपस्थित करता था। सेन लेख में 'आंतरंग' तथा गहड़वाल में 'अन्तःपुरिक' शब्द मिलते हैं। गोविन्द चन्द्र के प्रायः सभी लेखों में इसी शब्द का प्रयोग मिलता है जो प्रतिहार के लिये आया है। राजा के अंगरक्षक दल का भी उल्लेख डा० मजूमदार ने किया है '(बंगाल इतिहास १, पृ० २८५) आजकल की भांति राजघराने के लिए वैद्य का उल्लेख मिलता है जिन्हें गहड़वाल लेखों में भिषग् की संज्ञा दी गयी है। परमर्दि के सेमरा ताम्रपत्र में तो वैद्य शब्द ही प्रयोग किया गया है। मध्यकाल से यात्रा पर विचार

करने के लिए ज्योतिषी भी राज दरबार में रक्खे जाते थे, जिनसे युद्ध यात्रा में सलाह ली जाती थी। गहड़वाल, चहमान तथा चालुक्य लेखों में इसका नाम आता है जो शकुन आदि नाना विश्वासों पर विचार किया करता रहा। (इ० ए० १८, पृ० १७, १९ पृ० २१८, ए० इ० भा० १, पृ० ३४३) उसी तरह राजकवि का भी राजसभा से सम्बन्ध अवश्य बना रहता था। कितने विद्वान राजा से सहायता प्राप्त करते और विद्याभ्यास में तल्लीन रहते थे। इस तरह राजमहल का काम सुन्दर ढंग से चला करता था। राजा को प्रसन्न रखने के लिए कवि तथा भाँट प्रतिदिन आया करते और मनोविनोद के लिए राजा आखेट को भी जाया करता था। पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक अशान्ति से उनके जीवन में उथल-पुथल मची हुई थी। अपने को सुरक्षित न देख कर शासक अशान्तिमय जीवन बिताने लगे थे। आपस की फूट तथा मुसलमानों का आक्रमण उस अशान्ति के कारण थे।

देश की आन्तरिक शान्ति के लिए पुलिस विभाग की आवश्यकता समझी गई है और प्राचीन शासक इसके कार्य को महत्त्वपूर्ण समझते थे। इसलिए इस विभाग के कर्मचारियों का नाम लेखों में उत्कीर्ण मिलता है। पाल, परमार, गहड़वाल तथा प्रतिहार लेखों में पुलिस अधिकारी के लिए दाण्डिक, दण्डपाशिक या दण्ड शक्ति शब्द प्रयोग किये गये हैं। पालवंश के नालंदा, खालीमपुर तथा आभागाधी ताम्रपत्रों में चौरधरणिक (चोर पकड़ने वाला) शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। सम्भवतः इन अधिकारियों को विशेष अवसर पर भेजा जाता था। ग्रामों में मुखिया रक्षा का भार सँभालता था और स्वयंसेवक दल उसी के अधीन रहता था। जब कभी पुलिस अधिकारी ग्राम या नगर में जाते थे तो वहाँ के निवासियों को इनके भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता था। यह नियम सब पर बराबर लागू न था। गाँव के दानग्राही इससे (चाटभट प्रवेश दण्ड) मुक्त समझे जाते थे। यदि चोरी होती तो उसका हरजाना राजा को देना पड़ता था। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में खोल नामक कर्मचारी का उल्लेख मिलता है जिसे डा० मजूमदार गुप्तचर विभाग से सम्बन्धित करते हैं। वह छिपे तौर पर अभियोग का पता लगाता था। कहने का तात्पर्य यह कि साधारण पुलिस के साथ गुप्तचर भी उस विभाग में नियुक्त किये जाते थे।

पुलिस विभाग

राजा के शासन सम्बन्धी धार्मिक कार्यों को पण्डित या पुरोहित देखा करता था। प्राचीनकाल में तो इस विभाग की देख-रेख के लिए एक कर्मचारी नियुक्त था परन्तु पूर्व-मध्यकालीन लेखों में धर्माध्यक्ष का अधिकार उल्लिखित नहीं मिलता है। केवल चेदि लेख में धर्म प्रधान तथा सेन लेख में महाधर्माध्यक्ष के नाम आते हैं, जिसके अधीन सभी धार्मिक कार्य थे। इस कार्य में सभी धर्मों की बराबर सहायता की जाती थी। हिन्दू, जैन, बौद्ध का भेद-भाव न था। बौद्ध धर्मानुयायी पाल नरेश ब्राह्मण को अच्छे पद पर नियुक्त करते तथा दान भी देते रहे। इसी प्रकार हिन्दू बौद्धमठ को दान दिया करते थे। इस युग में हिन्दू धर्म में बौद्धधर्म विलीन हो रहा था। राजा व्यक्तिगत दान न देकर विहार, मठ, मन्दिर तथा शिक्षा आदि संस्थाओं को दान दिया जाता था। दान कार्य की अधिकता के कारण ही अधिकारी नियुक्त किया गया था जिसे पाल कालीन लेखों में अग्रहारिक कहा गया है। (बंगाल इतिहास पृ० २२४) दान देते समय कुछ शर्तें लगाई जाती थीं जिन्हें अग्रहारिक कार्यान्वित करता था। कभी जाली दान-पत्र भी बनते रहे जिनका वह पता लगाता और अपराधी को दण्ड देता था। गहड़वाल शासन काल में इसी तरह के एक जाली दानपत्र का वर्णन आता है। (ज० ए० स० बं० ६, पृ० ५४७)

धर्म विभाग

इन सब केन्द्रीय विभागों का कार्य राजा की सलाह से मंत्रिपरिषद के लोग किया करते थे। राजा मंत्रियों का मान करता और उनकी राय पर चला करता था। पूर्व मध्ययुग में राजा ही सभी मंत्रियों की नियुक्ति करता था इस कारण वे सभी उसी के कथनानुसार कार्य संचालन करते थे। इन विभागों के अध्यक्षों के अतिरिक्त चन्देल, गहड़वाल, चेदि, प्रतिहार, पाल या सेन दानपत्रों में कुछ अन्य पदाधिकारियों के नाम आते हैं जिनके संबंध में निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। दानपत्र के सम्बन्ध में राजा जिन पदाधिकारियों को सम्बोधित करता था, उसी सूची में निम्नलिखित कर्मचारियों के नाम भी मिलते हैं—

(१) दोह साधणधनिक
(२) गामागमिक
(३) अभित्वर्मण
(४) ताड युक्तक
(५) विनियुक्तक
(६) महास्वसाधनिक
(७) स्थानान्तरिक

की विक्री पर टैक्स नियत था। एक पीपा तेल बेचने पर एक छोटे मापभर तेल देना पड़ता था। तमोली को भी द्रम (पैसा) देकर चुंगी चुकानी पड़ती थी। गुर्जर प्रतिहार वंश के सियादोनी लेख में ९वीं सदी में विभिन्न व्यापारियों पर चुंगी लगाने का वर्णन मिलता है। शराब का व्यापारी आधे द्रम (विग्रह पाल सिक्के) फी पीपा शराब पर प्रति मास कर दिया करता जो पुण्य कार्य में व्यय किया जाता था। तेली को प्रत्येक कोल्हू पर एक पलिका (करछुल) तेल कर के रूप में देना पड़ता था। संगतराश हर एक गढ़ाई की आमदनी से आधा द्रम टैक्स देता था। इसी प्रकार चाहमान लेख में निम्न प्रकार का वर्णन मिलता है 'मार्गे गच्छतानामागतानां वृषभानां शेकेषु-प्रत्येक बैलगाड़ी भरे सामान पर दो रुपया चुंगी ली जाती थी जिस पर किराना (मसाला) लदा हो। (ए० इ० ११, पृ० ३७)।

राज्य में कभी-कभी असामयिक कर भी लगाया जाता था। पुलिस (चाटभट्ट) या सैनिक के गाँव में जाने पर वहाँ के लोगों को भोजन तथा रहने का प्रबन्ध करना पड़ता था। इसी प्रकार का तुरुष्क-दण्ड भी था जिसका उल्लेख गोविन्द चन्द्र के लेख में सदा आता है। काशी के पास जो दानपत्र मिले हैं उन सब में तुरुष्क दण्ड का उल्लेख है। अनुमानतः इस कर को मुसलमानों के आक्रमण के अवसर पर प्रजा को देना पड़ता था। गहड़वाल लेखों में कुमारगादिआनक, कूटक, जातकर (स्यात् संतान पैदा होने पर टैक्स) के नाम भी मिलते हैं जिनके विषय में अधिक जानकारी नहीं है। जंगल तथा खानों से भी राजा को आय होती रही। इसी सम्बन्ध में दशापराध दण्ड का नाम आता है कि दश अपराधों में मनुष्य को आर्थिक दण्ड देना पड़ता था। इस प्रकार के विभिन्न मार्गों से आय में वृद्धि होती रही। राज्य में दौड़ा करने वाले पदाधिकारी को विष्टी (बेगार) लेने का अधिकार था। यह एक अप्रिय प्रथा थी। परन्तु बेगार का (विष्टी) उल्लेख स्मृति ग्रंथों में भी पाया जाता है। स्थानीय संस्थाएँ भी सार्वजनिक उपयोगी काम के लिए इस धन का उपयोग करती थीं। राज्य में सभी लोगों को कर देना आवश्यक था पर श्रोत्रिय तथा दानग्राही ब्राह्मण सदा कर से मुक्त कर दिये जाते थे। उसका कारण यह था कि उन व्यक्तियों पर बोझ डालना राजा के लिए दु:ख का विषय था। उनके अतिरिक्त अन्धे, लँगड़े, अपाहिज भी राजकीय कर से सर्वदा के लिए मुक्त कर दिये जाते थे।

राजकीय आय को ऐसे ढंग से व्यय किया जाता था कि राजा प्रजा में

सद्भावना बनी रहे। जनता के कल्याण के लिए सार्वजनिक कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किये जाते थे। इस युग की सब से महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि ९वीं सदी के बाद शासक गण ने संस्थाओं को दान देना आरम्भ कर दिया और व्यक्ति के स्थान पर शिक्षा संस्था, मठ, मन्दिर आदि को अधिकतर दान दिये जाने लगे। धर्मशाला तथा सदावर्त में काफी धन व्यय होता था। राजकीय आय को प्रायः चार विभिन्न मार्गों से व्यय किया जाता था। पहला कर्मचारियों का वेतन, दूसरा राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक कार्य, तीसरे शिक्षा तथा चौथे दान को व्यय का मार्ग माना गया है। ह्वेनसाँग ने इसी को दूसरे शब्दों में लिखा है कि आय का चौथाई भाग राज्य के कार्य में, दूसरा चौथाई दान में, तीसरा चौथाई विद्वानों के निमित्त (यानी शिक्षा कार्य) और शेष भाग विभिन्न धर्म के मार्ग में व्यय किया जाता था।

पूर्व मध्यकाल में शासकों का ध्यान सार्वजनिक कार्य की ओर अधिक था। मन्दिर तथा मठ निर्माण का काम इतना अधिक हुआ कि प्रत्येक राज्य में स्थान-स्थान पर मन्दिर बनाये गये। इसके अतिरिक्त धर्मशाला तथा उसीसे सम्बन्धित सदावर्त का वर्णन अनेक लेखों में मिलता है। कन्नौज के राजा जयचन्द ने काशी में कई मन्दिर बनवाये थे। चन्देल राजाओं का खजुराहो मन्दिर सर्व प्रसिद्ध था। पहाड़पुर की खुदाई से प्रकट होता है कि ८वीं सदी में वहाँ ऐसा मन्दिर बनवाया गया था जिसका अनुकरण बृहत्तर भारत (जावा) में भी किया गया। शिक्षा संस्थाओं के निर्माण में पाल राजाओं का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। विक्रमशिला तथा नालंदा में विहारों के तैयार करने का श्रेय पाल-नरेशों को ही है। इस काल में जनता की रक्षा के लिए किले बनाये गये थे जिनमें काफ़ी धन खर्च किया गया होगा। खेद है कि मुसलमान विजेताओं ने उन्हें नष्ट कर दिया जिससे उस युग के भवनों का इतिहास ग्रंथों (इतिहास) के पृष्ठों में सुरक्षित है। हाँ, खजुराहो, भुवनेश्वर तथा कालिंजर आदि स्थानों की इमारतें उस अतीत का चित्र आज भी प्रस्तुत करती हैं।

पूर्व मध्यकालीन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि उस युग में दान व्यय का सब से बड़ा मार्ग था। यह कहा जा चुका है कि संस्थाओं को दान करने का कार्य आरम्भ हो गया था, इसलिए पहले से भी अधिक आय का अंश इस पवित्र कार्य के लिए देना पड़ता था। ग्राम संस्था में गोप नामक कर्म-

चारी लेख्य को सुरक्षित रखता था जिस प्रकार अक्षपटलिक केन्द्र में कार्य करता रहा। दान करते समय ताम्रपत्र पर उस भूमि की सीमा तथा माप लिखी जाती थी। प्राकृतिक सीमा न होने पर नवीन चिह्नों से सीमा निश्चित कर दी जाती थी और राज्य के सारे अधिकारियों को सूचित कर दिया जाता था जिससे कि भविष्य में किसी प्रकार की बाधा न आ सके या कोई कर्मचारी रुकावट न पैदा करे। गुर्जर प्रतिहार, गहड़वाल तथा पाल ताम्र-पत्रों पर राज्य के पदाधिकारियों के नाम खुदे मिलते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि दानग्राही को उस भाग से कर ग्रहण करने का अधिकार था। वह सभी प्रकार के राजकीय करों से मुक्त कर दिया जाता था जिसमें असामयिक कर भी सम्मिलित थे। वह दानग्राही निविधर्म के अनुसार सभी प्रकार के लाभ उठा सकता था। चन्देल लेखों में तो वृक्षों तथा जलाशयों के साथ भूमि-दान का वर्णन मिलता है। गहड़वाल गोविन्द चन्द्र के दानपत्रों में लोह तथा लवण की खान के साथ भूमिदान का विवरण पाया जाता है। इतना बन्धन अवश्य था कि दानग्राही उस भूमि को बेच नहीं सकता या बन्धक नहीं रख सकता था। इस से भूमि छिन्न-भिन्न होने से बच जाती थी। जब संस्थाओं को दान दिया जाता था तो उसका मुख्य व्यक्ति दानग्राही की तरह सभी अधिकार रखता था पर उस भूमि की आय (भूमिकर, चुंगी आर्थिक दण्ड आदि) से मन्दिर या विहार का खर्च चलाया करता था। कभी कभी विशिष्ट चुंगी को शासक मन्दिर में पूजा निमित्त दिलवा दिया करता था। शिक्षा संस्थाओं में किसी तरह का शुल्क न होने के कारण शासक तथा दान देने वालों का धन उस संस्था के खर्च के लिए पर्याप्त होता था। इन शिक्षण संस्थाओं की महत्ता इतनी बढ़ गई थी कि भारत के बाहरी देश जावा से दान देने का वर्णन मिलता है। जावा के राजा बलपुत्रदेव ने नालंदा महाविहार के लिए पाँच गाँव दान में दिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा संस्थाएँ तथा मन्दिर के सारे प्रबन्ध दान के धन से ही हुआ करते थे।

राज्य की आय का कोई भाग स्थायी कोष में रक्खा जाता था या नहीं; इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता। परन्तु मुसलमान लेखकों ने उल्लेख किया है कि हिन्दू राजा सिंहासना पर बैठते समय पूर्वजों द्वारा संचित कोष पाते थे। उस कोष में से व्यय करने का कम अवसर आता था। संकट के समय शासक उसमें हाथ डालते थे। राजकीय ऋण की कल्पना तक न थी और उसी संचित कोष से आपत्काल में अपनी रक्षा करते थे।

मुसलमान विजेता द्वारा राजधानी से धन लूट कर ले जाने का वर्णन सभी को ज्ञात है। इससे प्रकट होता है कि केन्द्र में हिन्दू राजा संकट से बचने के लिए स्थायी कोष रखते थे।

यह कहा जा चुका है कि राजतंत्र का विकेन्द्रीकरण हो गया था। केन्द्र में प्रत्येक विभाग वर्तमान था जिसका मंत्री उसकी देख-रेख करता था।

प्रान्तीय शासन

सारे राज्य को प्रान्तों (भुक्तियों) में बाँट दिया गया था जिसके प्रबन्ध के लिए प्रांतिपति राजा की ओर से नियक्त किया जाता था। हर्ष, गुर्जर प्रतिहार तथा पाल राज्य भुक्ति में बंटे थे। पाल राज्य इतना विस्तृत था कि बंगाल ही तीन भुक्तियों में बँट गया था (पुण्ड्रवर्धन, वर्द्धमान तथा दण्ड) विहार प्रान्त को तोराभुक्ति तथा श्रीनगर भुक्ति में विभक्त किया गया था और आसाम का प्रान्त प्राग्जोतिष भुक्ति से प्रसिद्ध था। प्रान्तपति को शासक अपने हस्ताक्षर के साथ आज्ञापत्र दिया करता था जिसका पालन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक था। गवर्नर के लिए लेखों में विभिन्न नाम मिलते हैं। हर्ष के ताम्रपत्रों में राजस्थानीय, कुमारामात्य तथा उपरिक शब्द मिले हैं। यह कहना उचित है कि ये तीनों पदवियाँ गवर्नर के लिए प्रयुक्त की जाती थीं। किसी लेख में कुमारामात्य तो दूसरे में राजस्थानीय अथवा उपरिक शब्द का उल्लेख पाया जाता है। पालवंशी आमागछी लेख में कुमारामात्य, देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र में उपरिक और राजस्थानीय शब्द आते हैं। उड़ीसा के एक लेख में अन्तिम दोनों शब्द मिले हैं। इन पदवियों के अतिरिक्त भोगपति शब्द भी धर्मपाल के खालीमपुर दानपत्र में प्रान्तपति के लिए प्रयोग किया गया है। कलचूरी लेख में भोगिक शब्द आता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रान्तपति के लिए कई शब्दों का प्रयोग होता रहा। भुक्ति का शासन एक अधिकारी के हाथ में था, जो राजा की ओर से सब राज्य-प्रबन्ध करता था। उस समय गहड़वाल के समान भी छोटा राज्य था जिसमें प्रादेशिक विभाग कम थे। इस कारण उन्हें केवल जिले विषय में बाँटा गया था। प्रान्त में सुशासन से जनता में राजनिष्ठा बनी रहती और केन्द्रीय शासन सुदृढ़ रहता था। भूमि-कर तथा अन्य टैक्स प्रान्तीय राजधानी में वसूल करने के बाद शासन व्यय काट कर शेष केन्द्रीये सरकार को भेज दिया जाता था।

पुराने समय में जिले के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग मिलता है। मध्य-

कालीन लेखों में 'विषयपति' का नाम मिलता है जो आजकल के जिलाधीश के समान था। उसका काम जिले में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखना था। वह मालगुजारी आदि-करों की वसूली करता था। उसके अधीन कई कर्मचारी थे जो मालगुजारी के काम में लगे रहते। चोरद्धरणिक तथा दण्डपाशिक नामक पुलिस कर्मचारी सम्भवतः विषयपति के अधीन रहते थे। यह कहना कठिन है कि वाणिज्य तथा उद्योगधंधे के काम भी उसी के अनुशासन में थे या नहीं। विषयपति के पास न्याय का अधिकार न था। गुप्तकालीन लेखों में जिले की परिषद का वर्णन मिलता है परन्तु बाद के लेखों में जिला पंचायत का विवरण नहीं मिलता। गहड़वाल, पाल तथा उड़ीसा के लेखों में विषयपति के नाम मिलने के कारण यह प्रकट होता है कि उत्तर प्रदेश से लेकर उड़ीसा तक एक प्रकार का शासन था परन्तु उनके कार्य के विषय में विस्तृतरूप से कहा नहीं जा सकता। सुभाकर के नूलपुर पत्र से पता चलता है कि जिले में लेख को सुरक्षित रखने के लिए पुस्तपाल भी नियुक्त किया जाता था। (ए० इ० १५, पृ० २)।

जिले का प्रबंध

कई लेखों में पुर (नगर) सम्बन्धी शासन की चर्चा मिली है। नगर में अधिकांश गैर सरकारी व्यक्ति काम करते थे। परमार राजा भोजदेव के ग्वालियर लेख से पता चलता है कि नगर के लिए स्थान तथा बोर्ड (वीर) शब्दों का प्रयोग किया जाता था (ए० इ० १ पृ० २५)। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्र में स्थान कुलाधिकारि पुरुषान् का उल्लेख है। बोर्ड के कितने सदस्य होते थे, यह कहना कठिन है पर राजपुताना में १०वीं सदी के बोर्ड का विवरण मिलता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्यकारिणी के प्रतिनिधि चुने जाते थे और स्यात् एक वर्ष की अवधि होती थी। (प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १६५)।

पुर-शासन

भारतवर्ष में पुराने समय से शासन की स्वतंत्र इकाई को ग्राम कहते थे। राजतंत्र के अन्तर्गत प्रजातंत्र शैली पर काम करने वाली यही संस्था थी जिसका कार्य ग्रामसभा किया करती। पाल लेखों—आमागछी, खालीमपुर तथा नालंदा ताम्रपत्रों में गाँव के सर्वोच्च अधिकारी को ग्रामपति, ग्रामिक या महत्तर कहा गया है। कलचूरी लेख में 'ग्राम महत्तराधिकारिन्' शब्द पाया

ग्राम-शासन

जाता है। चन्देल राजा परमर्दि के सेमरा ताम्रपत्र में महत्तर का ही उल्लेख मिला है। गहड़वाल लेखों में महत्तर या महत्तम शब्द गाँव के मुखिया के लिए प्रयुक्त मिलता है। प्राचीन काल में ग्राम की महत्ता थी और मुखिया को बड़े-बड़े अधिकार दिये गये थे। वह प्रजातंत्र की प्रणाली से ग्रामसभा संगठित करता और कई उप समितियों द्वारा सारा प्रबंध करता था। मध्यकालीन लेख में भी इसे 'पंचकुली' कहा गया है (ए० इ० भा० ११, पृ० ४९). पंचायत के विभिन्न अधिकारों के बारे में उत्कीर्ण लेख मौन हैं, परन्तु इस बात के मानने में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि पुराने समय की बातें सर्वथा परिवर्तित हो गई थीं। गाँव शासन की एक ऐसी इकाई थी कि इससे किसी भी राजा ने छेड़छाड़ नहीं की। सर्वत्र ज्यों का त्यों कार्य चलता रहा। हिन्दू क्या मुसलिम काल तक गाँव पंचायत अपना कार्य करती रही। अँग्रेजों के आने पर शासन केन्द्रीयकरण होने पर ग्राम पंचायतों का ह्रास हो गया।

मुखिया का सब से प्रधान कार्य गाँव की रक्षा तथा न्याय करना था। प्रत्येक कार्य के लिए कुछ लोगों की उपसमिति होती थी जो उस कार्य को पूरा करती थी। सार्वजनिक कार्य के लिए राजा से सहायता तथा दान मिला करता था। महत्त्व के प्रश्न या संकटकाल में गाँव के सभी लोग एकत्र होते थे। उस आपत्ति से बचने के लिए गाँव की भूमि तक बेच दी जाती थी। भूमिकर वसूल कर राजकोश में जाता था पर उसका थोड़ा अंश गाँव के व्यय के लिए रख लिया जाता था। बंजरभूमि पर पंचायत का अधिकार होता था। वह जिसे चाहे दे दे, या बेच दे। इस प्रकार जमीन के बेचने से जो धन मिलता था वह वहाँ के सार्वजनिक कार्य के लिए व्यय किया जाता था। शिक्षा के प्रसार में ग्रामसभा का कम हाथ न था। मन्दिरों में पाठशालाएँ लगती थीं। अनाथालय तथा चिकित्सा का प्रबन्ध मुखिया ही करता था। पाल लेख में दस ग्रामिक शब्द मिलता है। सम्भवतः कई ग्रामों को (दस ग्रामों को) मिला कर ग्राम पंचायत से भी बड़ी कोई संस्था थी जिसका अधिकारी दस ग्रामिक नाम से पुकारा जाता था।

दूसरा अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन आर्थिक अवस्था

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही राजनैतिक परिस्थिति के साथ-साथ लोगों के आर्थिक जीवन में भी परिवर्तन होता रहा है। अत्यन्त प्राचीन समय में साम्राज्य की स्थापना के साथ शासकों ने विकेन्द्रीकरण की नीति को इसलिए अपनाया कि समाज की दशा सुधरती रहे और जनता सुख का अनुभव करे। साम्राज्य के अन्तर्गत गाँवों में पंचायतें स्थापित की गईं और नगर-प्रबन्ध की व्यवस्था की गई। इससे ग्राम तथा शहर के निवासी अपनी भलाई के लिए स्वयं प्रयत्नशील हो गये। गाँव के मुखिया को कृषि सम्बन्धी बातों की चिन्ता रहती तो नगर का श्रेष्ठी व्यापार की उन्नति में संघ वालों के साथ संलग्न रहता था। इस प्रकार शासन में विकेन्द्रीकरण के कारण समाज में लोग शान्ति का अनुभव करने लगे तथा वैभवपूर्ण हो गये। यद्यपि पूर्व मध्यकालीन आर्थिक अवस्था की जानकारी के लिए विशेष साधन उपलब्ध नहीं हैं तथापि विदेशी यात्रियों के विवरण, लेखों में तत्सम्बन्धी वर्णन तथा कतिपय ग्रंथों के उल्लेख से आर्थिक परिस्थिति का ज्ञान होता है। मुसलमान यात्रियों के विवरण द्वारा व्यापार के विषय में विशेष जानकारी होती है। भारतीय व्यापार के लिए पूर्व मध्ययुग का समय (६०० ई० से १२०० ई०) स्वर्णयुग माना जा सकता है जिस काल में भारतीय उपनिवेश बसाये गये। मध्यएशिया तथा एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीप-समूह में भारतवासी जाकर वहीं बस गए। उन भूभागों को वृहत्तर भारत का नाम दिया जाता है। यहाँ मुसलमानों के आने से पहले ही अरब वालों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था जो इन सदियों में काफी बढ़ गया। मुसलमान विजेताओं ने भारत से जितना लूट का माल बाहर भेजा था उसे देखते हुए मध्यकाल के आर्थिक वैभव का परिज्ञान होता है। हजारों मन सोना, हीरे तथा मोती भारतीय धनराशि के द्योतक हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी थी। तत्कालीन लेखों में उल्लिखित दान करने की प्रथा राजाओं की आर्थिक नीति को स्पष्ट कर देती है और उसके सहारे आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

कृषि — भारत सदा से कृषि प्रधान देश रहा है। जनता अधिकतर गाँवों में रहती है और कृषि के द्वारा अपनी जीविका चलाती है। १०वीं या ११वीं सदी तक तो राजा कृषकों से भागभोग (कर) छठें भाग में लिया करता था। सामन्तों के कारण थोड़े समय के लिए जमींदारी प्रथा का लोग अनुभव करने लगे थे, पर १२वीं सदी से नकद मालगुजारी देने का ढंग चल निकला। महासामन्त का कोई स्थान न रहा और उपज के छठें भाग की बात समाप्त हो गई। जमीन के अनुसार भूमिकर घटता-बढ़ता रहा। शासकों की ओर से सिंचाई का भी प्रबंध था। उस दशा में मालगुजारी अधिक ली जाती थी। बंजर भूमि का लगान बहुत कम था। नहरों, तालाबों तथा कुंओं से सिंचाई होती थी। 'राज तरंगिणी' में सूर्य नामक कर्मचारी का वर्णन मिलता है जिसने बाढ़ से नष्ट बाँध को ठीक कराया था। झेलम के तट पर बाँध बँधवाये गये थे। गुप्त राजा आदित्यसेन की स्त्री कोण्य देवी ने सिंचाई के लिए तालाब खुदवाया था। परमार राजा भोज ने एक विशाल तालाब बनवाया था। लेखों में वर्णन आता है कि चन्देल राजाओं ने स्थान-स्थान पर झीलें खुदवाई थीं जो आज भी उसकी कीर्ति का वर्णन कर रही हैं। राजाओं को कुंओं की भी आवश्यकता जान पड़ी थी। कहने का तात्पर्य यह कि शासक सिंचाई के महत्त्व को पूर्ण रीति से समझते थे। मुसलमानों ने आकर इन्हें नष्ट कर दिया। आमेर आदि तालाब सदा के लिए बन्द कर दिये गये।

गाँव की अवस्था — प्राचीन समय में गाँवों की प्रधानता थी। देश की अधिक संख्या वहीं रहती थी। ह्वेनसांग ने भी इसी की चर्चा की है कि गाँवों में किसान पर्याप्त अन्न फल तथा पुष्प पैदा करते थे। वहाँ की भूमि तीन प्रकार की थी—गोचर, बंजर तथा उपजाऊ भूमि। जानवर भी देश के धन समझे जाते थे इस कारण प्रत्येक गाँव में गोचर भूमि रहती थी। मध्यकालीन लेखों में गोपथ या गोमार्ग का उल्लेख मिलता है। पाल तथा सेन-प्रशस्तियों में 'तृणयूति चरपर्यन्त' का वर्णन आता है, जिसका अर्थ है कि गोचर भूमि में अनेक प्रकार की घासें पैदा होती थीं (बंगाल का इतिहास, भा० १, पृ० ६४३) चन्देल राजा परमर्दि के महोबा ताम्रपत्र में नाना प्रकार के वृक्षों के नाम मिलते हैं जिन्हें भूमि के साथ दानग्राही को अग्रहार में दे दिया जाता

था। उनमें आम, महुआ, शाल, इमली आदि के नाम आते हैं। गाँव में अन्न पैदा करने के साधन थे ही। वहाँ के निवासी गेहूँ, जौ, चने के साथ गन्ना, सन आदि की फसलें भी उगाया करते थे। कृषक सभी वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर पाते इस कारण उन चीजों के बेचने के लिए बाजार लगाये जाते थे। इसी प्रबन्ध के लिए राजा की ओर से एक कर्मचारी (हट्टपति) नियुक्त किया जाता था। गाँव के निवासियों के सादे जीवन से सभी परिचित हैं। १२वीं सदी के बंगाल के देवयारा लेख में कृषकों के सादे जीवन की एक झांकी मिलती है। उस लेख में राजा विजय सेन कहता है कि गाँव के ब्राह्मण वेदों में पारंगत हैं, पर धन-रहित हैं। राजा ने ऐसा प्रयत्न किया कि उन विद्वानों के पास भी कुछ सम्पत्ति हो जाय। उस प्रयत्न से ब्राह्मण धनवान हो गये परन्तु उनकी पत्नियों को मूल्यवान् पत्थरों का ज्ञान तक न हो पाया। इस कारण मोती, हीरे, पन्ने तथा सुवर्ण मुद्रा को पहचानने के लिए गाँव की स्त्रियों ने नगर की ललनाओं से परखने का ढंग सीखा। (बंगाल का इतिहास, भा० १, पृ० ६४५) इस तरह के उल्लेखों से वहाँ के निवासियों के सादे जीवन का पता लगता है।

गाँव में अधिकतर भूमि दान से मिल जाती थी। ब्राह्मण तथा श्रोतिय को सदा कर-रहित भूमि ही मिलती थी। परन्तु ९वीं सदी के बाद अनगिनत दानपत्रों में व्यक्तियों के स्थान पर संस्थाओं के नाम लिखे मिलते हैं। उनमें नीति-धर्म के अनुसार सारा अधिकार दानग्राही को मिल जाता था। स्यात् भूमि के विघटन के भय से दानपत्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख रहता था कि दान लेने वाला व्यक्ति उस भूमि की आय का उपभोग कर सकता था परन्तु उस भूमि को विक्रय या बन्धक नहीं रख सकता। इस तरह भूमि टकड़ों में विभक्त होने से बच जाती थी। दान लेने वाले को सब प्रकार के कर लेने की राजकीय आज्ञा मिल जाती थी। यहाँ तक कि उस भूमि से भविष्य में निकलने वाले धन पर भी उसी व्यक्ति का अधिकार रहता था। गहड़वाल लेख में तो लोहा तथा नमक की खान को भी भूमि के साथ (सलोहलवणाकर) दान में देने का वर्णन आता है। चन्देल परमर्दि के महोबा लेख में सभी वृक्षों के साथ भूमि दान देने का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, भूमि असामयिक कर (चाट भट) पुलिस टैक्स आदि से भी मुक्त कर दी जाती थी। सारांश यह है कि ताम्रपत्रों में सभी अधिकार के साथ भूमिदान का विवरण पाया जाता है।

मध्यकालीन लेखों में भूमि नापने की प्रथा का वर्णन आता है। गुप्तकाल में भूमि के लिए एक माप का उल्लेख मिलता है जिसे कुल्यावाप कहते थे।

भूमि माप

कुल्य अनाज नापने का एक साधन (छोटी टोकरी के सदृश) था। उसी आधार पर उस भूभाग को एक कुल्यावाप कहते थे जिसमें एक कुल्य नाज बोया जा सके। पिछले गुप्तकाल में एक बड़े माप का नाम मिलता है जिसे पाठक कहते थे। यह कुल्यावाप का पाँच गुना समझा जाता था। लोकनाथ के तिपेरा लेख में दोनों मापों के नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अनाज माप के लिए द्रोण शब्द का भी प्रयोग किया जाता था 'धान्य द्रोण-द्वयम्'। कुल्य के साथ वाप शब्द प्रयुक्त होता रहा, उसी के सदृश द्रोणवाप भी प्रयोग में आ गया था। पहाड़पुर के ताम्रपत्र में कल्यावाप तथा द्रोण-वाप में एक तथा आठ का अनुपात मिलता है। (बंगाल का इतिहास, १, पृ० ६५२) हल नामक माप को चौथे स्थान पर रख सकते हैं। इसका अर्थ उतनी पथ्वी से था जो एक हल से बोई जा सके। काँगरा से ९वीं सदी के बैजनाथ वाले लेख में हल का प्रयोग मिलता है, 'एक हल वाहनीया दत्ता भूमिः महेशाय। भूमिश्च हल चतुष्टयं योग्या दत्ता नवग्रामात् ॥' एक हल से दस बीघा माप माना जाता था। पाँचवाँ माप हस्त नाम से प्रसिद्ध था। इसे तो साधारणतया सभी प्रयोग करते रहे। ग्वालियर के एक लेख में 'परमेश्वरीय हस्त' का उल्लेख है। स्यात् राजा का हाथ ही वैधानिक माप (standard) समझा जाता था। अन्यथा इस परमेश्वर शब्द के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं। पश्चिमी भारत के वलभी लेख में माप के लिए पादावर्त शब्द मिलता है जो एक वर्ग फुट के बराबर माना गया है। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के लेखों में नालु शब्द माप के लिए मिलता है। नालु सम्भवतः नल शब्द का ही दूसरा रूप मालूम पड़ता है। बंगाल के सेन लेख में 'नल' माप के लिये आया है। नल एक प्रकार का पौधा होता है जिसके लम्बे-लम्बे पतले छड़ होते हैं। इसी से नापने का काम लिया जाता होगा। इस तरह पृथ्वी के माप के लिए विभिन्न समय तथा प्रान्तों में पृथक्-पृथक् माप काम में लाये जाते थे। कुल्य तथा द्रोण नाज के माप थे जिनके सम्बन्ध में वास्तविक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। स्यात् बीज बोने से ही भूमि के माप का अनुमान किया जाता था।

पुराने समय में नगरों की संख्या कम थी परन्तु मध्यकाल में क्रमशः नगर

बढ़ते ही गये। यात्रियों के वर्णन तथा लेखों के उल्लेख द्वारा पता लगता है कि नगर राजधानी, तीर्थ तथा व्यापारिक केन्द्र में बसाये गये थे। कई राजाओं ने भी अपने नाम पर नगर बसाये। वहाँ के लोग कृषि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न रखते थे बल्कि सदा व्यापार में फँसे रहते थे। 'राजतरंगिणी' में पुण्ड्रवर्धन के वैभव का वर्णन मिलता है। विजय सेन के देवपारा लेख में नगरों के निवासियों के विलासपूर्ण जीवन का अच्छा वर्णन किया गया है। बाण ने उज्जयिनी का तथा ह्वेनसाँग ने कान्यकुब्ज का जो वर्णन किया है उससे लोगों की समृद्धि का पता चलता है। चीनी यात्री का कहना था कि उस नगर में सम्पत्तिशाली तथा समृद्धिशाली लोगों की संख्या अधिक थी। वहाँ के लोग चमकते हुए रेशमी कपड़े पहनते थे। नगर ऊँचे भवनों तथा उद्यानों से सुशोभित था। इसी प्रकार कादम्बरी में बाण ने उज्जयिनी के करोड़पति लोगों की बात लिखी है (कोटि सारेण अधिष्ठिता उज्जयिनी नाम नगरी) भवन, प्रासाद तथा आनन्द वाटिका का वर्णन पठनीय है। नगर के बाजारों में शंख, मोती, हीरे, मूंगे, मरकत आदि मूल्यवान् पत्थर बिकते थे। ह्वेनसाँग ने भारत की महान् सम्पत्ति का एक कारण व्यापार भी बतलाया है। उसी प्रसंग में व्यापार की नगरी थानेश्वर का नाम लिया गया है (वाटर्स १, ३१४)। हर्षवर्धन ने इस नगर को छोड़कर कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी बनाया था। प्राचीन समय में पाटलिपुत्र को जो स्थान मिल चुका था वही महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्व मध्यकाल में कन्नौज को दिया गया। प्रायः ६०० ई० से १२०० ई० तक यह उत्तरी भारत का प्रधान नगर था जिसका शासक उत्तरी भारत का सम्राट् (प्रधान नरेश) समझा जाता था। इसी नगर पर विजय पाने के लिए गुर्जर प्रतिहार, पाल तथा गहड़वाल राजा युद्ध करते रहे। कन्नौज के वैभव के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। मसऊदी ने लिखा है कि यह (कन्नौज) बड़ा नगर है। इसके चारों ओर परकोटा है। बाग बहुत हैं और लोग सुन्दर हैं। व्यापार बहुत है। मध्य भारत की धारा नगरी भी परमार शासन काल में अत्यन्त प्रसिद्ध थी। भोज की वह राजधानी बनकर अनेक विद्वानों को आश्रय देती रही। उसी तरह चन्देलों की पद्मावती नगरी के विषय में खजुराहो लेख में निम्न लिखित वर्णन मिलता है—

नगर का जीवन

आसीद प्रतिभा विमान-भवनैः आभूषिता भूतले

लोकानामधिपेन भूमि पतिना पद्मोत्थ वंशेन या।
केनापीह निवेशिता कृतयुगे त्रेतान्तरे श्रूयते
सच्छास्त्रे पठिता पुराण पटुभिः पद्मावती प्रोच्यते ।
सौधोत्तुंग-पतंग लंघन पथ प्रोत्तुंग माला कुला
शुभ्रामंकष पाण्डुरोच्च शिखर प्राकार चित्ताम्बरा
प्रालेयाम चल शृंग सन्निभ शुभ प्रासाद पद्मावती,
भव्या पूर्वमभूद पूर्वरचना या नाम पद्मावती।

सारांश यह है कि संसार में पद्मावती नगरी अद्वितीय है। उसके ऊँचे महल भली भांति सुसज्जित हैं। सड़कों पर अतुलनीय भीड़ लगी रहती है। पर्वत की वाटिका की तरह यह नगर अट्टालिकाओं से भरा पड़ा है। साहित्यिक व्यक्ति पुराणों के विद्वान् इसे पद्मावती नाम देते हैं। गहड़वाल राजाओं के शासन काल में काशी तथा प्रयाग दोनों तीर्थ स्थानों में लोग बहुत आया-जाया करते थे। चेदि लेख में वर्णन मिलता है कि राजा गाँगेयदेव ने समस्त रानियों के साथ प्रयाग में सद्गति प्राप्त की थी। धार्मिक स्थान के महत्त्व को समझ कर ही गोविन्दचन्द्रदेव काशी में अग्रहार दान दिया करता था। इस राजा के अनेक ताम्रपत्र काशी के समीप गाँवों में मिले हैं जिनमें दान का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। मसलमान लेखकों ने भी काशी के धन तथा वैभव का वर्णन किया है कि पंजाब से मुस्लिम गवर्नर ने काशी पर आक्रमण किया जो स्थान सोना, जवाहरात तथा सुन्दर सुगन्धित वस्तुओं से भरा पड़ा था। इससे तीर्थ स्थानों में संचित धन का अनुमान किया जा सकता है। पश्चिम की ओर मुल्तान नाम का प्रसिद्ध नगर था जो मुल्तान नामक स्वतंत्र राज्य की राजधानी था। सातवीं सदी में अरब वालों का अधिकार इस नगर पर हो गया था और उसी समय से बराबर यह मुसलमानों का उपनिवेश बना रहा। मुलतान में अरबी तथा भारतीय सभ्यताओं का एक सुन्दर सम्मिश्रण पाया जाता है। यह नगर छोटा तो था पर बड़ा सुन्दर था। नगर में मुहम्मद बिन कासिम की बनवाई मसजिद थी और एक विशाल सूर्य मन्दिर भी था। कहा जाता है कि इस सूर्य देव की पूजा के निमित्त दूर दूर देशों के लोग आया करते थे और हजारों रुपये चढ़ावे में देते थे। मुसलमान सुल्तान ने कन्नौज के शासक प्रतापी गुर्जर प्रतिहारों के आक्रमण को रोकने के लिए इस सूर्य मन्दिर को एक साधन बना रक्खा था। जब कभी प्रतिहार नरेश सिन्ध पर चढ़ाई करने की बात सोचते और ज्यों आगे बढ़ते

थे कि मुसलमान उस मन्दिर को तोड़ने की धमकी देते और हिन्दू राजा धार्मिक भावना के कारण वापस लौट आता ताकि मन्दिर बचा रहे। उस गुर्जर वंश की शक्ति के कारण कई सदियों तक मुसलमानों ने मुल्तान से बाहर हिन्दुस्तान में बढ़ने की कोशिश भी नहीं की। दसवीं सदी के बाद प्रतिहार राज्य के नष्ट हो जाने पर मुसलमानों ने मुल्तान से पूरब की ओर विजय प्राप्त की। अरब लेखक बुशारी का कथन है कि मुल्तान के हिन्दू न तो बदचलन हैं और न शराब पीते हैं। न तो माल खरीदने में झूठ बोलते हैं और न कम तौलते हैं। वे यात्रियों का सत्कार करते हैं। नहर से सिंचाई होती थी। देश हरा-भरा था। व्यापार की दशा अच्छी थी। नगर सुन्दर रीति से सजे तथा वैभवपूर्ण थे। सुखमय जीवन था और लोग सुशील थे। पूरब की ओर बंगाल में स्थित पहाड़पुर का स्थान भी धार्मिक स्थान की श्रेणी में रक्खा जाता है। ८वीं सदी में यहाँ एक सुन्दर मन्दिर बनवाया गया था जो मूर्तियों से भरा पड़ा था। यहाँ पर मिट्टी की मूर्तियाँ कृष्ण तथा राम की जीवन सम्बन्धी लीलाओं की याद दिलाती हैं। यहाँ पर नृत्य करती हुई स्त्रियों की मूर्तियाँ मिली हैं। साधारण जीवन की बातें भी इन मृण्मयी मूर्तियों से ज्ञात की जाती हैं। बच्चे को लिए स्त्री कुयें से पानी भर रही है। जीवन के अन्य कार्यों के सम्बन्ध में भी बातें मालूम पड़ती हैं। रथ पर सवार धनुषधारी सिपाही, स्त्री तथा पुरुष सैनिक वेष में, दण्ड धारण किये साधु, हल लिये हुए किसान, बाघ के साथ स्त्री तथा पुरुष आदि आदि पट्टियों के नमूने मिले हैं। व्यायाम सम्बन्धी मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन सब के देखने से पता चलता है कि पहाड़पुर नगर का जीवन सुखमय था। स्त्रियाँ सैनिक जीवन के कठिन कार्य से लेकर सुखमय आमोद-प्रमोद तथा संगीत के कार्यों में सहयोग दिया करती थीं। बंगाल के लोगों का बाहर जाने का मार्ग ताम्रलिप्ति होकर था। अतएव इस बन्दरगाह से भारतीय सभ्यता पूर्वी द्वीपसमूह में फैली। पहाड़पुर का प्रभाव बृहत्तर भारत पर भी पड़ा। जावा का बोरोबुदूर का मन्दिर इसी के अनुकरण पर तैयार किया गया था। नगरों के लोगों का जीवन गाँव के निवासियों की अपेक्षा सुखी था। वे जीवन की आवश्यकताएँ शीघ्रता से पूरी कर लेते रहे। व्यापार के कारण सभी वस्तुएँ सुलभ थीं। विनिमय के साधन में सिक्कों के साथ कौड़ियों का भी नाम लेखों में मिलता है। यानी कौड़ियों से कुछ वस्तुएँ भी खरीदी जाती थीं। दैनिक जीवन की सामग्री सस्ती थी। इस कारण कम खर्चे में काम चलता रहा।

नगरों में विशिष्ट व्यवसाय तथा व्यापार ही प्रधान कार्य था। नगर के रहने वाले बुद्धिजीवी होने के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों में जाकर क्रय-विक्रय में तन-मन-धन लगाते रहे। प्राचीन भारत में आजकल की तरह पूंजीपतियों के हाथ में व्यापार न था किन्तु स्थान-स्थान पर इस कार्य को छोटी-छोटी संस्थाएँ करती रहीं जो श्रेणी या व्यावसायिक संघ के नाम से पुकारी जाती थीं। मध्यकालीन लेखों में श्रेणी का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। श्रेणी का मुखिया सेट्ठी या श्रेष्ठी कहलाता था। कई लेखों में वह सार्थवाह भी कहा गया है। उसका मुख्य कार्य श्रेणी के कार्य का संचालन था। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठी नगर-शासन तथा जिले के शासन में नगरपति या विषयपति (जिलाधीश) की सहायता किया करता था। वह प्रतिनिधि के रूप में उस भाग के व्यवसाय पर ध्यान रखता था। एक-एक कार्य की पृथक् उप-संस्था होती थी और एक पेशेवाले भी अपना सुव्यवस्थित समुदाय (श्रेणी) बनाते थे। स्मृति ग्रंथों में इन गण संस्थाओं का विस्तृत विवरण मिलता है जिसकी पुष्टि मध्यकालीन लेखों से की जा सकती है। खजुराहो के लेख में विभिन्न श्रेणियों—तैलिक, माली और संगतराश के नाम मिलते हैं। गण के नियम सभी सदस्यों को मानने पड़ते थे तथा राज्य भी संघ की सत्ता को मानता था। व्यवसायी तथा व्यापारी श्रेणी का कार्य आगे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। सार्थवाह समुदाय व्यापार में लगा रहता था। सभी प्रकार के श्रेणी कार्य पर राजा की ओर से चुंगी लगती थी जिस कारण उनका नाम प्रशस्तियों में आता है। श्रेणियों के विभिन्न कार्यों का पता लेखों से मिलता है। व्यापार के अतिरिक्त वे बैंक का कार्य करती थीं। कोई व्यवसाय के लिये कर्ज लेतीं तो कोई ऋण दिया करती थीं। उस समय में प्रचलित ९ से १२ फी सैकड़ा सूद दर का उल्लेख मिलता है। श्रेणियों द्वारा दान देने का भी वर्णन पाया जाता है।

श्रेणी या संघ

पर्व मध्यकालीन व्यापार की जानकारी के इतने विभिन्न साधन हैं कि उनको जोड़कर ही एक खाका बनाया जा सकता है। इस युग में साहित्य की पुस्तकें काफी अधिक लिखी गईं तो भी उनमें लोक-जीवन की वार्ता पर कम विचार किया गया है। हिन्दू लेखकों ने विभिन्न बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है परन्तु उनके ग्रंथों में व्यवसाय तथा व्यापार

व्यवसाय तथा व्यापार

के सम्बन्ध में कोई सम्बन्धित विवरण नहीं मिलता। तत्कालीन दानपत्रों में शुल्क का उल्लेख, श्रेणी संस्था का वर्णन तथा मुसलमान यात्रियों के यात्रा-विवरण से व्यापार के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें यहाँ प्रस्तुत की जायँगी। पूर्व मध्यकालीन मूर्तियों तथा चित्रों के आधार पर पता चलता है कि भारतवर्ष में पहनने के सुन्दर कपड़े बनते थे। मथुरा तथा बनारस से बढ़िया सूती कपड़ा (दुकूल) बना कर सब जगह भेजा जाता था। बंगाल तो प्राचीन समय से मलमल के लिए प्रसिद्ध था। अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है कि ९वीं सदी में बंगाल में ऐसा बारीक कपड़ा बनता था जैसा अन्यत्र कहीं तैयार नहीं हो सकता था। सुलेमान ने उसे सूती कपड़ा कहा है और उसने अपनी आँखों से बनते देखा था। दसवीं सदी के अरब यात्री इब्न खुर्दाजबा ने भी बंगाल में बनने वाले सूती कपड़ों की प्रशंसा की है। वह कार्य दिन पर दिन आगे बढ़ता गया और कपड़े का व्यापार बड़े पैमाने पर होने लगा था।

कपड़े के बाद भोजन सम्बन्धी वस्तुएँ भी पैदा की जातीं और व्यापार के लिए भेजी जाती थीं। नमक बनाने के लिए सम्भवतः कोई विशेष उपाय नहीं काम में लाया जाता था। मिट्टी में नमक रहता था जिसे पानी में डाल दिया जाता था। पानी भाप बनकर बाहर निकल जाता और नमक नीचे बैठ जाता था। मध्यकालीन लेखों में दान के वर्णन में 'सलवणाकर' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसी तरह १०वीं सदी के इर्दा ताम्रपत्र में 'लवणाकर' का उल्लेख मिलता है। रामपाल के ताम्रपत्र तथा भोज वर्मन के १२वीं सदी के दान-पत्र में 'सलवणः' भूमिदान का वर्णन मिलता है इससे प्रकट है कि भूमि नमक की खान के साथ दान में दी जाती थी। (बंगाल का इतिहास, भा० १, पृ० ६५६) इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकाल में नमक बनाने का कारोबार होता था। गन्ना और चीनी के विषय में भी दो शब्द कहे जा सकते हैं। चन्देल राजा परमर्दि के महोबा लेख में गन्ने का नाम आता है। सम्भवतः बुन्देलखण्ड में गन्ने से चीनी बनाई जाती होगी (ए० इ० १६, पृ० १३) गुर्जर प्रतिहार १०वीं सदी के सियादोनी लेख तथा ९वीं सदी ग्वालियर लेखों में व्यापारियों पर चुंगी लगाने का वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिये एक शराब के व्यापारी को फी पीपा आधा सिक्का (द्रम) चुंगी चुकानी पड़ती थी। तेल के व्यवसायी को प्रत्येक कोल्हू पर एक पलिका (करछुल) तेल कर के रूप में देना पड़ता था। यह आय देश-सेवा में व्यय की जाती थी। चन्देलों के एक लेख खजुराहो में तेल के बड़े कारखाने (मिल) का उल्लेख

मिलता है, जो मन्दिर में दीप-दान के निमित्त तेल दिया करता था। उसी प्रसंग में व्यापारी के ऋण लेने की बात कही गई है। तात्पर्य यह कि स्थान-स्थान पर चीजों के तैयार करने का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।

८वीं सदी से लगातार दो सौ वर्ष तक उत्तरी भारत में मिट्टी की मूर्तियाँ तथा घरेलू वस्तुएँ बड़े पैमाने पर तैयार की जाती रहीं। पहाड़पुर की खुदाई से इस व्यवसाय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मूर्तियाँ तो अनगिनत संख्या में मिलती ही हैं (जो बंगाल के पहाड़पुर तथा महास्थान में विशेष रूप से मिली हैं) लेकिन घरेलू सामान की संख्या भी कम नहीं है। घड़ा, लोटा, हँड़िया (भोजन बनाने के लिये) तश्तरी, दावात तथा लालटेन आदि का नाम लिया जा सकता है। काशी में भी मिट्टी की मुहरें प्रचुर मात्रा में मिली हैं जिससे पता चलता है कि कुम्हार बड़ी चतुरता से मिट्टी के सामान तैयार कर बेचते थे। कमौली ताम्रपत्र में कुम्भकार तथा निधानपुर के ताम्रपत्र में कुम्भकारगर्त (खाई) के उल्लेख से इस बात की पुष्टि होती है कि बर्तन और मूर्ति तैयार करने का कार्य गाँवों में हुआ करता था। पूर्व मध्य-काल में संगतराश लोगों की श्रेणी थी जो प्रस्तर पर अपनी हस्तकला दिखलाते थे। बंगाल तथा बिहार से प्राप्त काले पत्थर की गढ़ी मूर्तियों को देखकर यह कहना पड़ता है कि मध्यकाल के संगतराश अपना सानी नहीं रखते थे। चेहरे के साथ, कमलासन तथा सूक्ष्म रीति से वस्त्राभूषणों की बनावट हस्तकला में उनकी निपुणता की घोषणा करते हैं। अश्लील तथा श्रृंगारिक प्रतिमाओं में भी भद्दापन आने नहीं दिया गया है। खजुराहो के मन्दिर तथा प्रतिमा बनाने वाले श्रेणी संस्था (संगतराशों के समूह) का उल्लेख चन्देल लेख में मिलता है। इस युग का सब से कठिन काम कांस्य-मूर्तियों को ढालने तथा मूल्यवान पत्थरों के आभूषण तैयार करना था। मूर्तियों में हार, कर्णफूल, कड़ा, माला तथा भुजबन्द का नाम लिया जाता है। विजय सेन के देवपारा लेख में रानियों द्वारा इन आभूषणों के पहनने का वर्णन मिलता है। उसी लेख में मन्दिर की परिचारिका द्वारा प्रयुक्त आभूषणों का नाम आता है। बल्लालसेन के लेख में मोतियों के हार का उल्लेख है। (बंगाल के लेख ७७) साहित्य-ग्रंथों में अनेक मूल्य-वान आभूषणों के नाम दिये गये हैं। अरब यात्रियों ने लक्ष्मणसेन के महल में सोने-चाँदी के पात्रों के प्रयोग का उल्लेख किया है। कहने का तात्पर्य यह कि सोना तथा मूल्यवान पत्थरों के आभूषण बनाये जाते और बाजार में भी

बेचे जाते थे। मध्यकाल में बनी हुई वस्तुएँ बेचने के लिए बाजार लगते थे। ८८३ ई० के गुर्जर प्रतिहार राजा भोज के अहोवा लेख में घोड़े का व्यापार तथा तत्सम्बन्धी पशु मेले का वर्णन मिलता है। वहाँ घोड़ा खरीदने को भोजपुर तथा पूर्वी पंजाब से लोग आते थे। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र में हाटक (हट्टपति —बाजार का मालिक) नामक कर्मचारी का नाम कई बार आया है। सम्भव है वह बाजार में क्रय-विक्रय को देखने वाला अधिकारी था। शौल्किक चुंगी लेने के लिये नियुक्त था। नदी पार नाव से सामान ले जाया जाता था। इसके लिए घाट पर तरिक नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था जो माल के पार उतरने में व्यवस्था करता तथा उचित टैक्स वसूल करता था। पुण्ड्रवर्धन स्थान में बाजार तथा सड़कों पर सजी दूकानों का वर्णन कथा सरित्सागर में मिलता है। अनेक लेखों में हट्ट, सहट्ट, हट्टवर या हट्टीय गृह का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि देश में सामान बेचने के लिए स्थान (बाजार) निश्चित थे जहाँ व्यापारी सामान बेचने को आते थे। उन बाजारों में अन्न तथा फलों के साथ साथ किराना (मसाले) भी बिकता था।

चाहमान के लेख में बैलगाड़ी पर लदे सामान पर चुंगी लगाने की बात है (ए० इ० ११, पृ० ३७) जहाँ पर एक बैलगाड़ी पर बीस बोझ लदे रहने पर दो रुपया टैक्स लगता था। किराना लदी बैलगाड़ी पर तो एक रुपया चुंगी लगती रही।

'मार्गे गच्छतानामागतानां वृषभाणां शेषु।'

इससे पता चलता है कि व्यापारिक सामान सड़क से बैलगाड़ी द्वारा आया जाया करता था। ह्वेनसाँग ने भी इस तरह के मार्गों का वर्णन किया है। इसमें संदेह नहीं कि मध्यकाल में सेना के ले जाने के लिए पथ अवश्य बने होंगे जिन से व्यापार के निमित्त कोई रुकावट न थी। उज्जैन व्यापारिक दृष्टि से मध्यस्थ का काम करता था। वह मार्ग बन्दरगाह से उत्तर भारत की ओर आता था। कन्नौज भी उसी प्रकार का नगर था जहाँ से होकर मुसलमानी सेना बंगाल की ओर गई थी। काशी में चारों तरफ से रास्तों का जाल-सा बिछा था। कथा सरित्सागर में वर्णन आता है कि पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) से पाटलिपुत्र तक व्यापारी आते रहे। सातवीं सदी में इत्सिग जब ताम्रलिप्ति में उतरा तो सीधे पश्चिम का रास्ता पकड़ कर बोध गया आया। उस यात्रा मार्ग में चीनी यात्री को कई सौ व्यापारी मिले थे।

तत्कालीन एक लेख में उल्लेख मिलता है कि अयोध्या नगरी से ८वीं सदी में व्यापारी गण सामान के साथ ताम्रलिप्ति बन्दरगाह तक बार-बार आया करते थे (ए० इ० भा० २, पृ० ३४५) इसी मार्ग द्वारा बंगाल से उत्तर पश्चिम की ओर व्यापार होता और सेना भी इसी रास्ते से आती-जाती थी। यद्यपि नदियों के व्यापारिक मार्ग के विषय में कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता परन्तु यह तो निश्चित है कि उत्तरी भारत में नदियाँ, विशेषतः गंगा, से सामान नाव पर आया जाया करता था। तारिक नामक अधिकारी घाटों पर माल उतरवाने का भी प्रबन्ध करता था। यह तो सर्व प्रसिद्ध है कि भारत में सर्व प्रथम संस्कृति का विस्तार नदियों की घाटी में हुआ था और नगर भी नदी के किनारे बसाये गये थे—जैसे पाटलिपुत्र काशी, अयोध्या, मथुरा, कन्नौज आदि। इसलिए नदियों के सम्बन्ध में लोगों की पूरी जानकारी थी और उसके मार्ग का उपयोग अवश्य होता होगा। सड़कों की अपेक्षा नदियों द्वारा व्यापारिक सामान ले जाना सरल होता है। इस कारण उस साधन को काम में लाने में किसी तरह की कठिनाई न थी। एक नगर से दूसरे नगर को नदियों से आते जाते थे।

विदेशी व्यापार

देश की अतुल सम्पत्ति का आंशिक कारण विदेशियों के साथ उसका व्यापार भी था। यह व्यापार स्थल तथा जल मार्ग से होता था। उत्तर-पश्चिम मार्ग से होकर अरब पार कर योरप तक भारतीय माल जाया करता था। काश्मीर से होकर मध्य एशिया और वहाँ से चीन को व्यापारी जाते रहे। मध्य एशिया से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्रियों के अध्ययन से पता लगता है कि व्यापारियों ने ही वहाँ भारतीय सभ्यता का विस्तार किया और खोतान, मीरान, तुंगहुआंग तथा कूचा में उपनिवेश बनाये। भारत से मध्य-एशिया जाने के तीन मार्ग थे, पर सब से सरल मार्ग को ही व्यापारी पसन्द करते थे। वे काश्मीर के लदाख प्रदेश होकर (श्रीनगर से लेह होकर) कर्राकोरम के दर्रे से हिमालय को पार कर मध्य एशिया पहुँचते थे। यों तो भारतवासी वहाँ बहुत पहले से जाते थे परन्तु सातवीं सदी के बाद उनका आवागमन अधिक होने लगा। भारतीय उपनिवेश के बस जाने से व्यापार की उन्नति की बातें सामने आती हैं। मध्य एशिया के काशगर, यारकंद, खोतान में भारतीय व्यापारी माल बेचने जाते थे और वहाँ से तरीम कांटे के दक्षिणी मार्ग से चीन तक पहुँच जाते थे। एर्डकिंस ने न मालूम किस आधार पर

लिखा है कि मध्य एशिया की यात्रा से लौटकर एक राजपूत चायंकियन ने चीन के राजा वूती से बतलाया था कि मध्य एशिया में सिन्ध के कपड़े बिकते थे (चाइनीज बुधिज्म, पृ० ८८) मध्य एशिया में खोतान केन्द्र था जहाँ से होकर भारतीय व्यापारी पश्चिम यारकंद तथा पूरब में तुपेनहुआंग तक (चीन तक भी) जाते थे। खोतान की तरह उत्तर में कूचा भारतवासियों का केन्द्र था। भारत से लोग वहां भी बस गये थे। चीन के लोग व्यापार करने तथा विद्या पढ़ने मध्य एशिया तक आते रहे। खोतान की खुदाई में भारतीय ढंग की चीजें मिली हैं, इससे भारतवासियों के वहाँ निवास की बात पुष्ट हो जाती है। ७वीं सदी के बाद मध्यकाल में चीन वालों का अधिकार मध्य एशिया पर हो गया था। धीरे-धीरे चीन वालों का आधिपत्य काश्मीर तथा काबुल के समीप तक हो गया, इस कारण भारत से मध्य एशिया होकर चीन तक व्यापार में सुगमता हो गई। चीन जाने का एक दूसरा स्थल मार्ग भी था जो आसाम होकर दक्षिण चीन तक पहुँचता था। प्रायः ९वीं शती तक यह मार्ग काम में लाया जा रहा था। इसी प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि सिकम तथा चुम्बी की घाटी होकर भारत से तिब्बत को मार्ग गया था। पूर्वमध्यकाल में इस मार्ग की प्रधानता बढ़ गई थी। व्यापारियों के अतिरिक्त नालंदा विश्वविद्यालय से बौद्धभिक्षु भी इसी मार्ग से तिब्बत जाते थे। इस रास्ते से घोड़ों का व्यापार होता रहा और तिब्बत से घोड़े बंगाल में आते रहे (बंगाल का इतिहास १, पृ० ६६३)।

जलमार्ग

चीन ऐसा देश था जहाँ जल से भी भारतीय आया-जाया करते थे। यों तो भारत के किनारे से जहाज माल लेकर पूरब में चीन तथा पश्चिम में अरब या आफ्रीका तक जाया करते थे। उनमें सब से अधिक चालू रास्ता ताम्रलिप्ति (बंगाल में स्थित) से बंगाल की खाड़ी होकर जाता था जो सुमात्रा द्वीप को पार करता, चीन की खाड़ी के बीचोबीच कम्बोडिया प्रायद्वीप का चक्कर लगाता चीन के बन्दरगाह तक पहुँच जाता था। ह्वेनसाँग ने ताम्रलिप्ति के विषय में लिखा है कि व्यापार की सुन्दर वस्तुएँ इस स्थान पर एकत्र रहती थीं। इससे वहाँ के लोगों के वैभव का पता लगता है (बी० ल० रेकर्ड, भा० २, पृ० २००) चीजों के जमा होने पर व्यापार के लिए उनका प्रयोग अवश्य होता था। यहाँ से एक दक्षिण पश्चिम मार्ग भी चोलमण्डल होकर लंका तक जाता था जिसका फाहियान ने अनुसरण किया था। सातवीं सदी में इत्सिंग ने बंगाल से चीन

जाने के लिए पूरब वाले मार्ग का अवलम्बन किया था। उस समय से अनेक चीनी यात्री इसी मार्ग से भारत आते रहे। पालवंशी नरेश विग्रहपाल के आमागट्टी ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है कि गंगा नदी के मुहाने पर जहाजों के ठहरने का समुचित स्थान (Docks) बना था। 'भगीरथी पथ प्रवर्त्तमाना नानाविधान औबाटक सम्पादिता' । इससे स्पष्ट हो जाता है कि शासक लोग विदेशी व्यापार पर भी ध्यान दिया करते और उसका प्रबन्ध देखा करते थे। (ए० इ० भा० १५, पृ० २९७) इसी तरह के एक लेख में मण्डपिका शब्द का प्रयोग किया गया है विद्वान जिसका अर्थ बन्दरगाह पर (आयात निर्यात के लिए) स्थित चुंगीघर (Custum House) मानते हैं (ए० इ० भा० १, पृ० १०१) इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण नहीं मिलता, अतएव किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन है ।

अरब लेखकों के आधार पर भारत तथा अरब सागर के सामुद्रिक व्यापार की बातें कही जाती हैं। सुलेमान, मसऊदी तथा अलबेरूनी का नाम तो प्रसिद्ध है परन्तु इनके अतिरिक्त कई मुसलमान यात्रियों ने प्रसंगवश भारत तथा अरब के व्यापार का उल्लेख किया है। इब्न होकल के यात्रा विवरण में हिजरी तीसरी शताब्दी तक के भारतीय बन्दरगाहों के नाम मिलते हैं। अरब वालों के लिए फारस की खाड़ी के बाद बिलोचिस्तान का तेज नामक बन्दरगाह तथा सिन्ध का देवल मिलता था। गुजरात में थाना, खम्भात सोपारा, मालाबार और कन्याकुमारी आदि उल्लिखित हैं। दसवीं सदी के बाद भी ये बन्दरगाह बने रहे। भारतीय महासागर पर अरब वालों का अधिकार हो जाने पर भी मिस्र, ईराक, ईरान, रूम सागर तथा लाल सागर तक भारत का व्यापार बन्द नहीं हुआ। दसवीं सदी में सुलेमान ने भी लिखा है कि बसरे से सैराफ होकर जहाज भारत के लिए चल पड़ते थे। मुसलमान व्यापारी योरप नहीं जाते थे। परन्तु यहूदी लोग मध्यस्थता का काम करते थे। मसऊदी ने भारतीय महासागर के उतार चढ़ाव और ज्वार भाटा के समय को ही जहाजों के चलने के लिए निश्चित समय माना है। गर्मी के दिनों में भारत की ओर जहाज कम आते थे तथा वर्षा के समय बिल्कुल नहीं चलते थे। ९वीं सदी का यात्री इब्न खुर्दाजबा ने भारत से बाहर जाने वाली चीजों की सूची दी है जो अरब तथा इराक भेजी जाती थी। उनमें चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, नारियल कबाबचीनी, कपड़े, (रूई के) तथा मखमल, हाथीदाँत, मोती, मूल्यवान पत्थर आदि चीजों के नाम मिलते हैं। मसऊदी ने

काठियाबाड़ के जूतों की प्रशंसा की है। अरब यात्रियों की दृष्टि में भारत के फलों में पहला फल नारियल था। दसवीं सदी के यात्री अबूजैद ने नारियल के कारोबार का सुन्दर वर्णन किया है जिसके व्यवसाय से लोग बहुत धन कमाते थे। आम भी एक आश्चर्यजनक फल था। सिन्ध में पैदा होने वाले नीबू का वर्णन कई यात्रियों ने किया है। मसऊदी ने पान तथा डली का बड़ा ही रोचक विवरण दिया है, जो भारत से यमन, इज्जाज, अदन तथा मक्के तक जाते थे। उसने पान तथा डली के उपयोग का ऐसा सच्चा वर्णन किया है जो आज भी मुसलिम संस्कृति में पाया जाता है। भारत से बाहर जाने वाली चीजों के बदले में (नवीं सदी में) मिस्र से पन्ने को अँगूठी बन कर आती थी। मूंगा की बड़ी माँग रहती थी। मिस्र से शराब भी भारत में आती थी। रूम से रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन तथा फारस से गुलाब जल भारत में आते थे। बसरे से खजूर तथा अरब से घोड़े का नाम भी उसी सूची में पाया जाता है। (अरब और भारत का सम्बन्ध पृ० ४६, ५४, ६२, ६८)।

यह तो कहा जा चुका है कि मध्यकाल में गंगा नदी द्वारा व्यापार हुआ करता था। यानी भारतवर्ष के लोग नाव चलाना जानते थे। परन्तु कुछ लोगों का मत है कि वे जहाजी मल्लाह अच्छे न थे। यह बात कुछ अंश में सत्य है, क्योंकि अरब सागर में अधिकतर मुसलमान जहाज चलाया करते थे। अरब इतिहास तथा यात्रा विवरणों में हिन्दू जहाज चलाने वाले व्यक्तियों की संख्या कम मिलती है। नवीं सदी के अरब यात्री अबूजैद ने भारतवासियों के खानपान की निन्दा करते समय बनिया जाति का नाम लिया है जो ईराक उभान, सूडान, सईद बन्दर तथा मिस्र के बन्दरगाह में व्यापार करते थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू व्यापारी जहाज़ पर सवार होकर उन देशों में व्यापार करने जाया करते थे। वे मौलवी लोगों से भी अरबी भाषा सुन्दरता के साथ बोलते थे, भारतीय समुद्र में चलने वाले जहाजों का विस्तार काफी होता था, जिन में दो खण्ड होते थे। यात्रियों के पृथक् पृथक् कमरे, पीने का पानी तथा भोजन-भण्डार रहता था। जहाज में काम करने वाले मल्लाह तथा रक्षकों के लिए स्थान था। व्यापार की सामग्री रखने का अलग स्थान बना था। उनमें सौ आदमी सामान के साथ समा जाते थे। (वही पृ० ७१, ७२) कहने का तात्पर्य यह है कि जहाज इतने बड़े बनाये जाते थे कि सामग्री के साथ यात्री सुखपूर्वक यात्रा कर सके। परमार राजा भोज के दरबार में किसी विद्वान् ने 'युक्तिकल्पद्रुम' नामक पुस्तक में जहाज़ के

निर्माण का सजीव वर्णन किया है । इससे पता चलता है कि जहाज कई मंजिल का बनता रहा और पाल के सहारे समुद्र को पार करता था।

विनिमय के साधन-सिक्के

सभ्य संसार में धातु के बने सिक्के ही विनिमय के साधन माने जाते हैं। भारतवर्ष में तो ईसा पूर्व आठ सौ वर्षों से चांदी के सिक्के काम में आते रहे हैं। प्राचीनकाल की तरह पूर्व मध्ययुग में भी सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्के पर्याप्त संख्या में बनते रहे। परन्तु चाँदी के सिक्कों का ही अधिक उपयोग दिखलाई पड़ता है । उस समय के लेखों में सिक्कों के लिए द्रम शब्द का प्रयोग मिलता है। द्रम को दीनार शब्द का बिगड़ा रूप मानते हैं । दीनार गुप्तकाल में सोने का प्रसिद्ध सिक्का था और चाँदी के लिए रूपक शब्द का प्रयोग मिलता है । इस आधार पर तो पूर्व-मध्यकालीन द्रम को सोने का सिक्का मानना चाहिए । परन्तु ऐसी बात नहीं है। इसके (द्रम) प्रयोग के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती । पिछले गुप्तकाल में मिश्रित सोने या खराब सोने के सिक्के बनने लगे थे, पर उसे भी दीनार कहा जाता था । सम्भवतः उसी नाम का अनुकरण कर मध्यकालीन राजाओं ने खराब सोने या चाँदी के सिक्कों को द्रम के नाम से पुकारा जिसे लेखों में भी स्थान दिया गया । गुर्जर प्रतिहार के सियादोनी तथा ग्वालियर लेखों में करके सम्बन्ध में अर्ध (विग्रह पालीय) द्रम का उल्लेख मिलता है । राजा के नाम के साथ द्रम को जोड़ देने के कारण लेखों में विग्रहपालीय द्रम या श्रीमदादि वाराह द्रम के उल्लेख मिलते हैं। ९वीं सदी के ग्वालियर लेख में एक व्यापारी को १३५० द्रम उधार देने का वर्णन मिलता है । उस परिस्थिति को देख कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रम चांदी या मिस्रित धातु के होते थे । इस युग में द्रम को सोने का सिक्का (पुराना दीनार) नहीं मान सकते। डा० चक्रवर्ती का मत है कि बंगाल में गुप्त साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर एक प्रकार की अशांति तथा अराजकता हो गई थी इस कारण उस समय कौड़ी ही विनिमय का साधन हो गई । जब पाल नरेशों ने बंगाल में सुशासन स्थापित किया तो फिर द्रम यानी धातु के सिक्के प्रचलित किये । धर्मपाल के बोध गया लेख में द्रम शब्द मिलता है । सेन लेख में कमर्दक पुराण का नाम मिलता है पर अभी तक उस नाम का कोई सिक्का मिला नहीं है। दोनों चाँदी के ही सिक्के थे । कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यकाल में द्रम नामक सिक्के का

प्रयोग सर्वत्र होता था। लोकनाथ के टिपेरा लेख तथा महास्थान ब्राह्मी लेख में काकिणी शब्द सिक्के के लिए आया है जो ताँबे के पैसे के समान सिक्का था। इसके अतिरिक्त द्रम के बीसवें भाग को विंशोपक कहते थे (ए० इ० भा० ११, पृ० ४१) कौड़ी का प्रयोग भी समाज में किया जाता रहा। मुसलमान यात्रियों ने भी बंगाल में कौड़ियों का प्रयोग पाया था जो व्यापार विनिमय में काम आता था। गण्डक नामक सिक्का चार कौड़ी के बराबर माना जाता था।

पूर्व मध्ययुग में अधिकतर सिक्के गुप्त शैली के बनते रहे। छठी सदी में मौखरि, वर्धन तथा हूण राजाओं ने गुप्त ढंग के चाँदी के सिक्के तैयार कराये थे। मध्य-भारत में ससैनियन ढंग के सिक्के इतने विकृत रूप में चलते रहे कि उन पर किसी तरह की आकृति दिखलाई नहीं पड़ती। ऐसे सिक्के गधिया नाम से पुकारे जाते थे और अधिकतर ताँबे के बनते थे।

गुर्जर प्रतिहार नरेशों ने मध्य भारत से लेकर विहार तक अपना प्रभुत्व बनाये रक्खा। उनमें मिहिर भोज ने प्रभुता सूचक सिक्के चलाया जो अधिक संख्या में मिलते हैं। कुछ लोगों का मत है कि हूण सरदारों की नकल पर पश्चिमी राजपूताना में सिक्के प्रचलित किये गये थे। मिहिर के सिक्के ससैनियन मुद्रा से मिलते हैं। उनके

कन्नौज राजाओं के सिक्के

अग्रभाग	पृष्ठ भाग
दो पंक्तियों में लेख श्री मदादि बाराह व यज्ञ कुण्ड का चिन्ह है।	विष्णु के अवतार बाराह की खड़ी मूर्ति है।

मारवाड़ में सिक्कों का एक ढेर मिला है। उसमें चपटे ताँबे के सिक्के भी हैं जिन्हें गधिया पैसा कहा जाता था। १२वीं सदी तक इस तरह के भद्दे सिक्के प्रचलित थे।

१०वीं सदी में प्रतिहार वंश का ह्रास हो जाने पर बुंदेल खण्ड तथा मध्यभारत में नये राज्य उत्पन्न हो गये। जबलपुर के पास चेदि वंश की स्थापना हुई थी। गांगेयदेव चेदि ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की और स्वतंत्रता के सूचक सिक्के तैयार कराये। सम्भवतः उन दिनों देश की कुछ आर्थिक स्थिति अच्छी थी, तथा सुवर्ण सिक्कों का समाज में प्रचलन सम्भव था।

चेदि सिक्के

उन्हें विनिमय के लिए प्रयोग किया गया। गांगेयदेव ने हलके ६२ ग्रेन के स्वर्ण-द्रम तैयार कराये जिनकी बनावट भद्दी और कला-रहित थी। उसके

अग्रभाग	पृष्ठभाग
तीन पंक्तियों में राजा का नाम श्री मदगान्गेय दव	बैठी लक्ष्मी की चतुर्भुजा मूर्ति बनी है।

ये सोने के सिक्के गुप्तशैली के ही बनते रहे परन्तु उनकी मिश्रित धातु थी। इनकी बनावट में पहले के सिक्के से अन्तर दिखलाई पड़ता है। सम्भवतः मुसलमानों के सिक्के इन्हीं के अनुकरण पर तैयार किये गये थे जिनके एक ओर राजा का नाम मात्र लिखा जाता था। राजा की आकृति सदा के लिये हटा दी गयी। लक्ष्मी का स्वरूप तो पुराना ही था। अतः गांगेयदेव के सिक्के गुप्त सिक्कों से मिलते जुलते थे।

इसके बाद चन्देल, गहड़वाल और तोमर राजाओं ने इसका अनुकरण किया था। इसलिए यह ढंग गांगेयदेव शैली के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सोने के अतिरिक्त चाँदी तथा ताँबे के सिक्के भी तैयार किये गये थे। अर्ध द्रम, पाद (चौथाई) द्रम के सिक्के अश्वारोही शैली के मिलते हैं। ताँबे के सिक्कों पर हनुमान की मूर्ति है।

दसवीं सदी में महमूद ने कालिंजर तक चढ़ाई की थी जहाँ बाद में चन्देल वंश का अधिकार हो गया। उसके प्रथम राजा कीर्ति वर्मदेव ने गांगेयदेव शैली के सिक्के निकाले थे। इसी ढंग के सिक्के दूसरे राजाओं ने भी चलाये। चन्देल सिक्कों को द्रम के नाम से ही पुकारते हैं। द्रम, अर्धद्रम तथा पाद द्रम तीन प्रकार के सिक्के चलाये गये जो विनिमय तथा व्यापार के लिये अत्यन्त उपयोगी थे। अश्वारोही ढंग वाले सिक्के सर्व प्रथम उत्तर पश्चिम भारत के साही वंश के शासकों द्वारा चलाये गये थे जिन्हें हिन्दू साही का नाम दिया जाता है। ये सिक्के इतने प्रचलित थे कि बाद में आने वाले मुसलमान सुल्तानों को भी यही ढंग अपनाना पड़ा था।

चन्देल सिक्के

जैसा कहा गया है, प्रतिहार वंश के स्थान पर राजपुताने में अनेक राजा उत्पन्न हो गये जिनमें अग्निकुल मुख्य माने जाते हैं। तत्कालीन परिस्थिति, आन्तरिक कलह तथा पारस्परिक झगड़ों ने ऐसा वातावरण पैदा किया कि पश्चिमी देशों से स्थल तथा जल से व्यापार बन्द हो गया। अरब वालों

राजपूतों के सिक्के

की शक्ति बढ़ जाने के कारण भारत से उनका आपसी कारोबार बन्द हो गया। चाँदी विदेश से न आ सकी इसलिए राजपूतों ने मिश्रित धातु के सिक्के तैयार कराये। तोमर, चौहान, राठौर सभी ने उसी साही ढंग (अश्वारोही शैली) को अपनाया। उस प्रकार के तांबे के सिक्के भी बनने लगे। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र ने सोने के सिक्के भी तैयार कराये थे। स्यात् दान में दक्षिणा के निमित्त उन्हें ढाला गया था। धातु के न मिलने से सिक्कों की तौल कम कर दी गई थी और तौल में ३२ रत्ती के बराबर सिक्के बनते रहे। तोमर के सिक्कों को मुसलमान लेखकों ने दिल्लीवाल कहा है। चौहान सिक्कों को भी द्रम कहा जाता था यद्यपि वे चाँदी और तांबे के बनते रहे। राजपुताना तथा दिल्ली में राजपूतों का शासन होने के कारण विनिमय में राजकीय सिक्के काम में आते रहे। शाही तथा किदार कुषाण ढंग के भद्दे और अशिष्ट सिक्के भी मध्यकाल में चलते रहे। मुसलमान विजेताओं ने शनैः शनैः उनके स्थान पर इस्लामी सिक्कों का प्रचार किया। सर्व प्रथम दिल्ली प्रांत जीतने पर गुलाम वंश के सुल्तानों ने 'दिल्लीवाल' सिक्कों को ही अपनाया था तत्पश्चात् अपना नाम खुदवाया। मुहम्मद बिन साम (मुहम्मद गोरी) का नाम नागरी अक्षरों में खुदवाया गया था। हिन्दू देवता की मूर्तियाँ भी खुदवाई गईं। शिव के वाहन नन्दी को स्थान दिया गया था। आश्चर्य तो यह है कि कट्टरपंथी महमूद ने अरबी के स्थान पर संस्कृत को सर्वप्रथम सिक्कों पर स्थान दिया था। इन सब का यह कारण था कि सुल्तान विजित प्रदेशों में प्रजा को शांत रखना चाहता था अथवा इनके सामने हिन्दू राजाओं के सिक्कों के अनुकरण के अतिरिक्त कोई चारा न था।

तीसरा अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन भारतीय कला

कला मनुष्यों की भावना की अभिव्यक्ति का एक साधन है। धार्मिक भावना से उसका निकटतम सम्बन्ध माना गया है । समयानुकूल कला में परिवर्तन तथा परिवर्धन भी होते रहे हैं । ललित कला के इतिहास में पूर्व-मध्ययुग की कला अपना विशेष स्थान रखती है। इससे पूर्व गुप्त स्वर्णयुग में कला उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई थी । कुछ विद्वान् मध्ययुगी कला को गुप्त कला की अनुगामिनी मानते हैं परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है । नई परिस्थिति में पूर्व-मध्यकालीन कला ने एक नया मार्ग प्रदर्शित किया । अजन्ता तथा इलौरा में सर्वप्रथम इस युग की कला के नमूने मिलते हैं । यद्यपि इनकी निजी विशेषता है परन्तु ये गुप्तकाल से भिन्न हैं । पाँचवीं सदी से ब्राह्मण धर्म के उत्थान से जन-साधारण की विचार-धारा में परिवर्तन आ गया जिससे संस्कृति में भी भिन्नता आ गई । शक लोगों ने भी ऐसी स्थिति पैदा की जिससे देशी विचार-धारा का पतन हो गया और नई साहित्यिक मर्यादा स्थिर की गई। भारतीय कला में उत्तराधिकारिणी कला का दृश्य सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है । प्रारम्भ में तो उसमें जागृति पैदा करने अथवा सृजन की बातें लाई गईं, नई बातों का समावेश कर उसकी बढ़ती में पर्याप्त सहायता की गई जिसका नमूना एलीफेंटा, भुवनेश्वर तथा खजुराहो में दिखलाई पड़ता है । जिस बात को लेकर मध्ययुग की कला अंकुरित हुई थी उसी की उन्नत अवस्था इन स्थानों में है । पूर्व-मध्यकाल में एक शैली का अनुसरण करने या उसको अनुकूल ढंग से कार्य करने का मार्ग दिखलाई पड़ता है। उत्तराधिकार का प्रयोग करते समय इस बात का सदा ध्यान रक्खा जाता है कि कलाकार साहित्य के सिद्धान्तों को काम में लावे और तत्सम्बन्धी पुस्तकों में वर्णित नियमों का पालन अवश्य करे । शिल्प शास्त्र में वर्णित तालमान का अक्षरशः पालन

कलाकारों ने किया था जिसमें मूर्ति के आकार तथा मुद्रा आदि का वर्णन मिलता है। *दक्षिण भारत की कांस्य मूर्तियों में भी शिल्पशास्त्र के नियम तथा ताल*-मान का प्रयोग मिलता है। जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है, मध्ययुग से पूर्व (गुप्तकाल में) वास्तुकला की निश्चित रूप-रेखा थी परन्तु समयान्तर में मन्दिरों के निर्माण से उसमें पेचीदगी बढ़ती ही गई। खजुराहो तथा भुवनेश्वर में शिल्पशास्त्र का नियम लागू किया गया जिसका प्रयोग पहले अज्ञात सा था। गुप्तकालीन कला में बुद्धि-प्रयोग की पराकाष्ठा मालूम पड़ती है। प्राचीन समाज का चित्रण कला में पाया गया है। उसमें प्राकृतिक चीजों की बनावट तथा सच्चा स्वरूप दिखलाया गया है। जीवन के संगीत तथा स्वर के साथ उस कला का संतुलन हो सकता है, परन्तु उस कला की उत्तराधिकारिणी पूर्व मध्ययुगी ललित कला अनेक पेचीदगियों, नये प्रकार तथा विषयों को लेकर चली जिसके नमूने आज भी वर्तमान हैं। उसमें मूर्तिकला का विशेष स्थान है। नये प्रकार की विचार-शक्ति तथा उत्साह कला में प्रशंसनीय कार्य करते हैं। पूर्वमध्यकाल में भवन तथा मन्दिर निर्माण का इतना जोर था यानी वास्तुकला की इतनी प्रधानता थी कि मूर्तियों को उसमें सन्निहित कर लिया और उनका पृथक् व्यक्तित्व जाता रहा। मूर्ति कला वास्तु-कला में समा गई। ज्यों ज्यों कला में उन्नति होती गई, खुदाई का कार्य सतह से शिखर की ओर बढ़ने लगा। जिस से सारी इमारत अथवा मन्दिर जीवित-से प्रतीत होते हैं। इस नये प्रकार का आरम्भ अजन्ता की गुफा (नं० १६, १७) में मिलता है जिसकी वृद्धि छठी सदी के बाद वास्तु कला में होती गई। बादामी (गुफा नं० ३) में इसकी उन्नत अवस्था स्पष्ट हो जाती है।

पूर्व मध्यकाल वास्तुकला के लिए एक विशिष्ट युग माना जाता है जिस में नये प्रकार का समावेश किया गया। गुप्तयुग में बौद्धों ने भवन-निर्माण कला को बढ़ाया था और मठ के साथ विहार भी तैयार किया। उत्तरी भारत में ईंट की ही इमारतें बनती रहीं तो दक्षिण भारत में गुफाएँ प्रस्तर खोद कर बनाई जाने लगीं। उन मठों में भिक्षुओं की उपासना के लिये बुद्ध की मूर्तियाँ भी स्थापित की गईं। इस कारण गुफा-निर्माण में विशेष उन्नति हुई। आश्चर्य तो यह है कि एक विशाल चट्टान को काट कर सारी आकृतियाँ तथा भवननुमा रहने का स्थान तैयार किया जाता था। विशालकाय बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई गईं।

वहाँ गुफाओं में उपासकों के बैठने के लिए स्थान रहता था। मन्दिरों में भी इसके लिए स्थान निश्चित किया गया जिससे मन्दिरों का आकार बढ़ गया और स्वभावतः बड़े मन्दिर बनने लगे। उदाहरण के लिए अजन्ता की गुफा को देखिए जहाँ भवन निर्माण में नवीनता तथा विचित्रता दिखलाई पड़ती है। बरंडे में मूर्तियाँ खोद कर उपासकों का ध्यान (भगवान् बुद्ध के गुणों की ओर) खींचने का प्रयत्न किया गया। अजन्ता में तो केवल चार गुफा चैत्य माने जाते हैं और शेष मठ या विहार थे जहाँ भिक्षु रहते और यथा समय चित्रकारी किया करते थे। जिस समय से पर्वत चट्टान को काट कर मन्दिर बनने लगा था, उसी समय ऊँचे स्थान पर मठ बनाने की बात सोची गई। उस सतह पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनीं तथा द्वार के दोनों तरफ द्वारपाल की मूर्तियाँ बनाई गईं। बौद्ध मठों को ब्राह्मणों ने हिन्दू मन्दिर के रूप में परिणत कर दिया। चैत्य भगवान् बुद्ध के लिए एक प्रकार का स्थान था जो ऊँचे चबूतरे पर बनाया जाता था। सीढ़ियों से चबूतरे पर पहुँचते ही सामने उस (चैत्य) इमारत का दरवाजा दिखलाई पड़ता था। गुफा के भीतरी भाग में बुद्ध की प्रतिमा बनाई जाती थी जिसके भीतर चारों तरफ स्तम्भ युक्त बरांदे थे। उस बरांदे की छतें चट्टान में सुन्दर रूप से बनी रहती थीं। दरवाजे के ऊपरी भाग में एक बारजा निकला रहता था जिसको नीचे से चार खम्भे सहारा देते थे। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के बाद गुफा में मठ को नये रूप में मन्दिर बना दिया गया जो मध्य-युग की वास्तुकला की विशेषता है। चैत्यों और मठों के आकार-प्रकार में परिवर्तन आने लगा परन्तु यहाँ उसकी गहराई में न जाकर सिद्धान्त और शैली की चर्चा की जायगी। चैत्यों के अनुकरण पर ही ब्राह्मण-मन्दिरों का आरम्भ हुआ जिसका क्रमशः विकास होता गया। मूर्ति के स्थान को सुरक्षित कर उसे गर्भगृह का नाम दिया गया। उपासकों के लिए पूजा निमित्त मण्डप जोड़े गये और उनकी बढ़ती संख्या के साथ मन्दिरों के आकार बड़े होने लगे। कुछ विद्वानों का मत है कि चैत्य से मंदिरों पर कम प्रभाव पड़ा। मठ से ही हिन्दुओं ने अधिक अनुकरण किया था। मध्ययुग के समाज में श्रेणी का पृथक पृथक अस्तित्व था। एक ढंग के कलाकार एक स्थान पर मिलते रहे। उन्होंने स्थान-स्थान पर मन्दिर बनवाये। खजुराहो तथा भुवनेश्वर का मन्दिर उन्हीं की कला का नमूना है। उन्हें शिल्प-शास्त्र के सिद्धान्त को भी मानना

पड़ा और मन्दिर उस सिद्धान्त के आधार पर ही तैयार किये जाने लगे। उन दिनों हिन्दू तथा जैन मन्दिरों में कम भेद था। हिन्दू मन्दिरों में स्तम्भ-युक्त खुले बरांडे होते थे। उपासकों के लिए पृथक् स्थान बनाये गये । शिव तथा वैष्णव पूजा के कारण मन्दिरों की बनावट में कोई भिन्नता न आ सकी केवल शिव के लिए त्रिशूल तथा विष्णु के लिए चक्र का चिह्न पर्याप्त था ।

पूर्व-मध्यकालीन वास्तुकला की विशेषता यह है कि भवन अथवा मन्दिर बनाने वाले कारीगरों को शास्त्रीय ढंग से (वास्तु-शास्त्र के अनुसार) काम करना पड़ता था। उस शास्त्र के नियम-उपनियमों का पालन करना आवश्यक था जैसा तालमान के विषय में कहा गया है । विश्वकर्मा संसार में वास्तुविद्या के आरम्भ करने वाले माने जाते हैं। इस तरह चतुर कलाकार विश्वकर्मा की देन कह कर सुन्दर भवन तैयार कर लेते थे जिसमें मंत्र-तंत्र की कुछ बातें भी जोड़ दी जाती हैं। किंवदन्ती भी है कि अमुक देवी शक्ति के कारण इमारत तैयार की गई है और उस भवन या मन्दिर से जादूगरी टपकती है । इस युग में हिन्दू मन्दिरों की बनावट साधारण ढंग की थी जिसमें वास्तु-शास्त्र का पालन किया जाता था। वास्तु विद्या सम्बन्धी पेचीदगी के प्रश्न को कला ारों ने छुआ तक नहीं और अपने प्राचीन शास्त्रीय ढंग पर चिपके रहे । पुराने कलाकार वास्तु निर्माण को ललित कला मानते थे । उन्हें अनुकरण करने का अभ्यास अथवा वास्तविक रूप से वास्तु निर्माण का अभ्यास न था । उनमें विशेषता यह थी कि दो प्रस्तरों के टुकड़ों को जोड़ने के लिए सिमेण्ट का प्रयोग न करते थे । कलाविद प्रस्तर काट कर एक के ऊपर दूसरे को रखकर बैठाते जाते थे जिससे सारा बोझ पृथ्वी पर पड़ता था। उसी में शक्ति की रक्षा थी। इस कार्य में आकर्षण केन्द्र के नियम पर विचारने से बोझ का दबाव नीचे पड़ता था। इस तरह की बनावट में पहाड़ पर ही खान से उसी लम्बाई-चौड़ाई के प्रस्तर काट कर तथा साफ कर मन्दिरों में लगाये जाते थे, चाहे वह स्थान कितना भी दूर क्यों न हो। मन्दिर के समीप उसी आकार के प्रस्तर लाये जाते जिस पर कलाकार मूर्ति खोद कर इमारत में लगाया करता था । इसके लिये ठीक तरह नाप करना परमावश्यक था। कभी-कभी मन्दिर में सादे प्रस्तर लगा कर उन पर खुदाई की जाती थी। उदाहरण के लिए भुवनेश्वर के राजारानी मन्दिर का नाम लिया जा सकता है। इसके देखने से पता चलता

है कि बड़ी चट्टान काट कर गुफा (चैत्य) तैयार करने में निपुण कलाकार के लिए प्रस्तर में खुदाई करना कोई कठिन कार्य नहीं था।

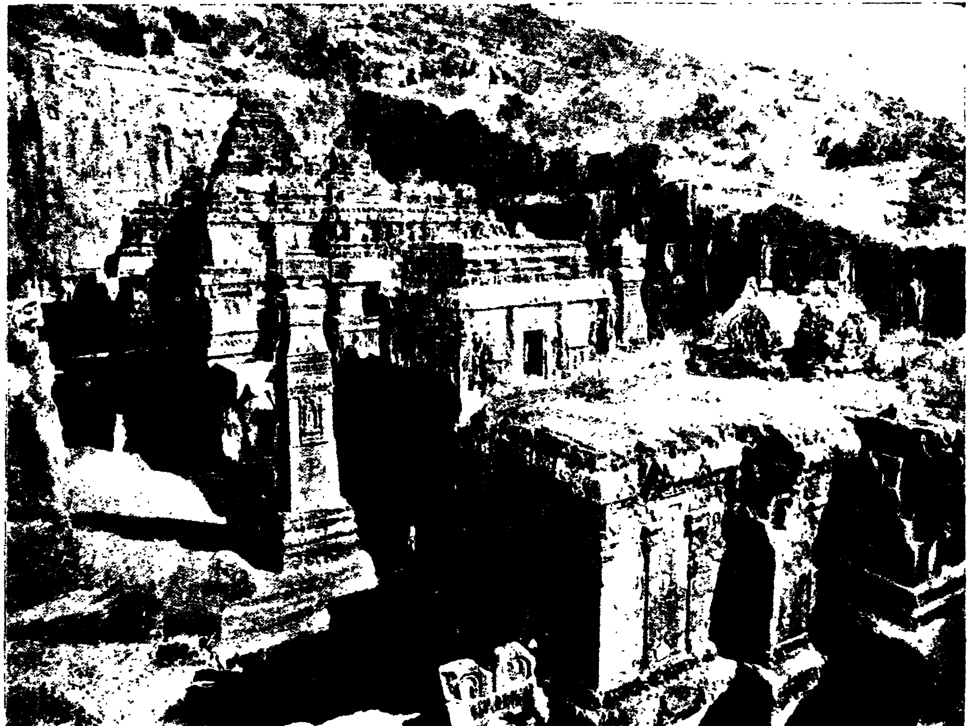
इतना कहने से यह पता चल जाता है कि पूर्व मध्ययुग में वास्तुकला अपनी विशेषता रखती है। मध्यकाल से पहले गुप्तकाल में प्रस्तर को गढ़ (चिकना) कर भवन-निर्माण में प्रयोग किया जाता था किन्तु ७वीं सदी के बाद एक नई पद्धति गुफा-निर्माण में चलाई गई जिसमें विशाल पहाड़ी चट्टान को काटकर मठ तथा चैत्य तैयार होता था। उसी के साथ साथ उन इमारतों में विशाल मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। ७वीं से १०वीं सदी तक का समय इस प्रकार की कला के उत्कर्ष का युग माना जाता है। इसमें तीन श्रेणियाँ मिलती हैं—(१) इलौरा की गुफा—जिसमें खोद कर एक बड़ा कमरा बनाया गया था और जिसके भीतर ब्राह्मण तथा जैन मूर्तियाँ भी मिलती हैं। (२) ऐलीफेंटा—जो सर्वथा ब्राह्मण गुफा है और शिव की विशालकाय मूर्तियाँ चट्टान को काट कर गुफा के साथ बनाई गई हैं। (३) पल्लव शैली की गुफाएँ। पहले ढंग की गुफा में एक साधारण खम्भों वाला बरांडा दिखलाई पड़ता है जिसके अन्त में एक कोठरी बनी है, जैसे दशावतार। ऐलीफेंटा की गुफा में अन्तिम सीमा दृष्टिगोचर होती है। इसमें चट्टान को काटकर केवल बरांडा तथा कोठरी नहीं बनाई गई है परन्तु वास्तविक मन्दिर का ढाँचा बना है। इसमें मन्दिरों की बारीकियों पर भी ध्यान दिया गया है। इलौरा का कैलाशनाथ मन्दिर एक ही चट्टान का बना है उसी प्रकार ऐलीफेंटा गुफा में मन्दिर की सभी बातें विद्यमान हैं। इन गुफाओं में द्वार से प्रवेश कर एक आँगन में पहुँचते हैं जिस के बीच में मूर्ति के लिए पृथक् स्थान बना है।

गुफा निर्माण

यद्यपि मन्दिर-निर्माण का कार्य गुफा के अनुकरण पर हुआ किन्तु इलौरा कैलाशनाथ की बनावट हिन्दू मन्दिर की तरह ही है। इस समय के मंदिरों में उपासकों की संख्या के कारण विशालता आने लगी और बड़े पैमाने को ध्यान में रख कर मन्दिर बनाये जाने लगे। उस समय से मूर्ति के पास तक जाने के लिए तीन दरवाजे बनाये जाते जिसमें दोनों किनारे के दरवाजे उत्सव के समय ही खोले जाते थे। इलौरा का कैलाशनाथ मन्दिर भव्य तथा विशाल है जिसके मध्य में एक मूर्ति का स्थान बना है। उसके चारों ओर बड़े

आकार की मूर्तियाँ बनी हैं। बाहरी दरवाजे के समीप अश्वारोही मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। ८वीं सदी में निर्मित एलीफेंटा की गुफा इलौरा से कई बातों में घट कर है। वहाँ अर्द्धनारीश्वर, शिव पार्वती की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से बनाई गई हैं। प्रत्येक कमरे के पास द्वारपाल की विशाल मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। त्रिमूर्ति तो प्रतिभा युक्त व्यक्ति की देन है और शायद ही कोई प्रतिमा इससे सुन्दर बनी हो। इसमें स्वच्छता तथा सजीवता की पराकाष्ठा है। इसके देखने से प्रतीत होता है कि कलाकार ने प्रस्तर को गला कर अपनी बुद्धि से इसमें नवीनता ला दी है। प्रतिमा-निर्माण के कारण एलीफेंटा की जो भी प्रसिद्धि हो परन्तु मन्दिर की विशालता के विचार से इलौरा का कैलाश मन्दिर गुफा-निर्माण कला का अन्तिम रूप समझा जाता है। इसकी विचित्रता यह है कि कलाकारों ने पर्वत को सिरे से काटना आरम्भ किया जो गुफा के इतिहास में नई बात थी। साधारणतः नीचे से चट्टान काट कर गुफा में मन्दिरनुमा स्थान तैयार किया जाता था। परन्तु इस स्थान पर ऊपरी भाग से १६०—८० फुट की गहराई में काट कर बीच के भाग में एक बड़ा शिला खण्ड छोड़ दिया जिसका सम्बन्ध मुख्य पर्वत श्रेणी से जाता रहा। इसी मध्य पहाड़ की विशाल चट्टान को खोद कर दो मंजिला मन्दिर निर्मित किया गया जिसका आधार ठोस पर्वत रहा। इसमें मन्दिर की सम्पूर्ण मूर्तियों को स्थान दिया गया था। इस तरह मूर्तियों से सजा हुआ, पहाड़ की एक चट्टान से बनाया गया विशाल मन्दिर सब को आश्चर्य चकित कर देता है। सपने में भी ऐसे मन्दिर के निर्माण का ध्यान तक न था। इसके बनाते समय वास्तु-शास्त्र का ध्यान न रक्खा गया वरन् जिस प्रकार हाथी दाँत को काट कर मूर्ति आदि बनाई जाती है वही क्रिया काम में लाई गई। कहने का तात्पर्य यह है कि गुफा मन्दिरों के निर्माण में कैलाश का मन्दिर अन्तिम शब्द उपस्थित करता है। कलाकारों ने उसमें नवीनता का समावेश किया। इसे देख कर धार्मिक जगत में कलाकारों की रुचि का परिचय मिलता है। धार्मिक तथा सांस्कृतिक भावों को स्थायी रखने के लिए शिव को कैलास में स्थान दिया गया।

गुफा के निर्माण पर विचार करने से पता लगता है कि साधारणतः गुफा पर्वत की ऊँचाई पर बनती थी। तीन तरफ से चट्टान को काटकर उस विशाल पर्वत शिला में गुफा और भीतर मन्दिरनुमा आकार तैयार किया जाता रहा। देखने में ये गुफाएँ सामने तथा ऊँचाई पर मालूम पड़ती हैं; परन्तु



कैलास-मंदिर, इलौरा

[पृ० १८८

कैलास गुफा में नवीन शैली से काम लिया गया था। पहाड़ के ऊपरी भाग से चौकोन चौड़ा हिस्सा काट दिया गया जिससे उस कटे भाग के बीच में एक छोटा-सा पहाड खड़ा दिखलाई पड़ता है। कटा अंश खाई के रूप में हो गया और मध्य की विशाल चट्टान को काट कर सतह तक (यानी खाई की गहराई तक) मन्दिर तैयार किया गया है। इसलिए यह मन्दिर खाई में यानी गहराई में निर्मित मालूम पड़ता है और सामने से कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। ऊपर से प्रस्तर काट कर योजना के अनुसार मन्दिर बनाया गया और उचित स्थान पर मूर्तियाँ भी बनीं। पूरे आकार को ध्यान में रखकर ही मूर्तियों का स्थान निश्चित कर दिया गया था। यहाँ तक कि यह मन्दिर वास्तुकला से अधिक मूर्तियों से सम्बन्धित है। यह समानान्तर चतुर्भुज की तरह दिखलाई पड़ता है जहाँ हाथी तथा शेर सहारा देते दिखलाये गये हैं। मुख्य मन्दिर का स्थान ऊँचे पर है जहाँ पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इसमें आर्य तथा द्राविड़ शैलियों का मिश्रित प्रभाव है। इसी तरह की जैन गुफा, जो इन्द्रसभा के नाम से विख्यात है आठवीं सदी में बनाई गई थी। दसवीं सदी से गुफा काटकर मन्दिर तैयार करने की प्रथा बन्द हो गई। इसमें स्तम्भ युक्त बड़े कमरे भी बने रहते थे और वह पर्वत के भीतरी भाग में तैयार होते थे। १०वीं सदी से उस बीच भाग को भी, मन्दिरनुमा स्थान के साथ मिला कर, इमारत के रूप में परिणत कर दिया गया। सभी भागों ने मिल कर पिछली सदियों में मन्दिर का स्थान ले लिया जो पूर्व मध्यकाल में गुफा के बाद दक्षिण भारत में निर्मित होने लगे थे।

द्राविड़ शैली के मन्दिर

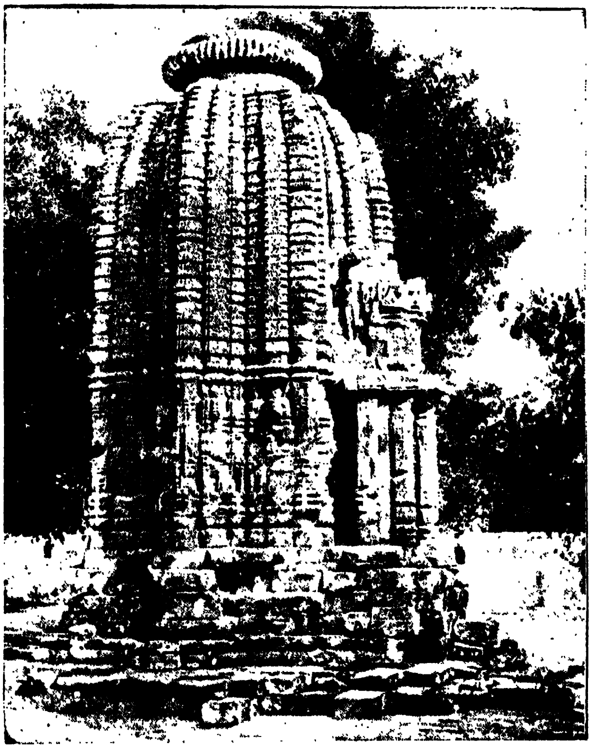
यह कहा जा चुका है कि गुफा निर्माण के बाद मन्दिर तैयार होने लगे जिसका आधार गुफा में निर्मित विहार माने जाते हैं। अथवा यों कहा जा सकता है कि गुफा-शैली की उन्नत अवस्था को मंदिर का नाम दिया गया। यह सही है कि क्रमशः मन्दिरों में बड़ा परिवर्तन हुआ और उन्हें देख कर गुफा का अनुकरण नहीं मान सकते किन्तु दक्षिण भारत की पल्लव वास्तुकला को देख कर वही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। दक्षिण भारत की वास्तुकला उत्तरी भारत की कला से भिन्न होने के कारण पृथक् नाम (द्राविड़ शैली) से पुकारी जाती है।

जैसा कहा गया है, पूर्वमध्यकाल में उत्तरी भारत में भी नई वास्तुकला

की इमारतें बनने लगीं जो दूसरों से भिन्न थी और इसकी निजी शैली थी।

उत्तरी भारत आर्य शैली

आर्यावर्त से उत्तरी भारत के भूभाग का बोध होता है इस कारण उस नये प्रकार को आर्य शैली कहने लगे। इसकी सब से बड़ी विशेषता शिखर की है जो इस काल में पूर्ण विकसित हो गयी। उत्तरी भारत में गुफाओं का अभाव-सा रहा अतः वास्तुकला के विकास में उनका विशेष हाथ न था। दक्षिण में तो विशाल चट्टान (पर्वत के अंश) को काट कर एक ही प्रस्तर से सारी बनावट तैयार हो जाती थी। अजन्ता से लेकर एलीफेंटा तथा इलौरा में सारी इमारतें चट्टान काट कर बनी थीं जिसका अनुकरण कर पीछे मन्दिर बनने लगे थे। उत्तरी भारत में स्थिति कुछ और थी। प्राचीन काल से ही गुफाओं का अभाव था। गुप्त राजाओं ने मठ तथा विहार बनवाये। ह्वेनसांग ने अपने विवरण में इन्हीं इमारतों का वर्णन किया है। स्तूप की निजी विशेषता थी जिसे राजा तथा उपासक तैयार कराते रहे। वह एक धार्मिक विषय था जिसके बनाने में उपासक अपनी इच्छा पूर्ति की कामना करता था। सारनाथ तथा नालंदा के भग्नावशेष अब भी उस घटना की याद दिला रहे हैं। उन स्तूपों को एक ऊँचे चबूतरे पर खड़ा किया जाता था जिसका पूरा भाग गोल आकार का होता था। उसे गोलाकार गुम्बज कह सकते हैं। उसके सिरे पर एक वर्गाकार प्रस्तर होता जिसे हरमिका कहते थे और उसके ऊपरी भाग में छत्र रहता था। कई छत्र होने पर छत्रावली की संज्ञा दी जाती थी। यह तो स्पष्ट है कि इन्हीं स्तूपों के आधार पर कलाकारों ने वास्तुकला में परिवर्तन कर मन्दिर तैयार किया जिसका आरम्भ गुप्त काल में हो गया था। कानपुर के समीप भितर गांव का मन्दिर नमूने के रूप में उपस्थित किया जा सकता था। अतएव उत्तर के मन्दिरों का उद्‌गम स्तूप से तथा दक्षिण के मन्दिरों का निर्माण गुफा में एक चट्टान से निर्मित बिहार के अनुकरण पर किया गया। स्तूप का गोल गुम्बज कालान्तर में शिखर रूप में परिणत हो गया। गुप्त काल में कलाकारों ने इस वास्तुकला को आरम्भ कर दिया था। सर्वप्रथम ईंट का ही प्रयोग मिलता है परन्तु शनैः शनैः खुदाई के लिए (अलंकरण के निमित्त) प्रस्तर लगाये गये। पूर्वमध्यकाल में ईंट तथा पत्थर के टुकड़ों के सहयोग से मन्दिर बनने लगे थे। भितर गाँव तथा नालंदा के मन्दिर मध्यकाल के आरम्भिक उदाहरण उपस्थित करते हैं। उत्तरी भारत में उस समय की इमारतें कम हैं जो ईंट से



उड़ीसा-शैली का एक मंदिर [पृ० १४६

बनी थीं। मुसलिम आक्रमणकारियों ने उन्हें नष्ट कर दिया और ईंट का प्रयोग मसजिद आदि भवन बनाने में हो गया। दक्षिण की तरह प्रस्तर का प्रयोग यहां नहीं के बराबर था। पहाड़पुर में दसवीं सदी तक के ईंट के स्तूप मिले हैं। कांसे के भी स्तूप पूजा निमित्त बनते रहे जिसकी नकल मिट्टी में भी की गई। पक्के मिट्टी के स्तूप बंगाल में मिले हैं जिसका अर्थ यह है कि बौद्ध धर्म के प्रसार से बंगाल में स्तूप का निर्माण दसवीं सदी के अन्त तक होता रहा। अन्य भागों में मन्दिर ने वह स्थान ग्रहण कर लिया था। स्मृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि समाज में मूर्तिपूजा का विशेष रूप से प्रचलन हो गया था उसी कारण अधिक संख्या में मन्दिर निर्मित होने लगे थे। इन मन्दिरों को नागर या आर्य शैली वाली इमारतें कहते हैं। इनमें विशेषता यह थी कि गर्भगृह के ऊपरी भाग पर शिखर बनाये जाते जो ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते जाते थे। सब से ऊपर आमलक तथा कलश नामक दो आकार बनाये जाते हैं जिनकी तुलना स्तूपों की हरमिका तथा छत्र से कर सकते हैं किन्तु दोनों की बनावट में पर्याप्त अन्तर दिखलाई पड़ता है। शिखर वाले मन्दिर उत्तरी भारत की विशेषता हैं जिसका नमूना काँगड़ा में बैजनाथ मन्दिर, कुल्लू का विश्वेश्वर मन्दिर, राजपूताना में वैष्णव मन्दिर, बंगाल के अनेक मन्दिर और खजुराहो तथा उड़ीसा के मन्दिर में पाया जाता है। प्रायः इस प्रकार के मन्दिर आठवीं सदी से १२वीं सदी तक बनते रहे। उत्तरी भारत में भितर गाँव से लेकर खजुराहो से पहले के मन्दिर पहली श्रेणी में रक्खे जाते हैं। खजुराहो के ढंग वाले मन्दिर द्वितीय श्रेणी में तथा उड़ीसा के भुवनेश्वर मन्दिर अन्य श्रेणी में विभक्त किए गए हैं। पहले के मन्दिरों में सादगी तथा खुदाई का अभाव रहा परन्तु मन्दिरों के विकास में सम्पूर्ण मन्दिर पर खुदाई का काम होने लगा था। हिन्दू धर्म में पूजा की रीति व्यक्तिगत ढंग पर मानी गई है। मुसलमानों की तरह सामूहिक रूप से पूजा का प्रचार नहीं है। इस कारण मन्दिरों में स्थान की कमी रही केवल पुजारी के बैठने के लिए स्थान की आवश्यकता समझी जाती थी। समयान्तर में यात्री गण अधिक संख्या में पूजा करने आने लगे, इसलिए मन्दिरों में स्थान बढ़ने लगा और मण्डप आदि जोड़े गये। मध्ययुग की यह एक विशेषता है। इतना ही नहीं, ग्रामसभाओं की बैठकें तथा धार्मिक वाद-विवाद मन्दिरों में होने लगे, जिसके लिए कमरे बढ़ाये गये। धार्मिक विचारधारा में एक नवीनता काम कर रही थी कि जो मन्दिर जैसा बन जाय, वैसा ही सदैव

के लिए बना रहे तथा आने वाली जनता उसी का प्रयोग करती रहे। उन्हें तोड़ कर बड़े पैमाने पर मन्दिर तैयार करने के लिए कोई अग्रसर न होता था और धनी-मानी व्यक्ति उसकी मरम्मत कर रक्षा का उपाय निकालता और अन्यत्र बड़े मन्दिरों का निर्माण कराता था। धार्मिक भावना की पूर्ति तथा भगवान् की आराधना के लिए पूर्व-मध्यकालीन मन्दिर बड़े पैमाने पर बनने लगे थे।

गुप्तकालीन वास्तुकला के बाद उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर में निर्मित मन्दिरों का अपना इतिहास है जो मिश्रित शैली के हैं। उस स्थान पर आर्य तथा द्राविड़ प्रकार मिले हुए हैं। मध्ययुग के आरम्भ में भुवनेश्वर को काशी ऐसी प्रसिद्धि मिल गई जहाँ यात्रियों ने अनेक मन्दिर बनवाये जो आज भी वर्तमान हैं। राजधानी होने के कारण कलाकारों ने उस पर विशेष ध्यान दिया और शिखर वाले मन्दिर बनाये गये। उस समय मन्दिर को देवल तथा मण्डप को जगमोहन की संज्ञा दी गई थी। विष्णु मन्दिर रूढ़ परम्परा के कारण पूर्वाभिमुख तैयार किया गया था। उन मन्दिरों में लिंग-राज नामक मन्दिर प्रधान माना जाता है और वह स्थानीय प्रस्तर से तैयार किया गया था। कहा जाता है कि सातवीं सदी में वहाँ के शासक ने इसे बनवाया था परन्तु अधिकतर विद्वान् इसे नवीं या दसवीं सदी का मन्दिर मानते हैं। यह मन्दिर १८० फुट ऊँचा है और वास्तुकला की एक उच्चकोटि का नमूना है। सम्भवतः उस राजा के पिता उस स्थान पर पूजा करने आते रहे जिन्होंने गुम्बज वाली इमारत को बढ़ा कर इतना विशाल मन्दिर बनवा दिया था। अधिक सम्भव है कि पुजारी कलाकार भी होगा इसलिए उसने उसी स्थान पर दुबारा लिंगराज मन्दिर तैयार किया जो साधारण कारीगर के लिए असम्भव था। ये उड़ीसा के मन्दिर बंगाल के रेखा शैली के मन्दिरों से मिलते जुलते हैं। गर्भगृह के ऊपर का भाग टेढ़ी लकीर से बने हुए शिखर के समान है। शिखर के सारे भाग आधार से आमलक तक पृथ्वी के समानान्तर किनारे ऐसे कटे हुए हैं जिसके कुछ भाग में कटान के कारण ऊँचाई, गहराई, पुनः ऊँचाई वाले क्रम से प्रस्तर लगाये गये हैं। उनमें तनिक भी भिन्नता नहीं मालूम पड़ती। क्योंकि नीचे से ऊपर तक ऊँचे किनारे तथा कटे भाग एक सिलसिले में हैं। ऐसा लगता है कि एक ही प्रस्तर को गढ़ कर शिखर बनाया गया हो। शिखर

उड़ीसा शैली



लिङ्गराज मंदिर, भुवनेश्वर [पृ० १४८

के अन्तिम सिरे पर शेर की आकृतियाँ बनी हैं। उसके बाद चक्र की तरह आमलक का विशाल प्रस्तर दिखलाई पड़ता है। उड़ीसा के मन्दिर आधार से सिरे तक अलंकृत तथा विभूषित किये गये हैं जो दसवीं सदी के मन्दिरों की विशेषता है (कुमार स्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन आर्ट, पृ० १०८) । उड़ीसा के मन्दिरों में स्तम्भ का अभाव है। देवल तथा जगमोहन के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर और भी बनावट बढ़ा दी गई है। भीतरी भाग सादा तथा बाहरी भाग विशेष रूप से अलंकृत दिखलाई पड़ता है। इसका कारण यह था कि निर्माणकर्ता बाध्य होकर नियमों का पालन करता था। यहाँ के मन्दिर विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं।

खजुराहो शैली

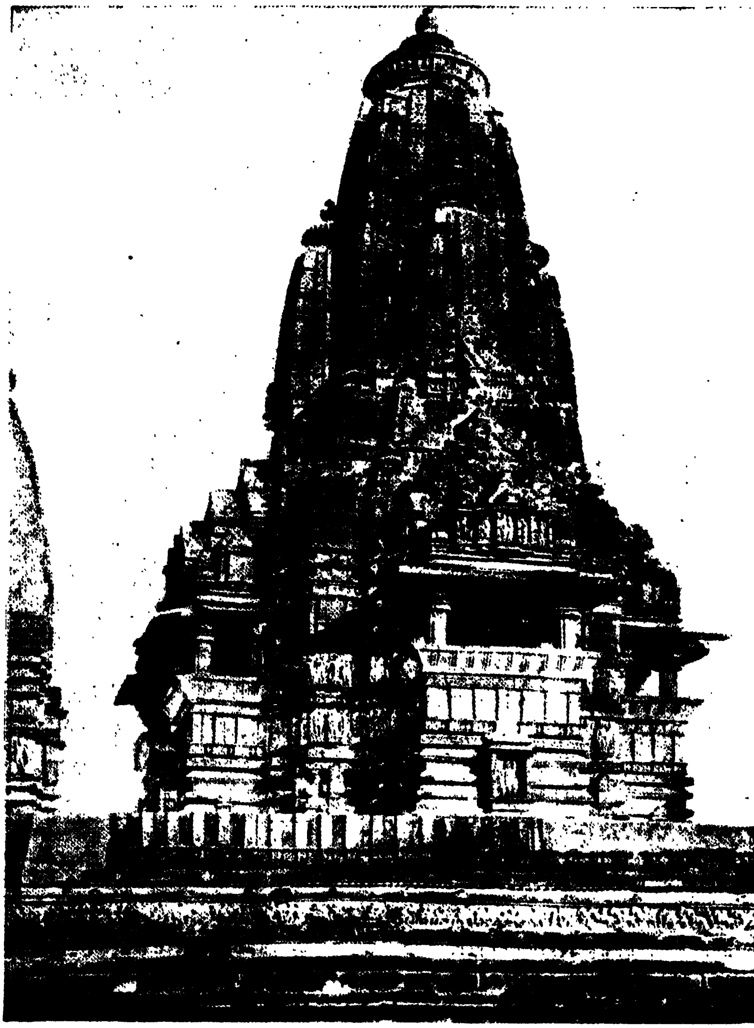
उड़ीसा के भुवनेश्वर मन्दिरों के बाद महत्त्व तथा विशालता के विचार से खजुराहो के मन्दिरों का स्थान आता है जो ९५०–१०५० ई० तक मध्य भारत में तैयार होते रहे। यह स्थान चन्देल राजाओं की राजधानी थी, इस करण यहाँ उन्हीं दिनों शासकों के लिए अट्टालिकाएँ बनाई गई थीं। मुसलमानों के आक्रमण के कारण सारी इमारतें मौजूद नहीं हैं। वहाँ जैन, शैव तथा वैष्णव लोगों ने इमारतों को तैयार करने में पर्याप्त भाग लिया था। हिन्दू मन्दिरों में कण्डरिया महादेव का मन्दिर ११६ फुट ऊँचा है। गहरा खोद कर मन्दिर खड़े किये गये हैं। इसमें गर्भगृह के सामने तीन स्तम्भयुक्त कमरे (मण्डप) बनाए गये हैं जिनमें उपासकों के लिए स्थान सुरक्षित रहता था। इसके साथ प्रदक्षिणा पथ भी बना हुआ है जो सम्पूर्ण मन्दिर का एक भाग है। उसमें खिड़कियाँ हैं तथा बारजे निकले हुए हैं। दूसरा कमरा नाट्य मण्डप (नृत्य के लिए) कहलाता है और तीसरा सब से बाहर है जिसमें से होकर उपासक भीतर आते हैं। उसे भोग मण्डप कहते हैं और वहीं पुष्प तथा रागभोग का सामान रक्खा जाता था। सभी कमरों पर वृत्ताकार गुम्बज बने हैं जिसके भीतरी भाग में कमल बना है। सब से ऊपरी भाग में शिखर का स्वरूप भी दिखलायी पड़ता है। अमृत कलस के स्थान पर सुन्दर प्रस्तर रक्खे हैं। मुख्य मन्दिर (गर्भगृह) के ऊपरी भाग में चौकोन शिखर की शैली आर्य ढंग की है। इसकी विशेषता यह है कि मध्य शिखर से घटकर छोटी छोटी शिखरनुमा आकृतियां प्रधान शिखर के चारों ओर बनाई गई हैं। चारों दिशाओं के अतिरिक्त कोने पर भी वैसा ही नमूना तैयार किया गया

है। मालूम पड़ता है कि एक के बाद एक बुर्ज रक्खा गया हो। चतुर्भुज वैष्णव मन्दिर तथा आदिनाथ का जैन मन्दिर इसी शैली के अनुकूल बनाये गये हैं जिनमें अन्तर बतलाना कठिन है। खजुराहो के मन्दिरों के शिखर खुदाई के कारण अलंकृत हो गये हैं। नीचे से ऊपर (कलस) तक कोई भी भाग बिना सुन्दर खुदाई से बचा नहीं है। चन्देल शासनकाल में अधिकतर ब्राह्मण मन्दिर बनते रहे जिनकी उन्नति कीर्ति वर्मन के राज्यकाल में अधिक हुई।

खजुराहो के मन्दिर भारतीय वास्तुकला के सुन्दर नमूने तथा पूर्ण निर्मित मन्दिरों में गिने जाते हैं। प्रायः सौ वर्ष के चन्देल शासन में ये तैयार किये गये थे। यहाँ के मन्दिरों में चहारदीवार का भाव दिखलाई पड़ता है लेकिन ये ऊँचे प्रस्तर के चबूतरों पर बनाये गये हैं। इनकी बनावट ऐसी है कि विभिन्न अंग मिलकर एक आकार में हो गया है। खजुराहो में पूरी धार्मिक सहिष्णुता के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। वहां के मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं परन्तु कलाकार चबूतरे से ही मन्दिर के पूरे आकार, बनावट तथा सजावट को ध्यान में रख कर कार्य आरम्भ करते रहे। पूरे आकार को सोचकर क्रमशः ऊपर की ओर बनावट सुन्दरता के साथ बढ़ती जाती थी। दीवाल पर आभूषण के विभिन्न आकार प्रकार पूर्व निश्चय के अनुसार तैयार कर दिये जाते थे। हवा तथा रोशनी के लिए दीवाल में स्थान छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार गर्भगृह, मण्डप, अर्धमण्डप और अन्तराल बनाए जाते थे। दीवालों के ताख में मूर्तियाँ सजीव तथा प्राकृतिक सुन्दरता के साथ स्थिर की जाती थीं जिससे मन्दिर जीवित मालूम पड़े। खजुराहो की वास्तुकला मानवी जीवन शक्ति या मानवी चेतना से स्फुरित होती है जो अन्यत्र कहीं दिखलाई नहीं पड़ती।

पूर्व मध्यकाल में मन्दिरों का निर्माण बड़े विशाल पैमाने पर आरम्भ किया गया था। शाक्त मत के प्रचार से धार्मिक कार्यों में मन्दिर-निर्माण को प्रधान स्थान दिया गया था। देवपूजा के निमित्त स्थान की परम आवश्यकता थी, इस कारण राजा तथा प्रजा ने इस पुनीत कार्य में सहयोग दिया और इस युग को इतिहास में प्रसिद्ध किया। भारतीय इतिहास में ऐसा कोई काल विभाग नहीं मिलता जहाँ जनता में धार्मिक भाव ओत-प्रोत हो गया हो। मन्दिर निर्माण के अतिरिक्त लोगों का ध्यान भवन बनाने की

अन्य प्रकार के भवन



कंदारिया महादेव मंदिर, खजुराहो [पृ० १५०

ओर कम न रहा अथवा मठ तथा शिक्षालय के तैयार करने में उदासीन न थे। इस काल में कई मंजिल के मकान बनाने का प्रचार हो गया था। इलौरा का मठ इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सातवीं सदी से नालंदा शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। चीनी यात्री इसकी प्रसिद्धि सुनकर पढ़ने के लिए आए। भारत के कोने-कोने से भिक्षु विद्योपार्जन के लिए वहाँ आया करते थे, इस तरह हजारों विद्यार्थी वहाँ नित्य प्रति शिक्षा पाते थे। उन लोगों के सारे प्रबन्ध का भार वहाँ की एक संस्था के ऊपर था। इस कारण प्रबन्धकर्त्ताओं के लिए यह आवश्यक हो गया कि विद्यार्थियों के लिए भवन निर्माण करावें। यही कारण था कि नालंदा में बहुत बड़े बड़े भवन तैयार किये गये। वहाँ कई मंजिल की इमारतें खुदाई द्वारा प्रकाश में आई हैं जो उपर्युक्त कथन को पुष्ट करती हैं। विद्यार्थियों के रहने के लिए सुन्दर कमरे, सोने का उचित स्थान तथा पुस्तक रखने की जगह बनाई गई थी।

इस प्रकार नालंदा के भवन शिक्षालय तथा निवास स्थान के रूप में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

तक्षण कला

भारतीय तक्षण कला का इतिहास अत्यन्त पुराना है। इस कला में समयानुकूल परिवर्तन होते रहे हैं। स्थान विशेषपर कला ने एक स्वतंत्र स्वरूप धारण कर लिया जो उसके नाम से (स्कूल कह कर) पुकारी जाती है। धार्मिक भावना के साथ नई बातों का समावेश होता गया। पूर्व मध्यकालीन कला ने भारत में पूर्व प्रचलित गुप्त परम्परा का अनुसरण किया, जिसमें स्थानीय विशेषताएँ आ ही गई थीं। पहली सदी से गान्धार तथा मथुरा स्कूल की प्रधानता मानी गई है। उनमें विशेषकर मुद्रा पर कलाकारों का ध्यान केन्द्रित रहा जिससे भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाओं का पता लग जाता है। मुद्रा के अतिरिक्त मूर्ति के वाहन का भी समावेश किया गया ताकि उसकी उपस्थिति से वास्तविक मूर्ति का ज्ञान हो जाय। मूर्तियों के स्थान पर उनके प्रतीक का भी प्रयोग कलाकारों ने किया। अधिकतर प्रतीक का स्वतंत्र प्रयोग तथा वाहन का मूर्ति के साथ प्रदर्शन किया जाता था। मथुरा की कला में मूर्तियों का अधिक निर्माण पाया जाता है, जिनमें मुद्रा, आसन, बनावट की शैली तथा अनुपात की बातें आ गईं थीं।। मूर्तियों के वास्तविक स्वरूप पर भी विचार होने लगा जिससे अंग-प्रत्यंग में समानुपात रहे। इस युग से पहले ही कलाविदों के सम्मुख

मानुषिक चेतना तथा जीवन शक्ति के संचार करने का प्रश्न उपस्थित हो गया था। उसी कारण मथुरा में सजीव मूर्तियों का निर्माण होने लगा। पहली सदी से लेकर चौथी सदी तक की मूर्तियों में मांसपेशियों तथा स्थूल पदार्थ की कमी दिखलाई पड़ती है पर प्रत्येक अंग में चेतना घूम सी रही है तथा हर एक जोड़ में शक्ति का संचार प्रकट होता है। कला में मूर्ति सजीवता के कारण बाहरी आभूषणों का बोझ बौद्ध प्रतिमाओं से लुप्त हो गया तथा वस्त्रों की बारीकी व घुमाव की ओर कलाकारों ने अधिक ध्यान दिया था।

गुप्तकाल में मथुरा के अतिरिक्त सारनाथ के केन्द्र में ऊँचे विचार के ज्ञानी कलाकार काम करते रहे। सारनाथ में मथुरा शैली का अनुकरण प्रारम्भिक अवस्था में मिलता है और मथुरा की विशाल बौद्ध मूर्तियों के अनुकरण पर सारनाथ में वैसी मूर्तियाँ बनने लगी थीं। मथुरा की मूर्तियों में लक्षणों तथा विशिष्ट चिह्नों का अभाव था परन्तु गुप्तकाल में कलाकारों को शास्त्रीय नियमों का पालन करना पड़ा। व्यक्ति का कला में कोई स्थान न रहा। नियमों को सीख कर कलाकार मूर्ति निर्माण में हाथ बटाने लगे थे। गुप्तकलाकारों ने योगासन तथा ध्यानमुद्रा में प्रतिमा बना कर संसार-विजयी का भाव दर्शाया है। प्रतिमा स्त्री की हो या पुरुष की, आँखों तथा पलकों के नीचे झुकाव से ध्यानावस्था को स्पष्ट दिखलाने का सफल प्रयत्न किया गया है। जैसा कहा गया है कि मथुरा की शैली का अनुसरण कर गुप्त युग में मूर्ति-निर्माण हुआ तौभी सारनाथ के कलाकार उस काल में अगुआ का काम करते रहे। वहां कलाकारों ने सूक्ष्म बातों को लेकर सारनाथ का नया स्कूल (शैली) स्थापित किया जिसकी बातें मथुरा वालों को भी मान्य हो गईं और उसी शैली का वहाँ प्रयोग होने लगा। दोनों "शैलियों" में पारस्परिक अदल-बदल होने पर भी सारनाथ तथा मथुरा का पृथक् अस्तित्व बना रहा। मथुरा के वस्त्रों का आवर्तन सारनाथ में त्याग दिया गया जिससे वस्त्रों में सभी अंगों की सुन्दरता छिपी रहे। इस प्रकार के सिद्धान्तों का पालन सभी बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तियों में पाया जाता है। उसी शैली में न्यूनाधिक परिवर्तन कर पूर्वमध्यकाल में तक्षण कला का विकास हुआ। छठी सदी से प्रतिमाओं के अंग में गोलापन लाया गया। यद्यपि अनुपात में सिर छोटा दिखलाई पड़ता है परन्तु पूरे शरीर में कोमलता की कमी नहीं है। महापुरुषों के लक्षण भी देवप्रतिमाओं में रक्खे जाने लगे। सारनाथ शैली की प्रशंसा बंगाल तक

होने लगी जिस कारण इसी के अनुरूप मगध शैली भी (जो पाल शैली के नाम से भी प्रसिद्ध है) मध्ययुग में विकसित हुई। गुप्तकाल में हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान से वैष्णव तथा शैव मूर्तियाँ समान रूप से बनती रहीं। पूर्व मध्यकाल में तांत्रिक मतों के प्रचार से बौद्ध तथा हिन्दू प्रतिमाओं में अनेक रूप से विभिन्नता आ गई और उस धर्म के प्रचलित भावों से कला शासित होने लगी थी। उस समय प्रत्येक मतों में मूर्तियों की निर्माण-कला एक-सी रही। यद्यपि ब्राह्मण प्रतिमा असंख्य रूप में तैयार होती रही तथापि बौद्ध और जैन प्रतिमाओं की संख्या कम न थी। सर्वत्र ही शास्त्रीय नियमों का पालन कलाकारों ने किया था।

पूर्व मध्य भारतीय कला में जातिगत गुणों और देश की परिस्थिति के कारण अधिक भेद समाविष्ट हो गये। विभिन्न सदियों में प्रान्तीय कला की चरम सीमा दिखलाई पड़ती है। बिहार, बंगाल (पाल स्कूल) में ९वीं सदी, राजपूताने में दसवीं सदी तथा उड़ीसा में १३वीं सदी का समय सर्वोत्कृष्ट कला का युग माना जाता है। पहली सदी से ही भारत में विदेशियों का आना प्रारम्भ हो गया था और कुषाण तथा गुर्जर लोग उत्तर पश्चिम मार्ग से भारत में आए थे। उन विदेशियों के बस जाने के कारण समाज में कुछ नवीनता आई। कई सौ वर्षों के स्थिर जीवन के बाद उनकी आकृतियाँ कला में भी ली गईं। पश्चिम भारत में यह प्रभाव सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी शैली में दो स्कूल हैं। गुजराती तथा राजपूत। गुजराती स्कूल में प्रतिमायें नये स्वरूप लेकर आईं। शरीर तथा अंग को धनुष की तरह टेढ़ा प्रदर्शित किया गया। इसके विपरीत राजपूत शैली पर प्राचीन परम्परा का गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उनमें यौवन की आभायुक्त तथा शक्ति संचारित प्रतिमायें बनी हैं। कला की विशेषता के कारण मध्य भारत में चन्देल तथा हैहय शैलियाँ पृथक् पृथक् हो गईं। चन्देल स्कूल में राजपूत ढंग के निरर्थक शारीरिक गठन का अभाव है। चेहरे की बनावट प्राकृतिक गुणों को लेकर तैयार की गई है। गम्भीरता, विरोधी भावना तथा हँसती आकृतियाँ कला में स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई हैं। तात्पर्य यह है कि चन्देल स्कूल में मनोवैज्ञानिक भावों के प्रदर्शन में कलाकारों ने सफलता पाई है। मनुष्य की प्रतिमा के अतिरिक्त पशु की आकृतियाँ भी उसी रूप में तैयार की जाती रहीं। प्रयाग से जबलपुर तक का भाग हैहय स्कूल की सीमा के अन्तर्गत समझा जाता था। दसवीं सदी में इसकी प्रधानता रही। इसमें

अलंकरण की इतनी अधिकता है कि प्राचीन साँची की कला से इसकी समता की जा सकती है। प्रत्येक बात को अत्यधिक सूक्ष्मता के साथ खोदा गया है। चन्देल तथा हैहय स्कूल में यह अन्तर है कि चन्देल-कालीन कलाकार कठिनाइयों को दूर कर कला में नवीनता लाने का प्रयत्न करते रहे परन्तु हैहय स्कूल में नई समस्या को प्राचीन सांचे में छिपाने की ओर ध्यान देते रहे।

बिहार तथा बंगाल में ७वीं सदी तक गुप्त परम्परा काम में आती रही। इस सदी से पूर्व की बहुत कम मूर्तियाँ बंगाल में मिलती हैं। सारनाथ शैली की प्रतिमाओं का उत्तरी भारत में अनुकरण होता रहा, जिसमें चुनार प्रस्तर का प्रयोग मिलता है। गुप्त तथा पाल स्कूल के बीच पहाड़पुर (बंगाल) मध्यस्थ का काम करता था। आठवीं सदी तक मन्दिर के चबूतरे से लगा प्रस्तर मूर्ति तथा मिट्टी की पट्टियां मिली हैं। मन्दिर के ताख में कृष्णलीला सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। उनमें भद्दापन तथा भारीपन दिखलाई पड़ता है। ८वीं सदी से राष्ट्रीय भावना के अभाव से राज्य सीमित हो गये। राज्यों का पृथक् संगठन होने लगा। लोगों के जीवन में इस भाव ने घर बना लिया और प्रत्येक सांस्कृतिक अंग में यह प्रवेश कर गया। उसी के बाद (पाल तथा सेन काल में) कला की दृष्टि से मगध में एक स्थानीय शैली का विकास हुआ जिसे पूर्व भारतीय शैली (स्कूल) अथवा पाल स्कूल कहते हैं। इसका काल ८००—१२०० ई० तक माना जाता है। बिहार तथा बंगाल पाल शैली में अन्य शैलियों से एक मुख्य भेद यह था कि पूर्व भारतीय स्कूल में कसौटी या चिकने काले प्रस्तर की प्रतिमाएँ बनती रहीं। मूर्तियों में भारीपन तथा आन्तरिक भावना का अभाव है। बिहार में ९ वीं सदी तथा बंगाल में १२वीं सदी में उसका पूर्ण विकसित रूप पाते हैं। उस काल में भी बौद्ध मूर्तियां अधिक संख्या में बनीं जिसमें पाल नरेशों का कोई हाथ न था और वे लोग तटस्थ रहे। परन्तु धनी मानी लोगों ने इसे प्रोत्साहन दिया जैसी स्थिति गुप्त काल में थी। पाल शासन तक कला में एक विशिष्ट सादापन था परन्तु सेन युग से साहित्य तथा कला दोनों में अलंकरण का प्रवेश हो गया। नालंदा में पाल शैली की पराकाष्ठा मिलती है जहाँ पर कांस्य धातु की बौद्ध मूर्तियाँ तैयार होने लगी थीं। धीमान तथा उसके पुत्र बिटपाल नाम के दो कलाकार थे जो नवीं शताब्दी तक नालंदा में कार्य

करते रहे। इस शैली ने नवीं सदी के सुमात्रा-जावा कला को प्रभावित किया। नैपाल में भी इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का विचार है कि मगध शैली का विकास पूर्वी भारतीय स्कूल में दिखलाई पड़ता है जिसमें महायान धर्म सम्बन्धी मूर्तियाँ बनी थीं। उस प्राचीन योगाचार सिद्धान्त पर आधारित तांत्रिक धर्म के विकास में कला ने भी जीवन प्रदान किया। शाक्त मत के प्रभाव से कालचक्रयान ने इसकी उन्नति में बाधा नहीं डाली वरन् वृद्धि ही की। नालंदा की कांस्य मूर्तियों में तत्सम्बन्धी प्रतिमाएँ वर्तमान हैं। पाल स्कूल की कांस्य तथा प्रस्तर मूर्तियों में कोई विभेद नहीं पाया जाता। सारे आकार को सोच समझकर इसे तैयार किया गया है किन्तु पूर्व शैली के नमूने से इसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती।

धर्म की भावना इतनी प्रबल थी कि उपासक कलाकार को धन देकर मूर्ति बनवाते थे और उसकी प्राणप्रतिष्ठा करते थे। प्रत्येक मत के माननेवालों ने सिद्धान्त का पालन किया और प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर पुण्य कमाया। धनवान व्यक्तियों की शक्ति तथा उत्साह के कारण कला ऊँचे शिखर तक पहुँच पाई। यही कारण है कि पाल कालीन प्रतिमाओं के आधार प्रस्तर पर दान देने वाले व्यक्तियों की आकृतियाँ बनी रहती हैं। उन पर खुदे लेख भी मिले हैं जिनमें शासक का नाम तथा तिथि उल्लिखित रहती है। कभी दान देने वाले व्यक्ति का नाम भी खुदा मिलता है। पाल शैली मूर्तियों की यह भी एक विशेषता है कि अधिकतर वे लेख युक्त होती हैं।

८वीं से १२वीं सदी यानी चार सौ वर्षों में कला का इतिहास धर्म को लेकर चलता रहा। किसी व्यक्ति विशेष ने इसे प्रभावित नहीं किया। पाल युग में बौद्ध, जैन तथा हिन्दू देवी-देवताओं का स्वरूप निश्चित हो चुका था जिसमें पाल कालीन कलाकारों ने विशेष परिवर्तन नहीं किया। यद्यपि कलाकार अपने कार्य में स्वतंत्र था पर शास्त्रीय बातों को त्याग कर वह कार्य नहीं कर सकता था। उन सीमाओं का उन्लंघन कर कलाकार तथा उसका शिष्य अपनी हस्तकला का प्रदर्शन करने में असमर्थ थे। इतना तो सत्य है कि वह व्यक्तिगत धार्मिक भावना तथा अनुभव का प्रयोग यथाशक्ति कर सकता था। उस सम्बन्ध में नालंदा के कलाकार धीमान का नाम लिया गया है जिसने नवीं सदी में कांस्य मूर्ति के ढालने की शैली प्रारम्भ की थी। प्रायः

तीन प्रमुख कारणों से पाल शैली का अधिक विकास हुआ और यह चार सौ वर्षों तक उत्तरी भारत में प्रचलित रही। पहले राजसभा या शासक जो स्वयं कला सम्बन्धी कार्य में दिलचस्पी लेते रहे। दूसरे, उपासक समूह जो धन के कारण पुण्य लाभ के लिए कलाकारों को पैसा देकर प्रतिमा तैयार कराते रहे। उन्नति का तीसरा कारण कलाकारों की संस्था थी जो श्रेणी के रूप में काम करती थी। इस प्रकार पालकालीन कला ऊँचे वर्ग की हो गई जिसमें साधारण कला का नमूना उन शताब्दियों में नहीं मिलता।

पाल शैली

पूर्व मध्यकालीन मूर्तियों के वर्णन से पहले पाल शैली की विशेषता पर ध्यान देना आवश्यक है। सर्व प्रथम मूर्तियाँ चिकने काले प्रस्तर, पीतल या अष्ट-धातु की बनती रहीं। जितनी मूर्तियाँ बनीं वे सब सावनमाला में कथित नियमों के अनुसार बनाई गयी थीं। धार्मिक भावों के अनुकूल मूर्तियों का सुन्दर शारीरिक गठन बनता जिसमें पुरुषों और स्त्रियों की मांसपेशियों तथा गोल शरीर की बनावट स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। पुरुषों की प्रतिमायें हाथी ऐसे चौड़े कन्धे तथा सिंह की कटि की नाईं बनाई जाती रहीं तो स्त्रियों की मूर्तियों में गोल भारी स्तन तथा निकले हुए नितम्बों की विशेषता रहती थी। योग तथा तांत्रिक भावना के कारण भी उनमें भिन्नता आ जाती है। धर्म के कारण रहस्य की बातें कला में प्रवेश कर गई थीं। अनुभवी कलाकार बनावट तथा अनुपात आदि की बातों को प्रतिमा में समावेश करते जिसका अनुसरण साधारण कलाकार करते रहे। धार्मिक बातों को ध्यान में रखते हुए आन्तरिक अनुभव को प्रधान स्थान देकर कलाकार शारीरिक गठन तथा अंगों में कुछ परिवर्तन भी कर देता था। यद्यपि बाहरी शारीरिक बनावट की सूक्ष्मता पर कलाकार का ध्यान न था परन्तु अलंकरण के प्रदर्शन तथा अलंकारों की सूक्ष्म खुदाई में हस्त-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना दिखलाई पड़ता है। जैसा कहा गया है, पाल शैली में खड़ी तथा बैठी प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। खड़ी (समपाद स्थानक) मूर्ति में दो हाथी की सूंड़ की तरह भारी तथा स्थूल पैर बनाये गए हैं जिससे लगी हुई छाती सर्वथा सीधी दिखलाई पड़ती है। बैठे यानी वज्र पर्यंक आसन में एक पैर का तला दूसरे जंघा पर सहारा लेकर सामने दिखलाया गया है। कलाकार की विशेषता उनके चेहरे की बनावट से प्रकट होती है कि उमंग,



पाल-शैली—विष्णु-प्रतिमा [पृ० १५६

क्रोध, सुख-दुःख, शान्ति तथा सांसारिक उथल-पुथल में भी मुख की आकृति एक सी बनी रहती थी। इसके विपरीत प्रधान मूर्ति की गम्भीर मुद्रा के रखते हुए भी साथ में खुदी हुई गौण मूर्तियाँ भंग मुद्रा में प्रसन्न चित्त या क्रीड़ा भाव मय खोदी गई हैं। गन्धर्व मूर्तियाँ इसी अवस्था में दिखलाई पड़ती हैं। अन्त में यह कहना आवश्यक है कि प्रतिमा-निर्माण में पूर्व धार्मिक परम्परा तथा शास्त्रों के आदेश अक्षरशः पालन किये जाते थे। कभी-कभी तो शारीरिक बनावट भी उसी के अनुकूल तैयार की जाती थी। यही कारण है कि शास्त्र तथा मूर्ति की शैली में अभिन्नता दिखलाई पड़ती है। उसके सहारे निर्मित प्रतिमा को देख कर शास्त्रीय ज्ञान किया जा सकता है।

इस काल की अधिकतर मूर्तियाँ मन्दिर के साथ खुदी मिलती हैं। ८वीं सदी से नई शैली में कमलासन पर बैठी या खड़ी मूर्ति प्रधान स्थान ग्रहण कर चुकी थी। किन्तु अगली शताब्दियों (९वीं तथा १०वीं सदी) से काले प्रस्तर पर खुदी स्वतंत्र मूर्तियाँ तैयार होने लगीं। बीच में प्रधान प्रतिमा रहती और चारों ओर परिवार देवतागण पृथक् कमलासन पर स्थित रहते थे जो मुख्य प्रतिमा के सम्मुख छोटे आकार के होते थे। उन मूर्तियों में कमल के नीचे प्रस्तर आधार पर प्रतिमा के वाहन अथवा अलंकरण या दानकर्त्ता की आकृति खुदी मिलती है। मूर्ति के सिर के पीछे प्रभामण्डल (प्रभावली) दिखलाई पड़ता है। जहाँ सिंहासन बना है वहाँ हंस पक्षी, मकर की आकृति अथवा कीर्तिमुख को मुख्य स्थान दिया जाता था। ऊपरी भाग में उड़ते हुए गन्धर्व खुदे मिलते हैं। पाल शैली की मूर्तियाँ अधिकतर त्रिभंगी मुद्रा में मिली हैं। जो प्रस्तर बड़े होते थे उनमें मूर्ति के बाद भी खाली जगह रह जाती थी या मूर्ति की लम्बाई तथा चौड़ाई के बराबर जब काले प्रस्तर को काट लिया जाता था तो उसमें भी मुख्य प्रतिमा की रूप-रेखा प्रस्तर के बाहरी भाग से पृथक् ही रहती थी। बंगाल में पाल या सेन शासन कालीन अधिक प्रतिमा नहीं मिली है। बिहार में गुप्त परम्परा पर्याप्त दिनों तक रही जिसके बाद ९वीं तथा १०वीं सदी में पूर्वी भारतीय शैली की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। मूर्ति प्रस्तरों पर खुदे लेखों के आधार पर तिथि युक्त ऐसी प्रतिमाओं का पता लगता है जो पूर्वी भारतीय स्कूल का नमूना उपस्थित करती हैं। बिहार से ही पाल-वंशी राजा देवपाल तथा नारायणपाल के शासन कालीन पत्थर और धातु की

मूर्तियाँ मिली हैं। मूर्तियों में मांसपेशियाँ तथा कोमल त्वचा विशेष रूप से दिखलाई पड़ती हैं जो बातें पिछली गुप्त शैली में भी मिलती हैं। उनके चेहरे से उद्विग्नता अथवा उत्तेजना की मात्रा नहीं दिखलाई पड़ती बल्कि उनमें शान्ति भाव मिलता है। आँखें आधी बन्द अवस्था में नीचे की ओर देखती हैं। इसके बाद ही दसवीं शताब्दी में उन गुणों के साथ शारीरिक बल का आभास मिलता है। अर्ध पर्यंक आसन या ललितासन का अधिक प्रचार हो गया था। वस्त्र (परिधान) के प्रदर्शन में कोई अन्तर नहीं मिलता परन्तु अलंकरण तथा आभूषण तो अत्यन्त सूक्ष्म रीति से खोदा गया है। पूर्व मध्यकाल की अन्तिम दो सदियों में कला में विशेष परिवर्तन हुआ। सर्वप्रथम स्थूल तथा बलवान् शरीर को कोमल और सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया। पैरों में स्थिरता डाल दी गई और चेहरों में प्रसन्नता की आनन्दमय भावनाएँ लाई गईं। सब से बड़ी विशेषता यह है कि मुख्य प्रतिमा से आधार प्रस्तर के अलंकरण, गन्धर्व तथा साथ में अन्य आकृतियाँ स्वतंत्र रूप से खोदी गई हैं। सभी का सम्मिलित प्रभाव उस मूर्ति के वास्तविक भाव को व्यक्त करता है। अलंकरण के विषय पर अधिक जोर दिया गया है जो कालान्तर में क्रीड़ामय भाव प्रकट करने लगे और अन्त में वही काम जनित आनन्द देने वाले रूप में प्रदर्शित किए गए। चेहरे में जागरूकता, ठुड्डी को नीचे की ओर झुकना, गोल होंठ तथा भारी बोझ से दबी आँखें उनकी विशेषता है। प्रतिमा का प्रस्तर गोलाकार अथवा सिरे पर नुकीले ढंग का होता था जिसमें वास्तुकला की दृष्टि से चार विभिन्न हिस्से पाये जाते हैं। उस काले रंग के पत्थर में पृथक् पृथक् रूप से खुदाई की जाती थी। तत्पश्चात् बारहवीं सदी के अन्त में चेहरे से उत्तेजना की भावना क्रमशः लुप्त होती गई और गम्भीरता आने लगी। चेहरे से आध्यात्मिकता के स्थान पर काम जनित आनंद तथा अश्लीलता के भाव स्पष्ट होने लगे जिनके तिरछे होठ, एक पर एक टेढ़ी भौंहें तथा हँसमुख चेहरा उल्लेखनीय हैं। वस्त्र की बनावट अपनी विशेषता रखती है जो लहर अथवा टेढे-मेढ़े रूप में दिखलाई गई है।

बारहवीं सदी की कला विशेषतः सेन कालीन ललिता कला ही समझी जाती है। उस समय की कला तथा साहित्य में सांसारिक भावनाओं ने घर बना लिया। दोनों में सांसारिक भाव और शारीरिक सुन्दरता की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। तत्कालीन कला में अश्लीलता भी आती

गई और इसी कारण जयदेव की कविता में आनन्ददायक बातें मिलती हैं। इस कला का अगला रूप क्या होता यह कहना कठिन है। उस भूभाग में इस्लाम धर्म के कारण कला रुँध गई और समाज तथा धार्मिक संस्थाएँ स्थिर हो गईं। मुसलमानों के आक्रमण से पूर्वमध्यकालीन कला का अन्त हो गया।

पूर्वमध्यकाल हिन्दू देवता की चर्या का एक विशिष्ट युग माना जाता है। गुप्तकाल से ही संस्कृत साहित्य में पुनर्जन्म के कारण निराशा के भाव आ गये थे। इस कारण सांसारिक कष्ट से बचाने तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वरीय अवतार की कल्पना की गई। हिन्दू कलाविदों ने स्तूप के अनुकरण पर मन्दिर तैयार किया जिसमें मूर्तियों की स्थापना की गई। इन्हें पौराणिक देवता कहते हैं। साहित्य में चतुर्भुजी देवता का उल्लेख मिलता है और वैसी ही प्रतिमायें कलाकार तैयार करने लगे। मध्ययुग की हिन्दू मूर्ति कला में चतुर्भुज, अष्टभुज तथा षोडशभुज प्रतिमायें पाई जाती हैं। इनमें इलौरा तथा एलीफेण्टा की विशालकाय मूर्तियों का उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है। खजुराहो तथा भुवनेश्वर मन्दिरों पर तत्कालीन तक्षण कला के सुन्दर नमूने दिखलाई पड़ते हैं।

पूर्व मध्यकाल में मूर्तियों के निर्माण का एक इतिहास है जो बीते युग से भिन्न था। इस काल में भक्ति के प्रचार से पूजा का प्रकार बढ़ गया।

प्रतिमा-निर्माण

ब्राह्मण धर्म में यंत्र-तंत्र द्वारा लोग देवताओं की पूजा करने लगे। प्रतिमा यंत्र का कार्य करती थी जिसका एक माप भी था। किसी मत का माननेवाला साधारण उपासक मूर्तिपूजा से मनोवांछित फल की प्राप्ति करता था। लोगों का विश्वास था कि योग के द्वारा भगवान् को जान सकते हैं अतएव ब्राह्मणों तथा बौद्धों ने योग का प्रयोग प्रारंभ किया। पूर्व मध्यकालीन प्रतिमा निर्माण में शाक्त मत के प्रभाव से शक्ति का समावेश किया गया। इस कारण प्रायः शक्ति मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। विश्व रचना के लिये शिव के साथ शक्ति का प्रदर्शन आवश्यक समझा गया। बिना शक्ति के कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। महायान धर्म में शक्ति को तारा का नाम दिया गया। मूर्तियों में अलंकार इस रूप में प्रदर्शित किये गये कि सबका ध्यान उस मूर्ति की ओर आकर्षित हो। इतना ही नहीं बौद्ध कलाकारों ने तारा के अतिरिक्त बोधिसत्व को भी नारी की सुन्दरता देकर शक्ति भाव

का प्रदर्शन किया है। प्रतिमा ध्यान को एकाग्र करने का एक साधन मात्र था। इस कारण मुख्य प्रतिमा इस प्रकार स्थापित की जाती कि सदा उपासक के सम्मुख रहे। गर्भगृह में प्रकाश की भी कोई आवश्यकता न समझी गयी। इस युग की प्रतिमाओं के वर्णन से पूर्व यह कहना आवश्यक है कि पूर्व मध्यकाल में मंदिरों की दीवालों पर मूर्तियाँ (पार्श्वदेवता) नियमित रूप से ताख में स्थापित की जाती थीं। पार्श्वदेवता की प्रतिमा मंदिर की तीन दीवालों में से एक के मध्य में रहती थी। यह मूर्ति प्रधान प्रतिमा से अधिक अंशों में मिलती जुलती होती है, केवल मूर्ति का प्रस्तर चौकोन पसंद किया जाता था जिससे ताख में मूर्ति को रख सकें। इसी तरह अष्ट दिक्पालों की आकृतियाँ मंदिर की बाहरी दीवाल पर यथास्थान स्थिर की गई थीं। इस युग के हिन्दू देवता की अकेली प्रतिमा तैयार करने की प्रथा लुप्त हो गई थी। इन प्रतिमाओं के प्राचीन मूर्तियों से विभेद करने के लिये कलाकार दो साधन काम में लाते रहे। सर्वप्रथम वाहन को स्थान दिया जिसका महत्व पुराने समय से ज्ञात था। दूसरी नवीनता यह थी कि प्रतिमा के कई हाथ तथा सिर कला में समाविष्ट किये गये। उन मूर्तियों में विभिन्न चिह्न भी मिलते हैं। उस समय देवताओं के हाथ मुद्रा में भी खोदे जाते रहे। कभी कारणवश कलाकार वाहन की आकृति को प्रतिमा में स्थान देने में असमर्थ भी हो जाते थे किन्तु दोनों हाथ मुद्रा में रहने के कारण विशिष्ट चिह्नों के लिये देवमूर्ति में हाथों की संख्या बढ़ाना नितान्त आवश्यक समझा गया। यही कारण था कि पूर्व मध्यकालीन मूर्तियां बहुभुजी तैयार की जाने लगीं। त्रिमूर्तियों के चार हाथ, देवी के आठ हाथ, विश्वकर्मा तथा शिव की चतुर्मुखी मूर्तियां मिलती हैं। किसी प्रतिमा (अधिकतर विष्णु) में अधिक हाथ न दिखलाकर चिन्हों (शंख, चक्र, गदा, पद्म) में किन्हीं दो के लिए आकृतियां तैयार की जाती थीं जिन्हें आयुध पुरुष कहते हैं। उदाहरण के लिए विष्णु प्रतिमा में चक्र पुरुष तथा गदादेवी का नाम लिया जा सकता है।

विष्णु

हिन्दू देवताओं में पंचदेव विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य तथा दुर्गा की पूजा प्रचलित थी। विभिन्न पौराणिक देवताओं में विष्णु तथा शिव पूजा की ही प्रधानता मिलती है। गुप्तकाल से विष्णु की पूजा का उल्लेख लेखों में मिलती है परन्तु पूर्व मध्यकाल में विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियां मिली

हैं। इनमें चतुर्भुजी प्रतिमाएँ अधिक बनती रहीं जिसके शंख, चक्र, गदा तथा पद्म आयुध रहते थे। उनके शरीर पर किरीट, कुण्डल, हार तथा यज्ञोपवीत आदि अलंकार खोदे गये हैं। बंगाल में विष्णु की विशाल काले प्रस्तर की मूर्ति ललितासन में मिलती है। विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति साथ में दिखलायी पड़ती है। उसमें पिछले दोनों हाथों में कमल हैं। कमला तथा सरस्वती की मूर्तियां दोनों तरफ खड़ी हैं। प्रस्तर के ऊपरी भाग में विद्याधर उड़ते हुए बनाए गये हैं। मूर्ति के चारों तरफ साधारण प्रभावली पाल युग से सम्बन्ध जोड़ती है। कभी विष्णु प्रतिमा ध्यानी बुद्ध की तरह बनी मिलती है जिससे प्रकट होता है कि महायान धर्म क्रमशः हिन्दू धर्म में विलीन हो रहा था। इस काल की मूर्ति कला में, प्रायः सर्वत्र ही दो कमल के आसन पर बैठी प्रतिमा मिलती हैं। यदि अर्धपर्यंक आसन में एक पैर कमलासन से नीचे है तो उस स्थान पर भी पैरों तले कमलासन का छोटा रूप दिखलायी पड़ता है। खड़ी नारायण की मूर्ति चार हाथों में चिह्नों के क्रम के कारण त्रिविक्रम के नाम से पुकारी जाती है जिसका वर्णन पुराणों (अग्नि, पद्म आदि) में मिलता है। विष्णु प्रतिमा में चिह्न के अभाव में उन प्रतीकों को मूर्तिमान रूप प्रदान किया जाता था। चक्र पुरुष, शंखपुरुष अथवा गदादेवी की आकृतियाँ मिलती हैं और वे मूर्तियाँ उस चिह्न को धारण करती हैं। चक्र तथा शंख पुरुष की स्थिति में नीलकमल पर चक्र तथा शंख दिखलाये गये हैं तथा गदादेवी भी हाथ में गदा लिये दिखलायी पड़ती है। अन्य मूर्तियों में विष्णु प्रतिमा के सिर पर आदिशेष की आकृति बनी मिलती है। पूर्व-मध्यकाल में स्थानक (खड़ी) मूर्तियों की अधिकता थी किन्तु ललितासन में बैठी विष्णु प्रतिमा भी थोड़ी संख्या में मिलती हैं। विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएं तो गुप्तकाल से ही उपलब्ध होती रही हैं परन्तु पूर्व मध्यकाल में दस अवतारों की मूर्तियाँ बहुलता से तैयार होने लगी थीं। वाराह, नरसिंह, वामन, बलराम, मत्स्य आदि की प्रतिमाएँ पृथक् पृथक् तथा एक साथ खुदी हुई पाई गई हैं। हैहय शासन कालीन (११वीं सदी) प्रतिमाओं में मैहर के पास एक स्तम्भ पर विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ खुदी हैं जिसमें मत्स्य, बुद्ध, वामन, कल्कि की मूर्तियाँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। दूसरे स्तम्भ पर कूर्म, वाराह, नरसिंह की प्रतिमाएँ मिली हैं। त्रिमूर्तियों में ब्रह्मा की प्रतिमा का क्रमशः अभाव-सा हो रहा था। एक स्थान पर ब्रह्मा के चार मुखों वाली प्रतिमा में चिह्नों के प्रयोग से ब्रह्मा, विष्णु की सम्मिलित मूर्ति मानी गई

हैं। बीच में वनमाला है, दोनों तरफ आयुध पुरुष (शंख, चक्र) दिखलायी पड़ते हैं। लेकिन हाथों में अक्षमाला तथा कमण्डल आदि प्रतीक उसे ब्रह्मा की मूर्ति घोषित करते हैं। विष्णु की स्थानक मूर्तियों में सरस्वती तथा लक्ष्मी प्रायः सदा खुदी रहती हैं। यद्यपि दोनों की पृथक् मूर्तियाँ उत्तरी भारत में मिलती हैं पर लक्ष्मी को गजलक्ष्मी का नाम दिया गया है तथा सरस्वती चतुर्भुज रूप में अक्षमाला पुस्तक तथा वाहन (हंस) के साथ तैयार की गई हैं।

चतुर्भुज विष्णु प्रतिमा की तरह सर्वत्र शिव की लिंग मूर्ति की प्रधानता मानी जाती थी। पूर्व मध्यकाल में भी एक मुख या चतुर्मुख लिंग की प्रतिमा बनती रही परन्तु शिव को शारीरिक आकृति देकर भी अनेक नामों से प्रतिमाएँ बनाई गई थीं। नृत्यमूर्ति, सदाशिव, उमामहेश्वर, अर्धनारीश्वर, कल्याणसुन्दर मूर्ति या अघोर रुद्र की प्रतिमाएं मिलती हैं। शिव की मूर्तियाँ प्रस्तर के अतिरिक्त कांस्य की भी बनती रहीं। बंगाल के पहाड़पुर से तत्कालीन प्रतिमाओं के नमूने मिले हैं। दक्षिण भारत की कांस्य प्रतिमा चतुर्भुजी नटराज के सदृश बंगाल में भी दशभुजी कांस्य मूर्ति पाई गई है किन्तु विद्वानों ने इसे नर्तकेश्वर का नाम दिया है। इस प्रतिमा में शिव का वाहन नन्दी ऊपर सिर उठाये भगवान् को देख रहा है और दो पैर उठाकर नाच रहा है।

शिव

बंगाल में सबसे महत्त्वपूर्ण शिव-प्रतिमा उमामहेश्वर के नाम से पुकारी जाती है। इसमें बहुभुजी शिव की बैठी मूर्ति है जिसकी गोद में पार्वती सुखासन ढंग से बैठी है। पार्वती का दाहिना हाथ शिव के कंधे पर है और शिव बाएं हाथ से उमा का आलिंगन कर रहे हैं। दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रा में है। ऐसी मूर्तियां तांत्रिक क्षेत्र में पायी जाती हैं जहाँ पर तांत्रिक उपासकों ने शिव की गोद में बैठी देवी पूजा का व्रत ग्रहण किया था। सम्भवतः शाक्त-मत के आरम्भ से ऐसी प्रतिमाओं की पूजा आवश्यक मानी गई थी और उस समय कलाकारों ने देवी प्रतिमा में पुरुषत्व तथा देवमूर्ति में स्त्रीत्व की भावना स्पष्ट रूप से दिखलाया है। कालान्तर में दोनों को मिला दिया गया है और अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति बनने लगी (जिसमें आधा पुरुष तथा आधा स्त्री का शरीर बना है)। पाल शैली की सुन्दर मूर्तियों में अर्धनारीश्वर की भी गणना की जाती है। शिव की



शिव-प्रतिमा

[पृ० १६२

कल्याण सुन्दर (वैवाहिक प्रतिमा) मूर्ति का दक्षिण भारत में अभाव सा है। १०वीं सदी के हैहय मंदिर में इस तरह की शिव पार्वती की प्रतिमा मिली है। भेड़ाघाट (जबलपुर, मध्यप्रांत) के गौरीशंकर के मंदिर में नन्दी पर बैठे शिव तथा दुर्गा की सुन्दर मूर्ति उसी स्थान पर सूर्य, गणेश तथा विष्णु की मूर्तियां पंचदेव पूजा का स्मरण दिलाती हैं (विशेष जानकारी के लिए देखिए आ० स० मैं० नं० २३) । शिव की उग्र रूप की मूर्तियों में अघोर रुद्र तथा बटुक भैरव की प्रतिमा कहीं कहीं मिलती है।

शिव के साथ गणपति तथा कार्तिकेय की मूर्तियों का वर्णन असंगत न होगा। उत्तरी भारत में गणेश पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान था जो गाणपत्य के नाम से विख्यात हो गया था। गणेश मंगलकारी देव माने गये हैं, इसलिए विभिन्न मत वाले इनकी पूजा करने लगे थे। गणेश की प्रतिमा बैठी, खड़ी तथा नाचती हुई मिलती है। प्रथम दो प्रकार में गणेश की चार भुजाएं बनाई गई हैं परन्तु नाचने के ढंग में प्रतिमा बहुभुजी (चार से अधिक) दिखलायी पड़ती है। बंगाल के पहाड़पुर में प्रस्तर, धातु तथा मिट्टी की गणेश मूर्तियाँ मिली हैं। चार हाथों में माला, त्रिशूल तथा सर्प वर्तमान है। आधार शिला पर चूहे की आकृति है। नृत्य प्रतिमा में गणेश चूहे की पीठ पर नाच रहे हैं। कभी कभी गणेश प्रतिमा की प्रभावली में छः छोटी गणपति की आकृतियां बनी हैं जो देवपूजा के छः प्रकार को बतलाती हैं।

पूर्व मध्यकाल से कला में शक्ति को विशेष स्थान दिया गया है। शाक्त मत के उदय से सब की यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि यही दैवी शक्ति है जिससे संसार की उत्पत्ति होती है।

शक्ति प्रतिमा शक्ति के बिना शिव संसार का कल्याण नहीं कर सकता और न संसार उत्पन्न ही हो सकता है। इसलिए हिन्दू तथा बौद्ध मतानुयायियों ने शक्ति को देव प्रतिमा के साथ सम्बन्धित किया और शिव, विष्णु तथा बुद्ध प्रतिमाओं के साथ शक्ति मूर्ति को कला में प्रमुख स्थान दिया। शक्ति-पूजा को पृथक् स्वरूप दिया गया जिसके उपासक शाक्त मत के मानने वाले कहे गए। शक्ति के अनेक चिह्नों के कारण देवी प्रतिमा बहुभुजी बनाई गई थी। साधारणतः देवी की आठ भुजायें दिखलाई पड़ती हैं जिसमें शंख, बाण, तलवार, ढाल, त्रिशूल, घंटा तथा धनुष आदि प्रतीक मिलते हैं और कभी चतुर्भुजी मूर्ति सिंह की पीठ के समीप खड़ी दिखलायी जाती थी। तंत्र पुस्तकों में देवी के अनेक रूपों का वर्णन मिलता है।

बंगाल में १२वीं सदी की दुर्गा प्रतिमा मिली है जिसके सिर के ऊपर प्रस्तर पर गणपति, ब्रह्मा, शिव, विष्णु तथा कार्त्तिकेय की आकृतियाँ एक पंक्ति में खुदी मिलती हैं। बंगाल की प्रधान शक्ति मूर्ति चण्डी के नाम से पुकारी जाती है जिसकी प्रतिमा में सिंह वाहन के रूप में वर्तमान रहता है तथा हाथों में वर, अंकुश, पद्म तथा कमण्डल दिखलाई पड़ता है। लक्ष्मण सेन के शासनकालीन चण्डी की मूर्तियाँ चार भुजा से लेकर बीस भुजा तक मिली हैं। मध्यप्रांत में ११वीं सदी का एक मंदिर मिला है जो चौंसठ योगिनी के नाम से विख्यात है। यहाँ पर शक्ति के चौंसठ विभिन्न रूपों की प्रतिमाएं स्थापित की गई हैं। इस चार कोने वाले मंदिर के अन्दर बड़े ताख में प्रत्येक देवी (योगिनी) की मूर्ति रक्खी है। प्रतिमाएं चतुर्भुजी या अष्ट-भुजी हैं और उनके नाम आधार शिला पर खुदे हैं। दोहरे कमल का आसन है जो मध्यकाल का द्योतक है। इनका सम्बन्ध किसी न किसी देव से जोड़ा गया है। सबसे विचित्र शक्ति प्रतिमा गणेश की देवी की है जो गणेशानी न कहकर श्री अंजिनी कही गई है। वह कमल के पत्ते पर बैठी है और मूर्ति में हाथी का सिर बना है। (विशेष जानकारी के लिये देखिए आ० स० मे० नं० २३) । इन सौम्य मूर्तियों के अतिरिक्त देवी का उग्ररूप महिषमर्दिनी प्रतिमा में दिखलाई पड़ता है। जिसका वर्णन मार्कण्डेय पुराण में मिलता है। इन शाक्त प्रतिमाओं की इतनी पूजा होने लगी थी कि कोई घर खाली न रहा और इनके अधिक प्रचार के कारण जावा में देवी प्रतिमाएं बनाई गयी थीं।

नव दुर्गा का विवरण भविष्य पुराण में मिलता है और उसी के अनुसार कला में भी नव चंडिका की मूर्तियां आरम्भ हुई थीं। किसी देवी मूर्ति के सिरे पर गणपति, सूर्य, शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा की आकृतियाँ मिलती हैं जो पंचदेव की पूजा को चरितार्थ करती हैं। महायान की उग्र तारा की मूर्ति में भी ऐसी ही छोटी पंचदेव की प्रतिमाएँ दिखलाई पड़ती हैं। नव दुर्गा के अतिरिक्त सप्तमातृका नामक देवी प्रतिमाएं पूर्व मध्यकाल में f जो विशिष्ट देवताओं के कारण ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, इन्द्राणी, वैष्णवी, वाराही तथा चामुण्डा के नाम से विख्यात हैं। सप्तमातृका की सभी मूर्तियां विभिन्नताओं की देवी शक्ति मानी गई हैं। जिसमें चामुण्डा सबसे प्रसिद्ध समझी जाती है। अग्नि पुराण में चामुण्डा की बारह भुजी प्रतिमा का वर्णन आता है जहां वह सिद्ध योगीश्वरी के नाम से पुकारी

गई है। खड़ी या नाचती प्रतिमा में कुत्ते के दांत, गोल आंखें, गहरा पेट और विचित्र हंसी आदि विशेषताओं से पहचानी जाती हैं।

यह तो सभी को ज्ञात है कि भारत में सूर्य पूजा का आरम्भ ईरान के लोगों ने किया था। भगवान् सूर्य की पूजा से सब प्रकार के रोग दूर होते हैं, ऐसी धारणा बनी रही। इसी कारण मध्यभारतीय लेख (११वीं सदी) में इन्हें "समस्त रोगिणा हर्त्ता" कहा गया है। सूर्य प्रतिमा तो गुप्तकाल से भारत में बनती रही किन्तु पूर्व-मध्यकालीन कला में कुछ नवीनता लिये सूर्य की मूर्ति मिलती है। इसमें पहले की तरह दोनों ओर डण्डी तथा पिंगल की मूर्तियाँ बनी हैं परन्तु उनके साथ उषा तथा प्रत्यूषा नामक देवियों की आकृतियाँ जोड़ दी गई हैं जो बाण फेंकती हुई दिखलाई गई हैं। सम्भवतः सूर्य की किरणों को मूर्तिमान कर दिया गया था। रथ के चालक अरुण मौजूद हैं तथा आधार शिला के स्थान पर सात घोड़ों की आकृतियां सप्त-रश्मि अथवा रथ के द्योतक हैं। सूर्य रथ के आसन पर खड़े ईरानी ढंग का लम्बा बूट पहने हुए हैं। ११वीं सदी की चतुर्भुजी सूर्य प्रतिमा मध्य-भारत से मिली है। हाथ में कमल का चिह्न (वर) है। दो हाथों से कमल पकड़े हुए हैं तथा अन्य दो में अक्षमाला और कमण्डलु वर्तमान है। उड़ीसा के अनन्तवर्मन के समय में (१०७६–११४८) कोणार्क का विशाल सूर्य मंदिर तैयार किया गया था जिसके विशाल चक्र तथा अश्वों की समता नहीं की जा सकती।

सूर्य प्रतिमा

सूर्य पूजा के प्रचार के साथ रेवंत तथा नवग्रह की पूजा आरम्भ हो गई। रेवन्त सूर्य का पुत्र कहा गया है और लम्बा बूट पहने घोड़े पर सवार दिखलाई पड़ता है। भ्रम से इस तरह की मूर्तियों को लोग कल्कि अवतार मान लेते हैं परन्तु शास्त्रीय वर्णन के अनुसार वह रेवन्त ही माना जा सकता है। नवग्रह में एक ही प्रस्तर पर कई आकृतियाँ खुदी रहती हैं जो दरवाजे के ऊपर भी रख दिये जाते हैं। एक पंक्ति में कमल के आसन पर खड़ी मूर्तियाँ अपने अपने चिह्न के साथ दिखलाई जाती थीं। उसमें गणेश प्रधान समझे जाते हैं। इनकी पृथक् पृथक् मूर्तियां बहुधा नहीं मिलती हैं।

उत्तरी भारत में तंत्र के प्रचार तथा शाक्त मत के कारण कला में अनेक देवी देवताओं को स्थान मिल गया था। जिन देव या शक्ति का सीधा

विविध प्रतिमाएं

सम्बन्ध न था उनके भी स्वरूप को कलाकारों ने प्रस्तर में खोदा। रोग की देवी हारिती एक बौद्ध प्रतिमा मानी जाती है, इसी को कलाकारों ने हिन्दू जगत में शीतला के नाम से प्रसिद्ध किया। यही कारण है कि उत्तरी भारत में आज तक उसकी पूजा होती चली आ रही है। घरों में बड़ी या छोटी चेचक निकलने पर कोई दवा नहीं की जाती और शीतला देवी की पूजा ही रोग-मुक्ति का एकमात्र साधन माना जाता है। शक्ति के पूजा के कारण ही रोग को भी माता के नाम से पुकारते हैं। बंगाल में पूर्व मध्यकाल से एक नई देवी की पूजा आरम्भ हुई जिसे सर्पदेवी या मनसा कहते हैं। प्रस्तर मूर्तियों में मनसा ललितासन ढंग से बैठी दिखलाई जाती हैं जिनके सिर के पीछे सात सर्प फन फैलाये अंजलि के रूप में खुदे हुए हैं। कहीं मनसा की गोद में बच्चा भी दिखलाया गया है। उसी के हाथ में पत्ते युक्त एक शाखा वर्तमान है। तीसरी शक्ति मूर्ति षष्ठी के नाम से प्रसिद्ध है। मूर्ति चतुर्भुजी बनाई जाती थी। आधार शिला से लगी, भद्रघट के समीप, एक बिल्ली की आकृति बनी है जिस पर देवी का एक पैर रक्खा है। इसी बिल्ली के कारण इसे षष्ठी प्रतिमा की संज्ञा दी गई है। इनके अतिरिक्त गंगा-यमुना की प्रतिमाएं दरवाजे की चौखट पर खुदी मिलती हैं। वाहन के कारण दोनों मूर्तियों को पृथक् किया जाता है। यमुना का कूर्म तथा गंगा का मकर वाहन माना गया है। यमुना के हाथों में कमल है तो गंगा के हाथों में मोतियों का हार है। गंगा-प्रतिमा में दोनों ओर नाग-नागिन की आकृतियाँ बनी हैं। पूर्व मध्यकाल में कलाकारों ने वैदिक देवतागण—इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण तथा कुबेर आदि को भी मूर्तिमान कर दिया था और इन्हें दिक्पाल के नाम से पुकारा जाता है। इन देवताओं की मूर्तियाँ पृथक् पृथक् मिली हैं।

उत्तरी भारत में पूर्व मध्यकाल से जैनधर्म की अवनति होने लगी थी। इसका प्रभाव कला पर भी पड़ा। सातवीं सदी के बाद जैन मूर्तियां यत्रतत्र

जैन मूर्तियाँ

मिलती हैं। यों तो बारहवीं सदी तक जैन प्रतिमाएँ बंगाल से मिली हैं परन्तु उनकी संख्या हिन्दू मूर्तियों के सामने नहीं के बराबर है। जैन प्रतिमाओं में चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा, यक्ष तथा यक्षी के साथ मिलती है। बीच में एक प्रधान मूर्ति है तथा उसी शिला पर अन्य तेईस तीर्थंकरों को



सूर्य-मूर्ति [पृ० १६६

आकृतियाँ बनी हैं। जहाँ पार्श्वनाथ या ऋषभनाथ की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग (आसन) ढंग से बनी हैं उनके लांछन आधार शिला के नीचे बनाये गये हैं। दोनों तरफ चंवर-युक्त दो मनुष्य की मूर्तियां खड़ी हैं तथा माल-युक्त विद्याधर उड़ते हुए दिखलाये गये हैं। मध्यभारत के चेदि राज्य में अनेक जैन मूर्तियां मिली हैं जिनमें पार्श्वनाथ से सम्बन्धित शाशन देवी की प्रतिमा प्रधान रूप से उपलब्ध हुई है।

जैन धर्म की अवनति दशा में उत्तरी भारत में बौद्धधर्म का विस्तार ही हो रहा था। महायान से तंत्र तथा वज्रयान का विकास होता गया। इस परिवर्तन को कलाकारों ने ललितकला में भी प्रदर्शित किया था। जितनी प्रतिमाएँ मिली हैं प्रायः सभी (खड़ी या बैठी) दोहरे कमलासन पर दिखलाई पड़ती हैं जो पूर्व मध्यकाल की विशेषता है। महायान के देवगण का विकास हिन्दू मत के प्रभाव से होता गया। शाक्त मत के कारण बौद्ध मूर्ति कला में प्रत्येक देव का सम्बन्ध किसी विशिष्ट देवी से स्थिर किया गया। इसीलिए महायान मतानुयायियों ने विश्व का आरम्भ आदि बुद्ध तथा उसकी शक्ति प्रज्ञापारमिता से माना है। उसी से पंचध्यानी बुद्ध (पंचतथागत) वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ तथा अमोघसिद्धि का जन्म हुआ। उनकी पांच रंग की देवियां थीं जिन्हें तारा के नाम से पुकारते हैं। उसी प्रकार स्वर्ग से संसार में आने वाले पाँच बुद्ध की कल्पना की गई थी जिनकी संज्ञा बोधिसत्व से दी जाती है; और पांच मानुषी बुद्ध (मनुष्य के रूप में) भी महायान के देवता माने गये हैं। वर्तमान युग ध्यानी बुद्ध अमिताभ का समय माना जाता है जिनके संसार के कल्याणकारक बोधिसत्व को (लोकनाथ) अवलोकितेश्वर कहते हैं। गौतम (शाक्य सिंह) को मानुषी बुद्ध कहते हैं। उत्तरी भारत में बोधिसत्व की अनेक प्रतिमाएँ मिलती हैं जो ललितासन की अवस्था में अथवा कार्योत्सर्ग (खड़े) ढंग से दोहरे कमल पर दिखलाई गई हैं। अवलोकितेश्वर की सुन्दर प्रतिमा ढाका से मिली है जो ११वीं सदी की बतलाई जाती है। मूर्ति ललितासन में दिखलाई गई है जिसके प्रभामण्डल पर पंचतथागत की बैठी मूर्तियाँ छोटे रूप में खुदी हैं। दोनों हाथों में कमल नाल वर्तमान है। दाहिनी ओर तारा की मूर्ति है। नीचे दानकर्ता तथा नृत्य करती हुई स्त्री प्रतिमा बनी है। हिन्दू मूर्तियों की तरह लोकेश्वर की प्रतिमा छः भुजावाली भी मिलती है जिसके हाथों

बौद्ध प्रतिमा

में हिन्दू प्रतीक-पाश, त्रिशूल, अक्षमाला तथा कमण्डलु वर्तमान हैं। अन्य प्रकार की लोकेश्वर मूर्ति भी बंगाल में मिली हैं जिन पर वैष्णव प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

इनके अतिरिक्त वज्रयान देवगण में जम्भल को प्रधान स्थान दिया गया है। इसे ब्राह्मण देवता धन कुबेर का बौद्ध देवता मानते हैं। कुबेर तथा हारिती के सदृश पुरुष और स्त्री की प्रतिमाएं ललितासन ढंग से बनी हैं। बाईं ओर एक छोटा बच्चा दिखलायी पड़ता है। यहां हिन्दू कुबेर मूर्ति की तरह वामन आकृति तथा बड़े पेट का अभाव है। बंगाल में ११वीं तथा १२वीं सदी की सुन्दर जम्भल की मूर्तियाँ मिली हैं जिसकी व्यापक ढंग से पूजा होती थी। वज्रयान के कारण तारा देवी की कई नामों और अनेक ढंग से मूर्तियाँ बनने लगी थीं। वज्रतारा, भृकुटीतारा, श्यामतारा आदि आदि। प्रस्तर के अतिरिक्त कांस्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं। प्रतिमा की प्रभावली में बौद्ध मूर्ति की उपस्थिति से तारा देवी की मूर्ति निश्चित की जाती है। तारा की मूर्तियाँ तीन मुख वाली, छः भुजी या अष्टभुजी मिली हैं। सातवीं सदी से ही वज्रयान का प्रचार भारत से बाहर होने लगा था, इस कारण तत्सम्बन्धी मूर्तियाँ भी उस देश—नेपाल, तिब्बत तथा चीन—में पहुंच गईं। नेपाल तथा तिब्बत में स्वतंत्र रूप से भी उनकी प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। पिछली सदियों में बुद्ध धर्म में हेवज्र नाम की देवमूर्ति मिलती हैं जिसका तिब्बत में प्रधान स्थान था। आठ मुखों तथा सोलह भुजाओं वाली हेवज्र की प्रतिमा पहाड़पुर से मिली है और उसकी शक्ति भी साथ में दिखलाई पड़ती है। शाक्त मत का केन्द्र बंगाल था इस कारण वज्रयान सम्बन्धी प्रतिमाएं अधिकतर यहीं मिलती हैं।

धातु प्रतिमा

प्रस्तर के अतिरिक्त बौद्ध प्रतिमाएँ धातु में भी ढाली जाती थीं। ८वीं सदी से धातु मूर्तियाँ अधिक लोकप्रिय हो गईं। पाल शासन-काल में नालंदा इसका केन्द्र था जहाँ कांस्य या ताम्र मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं। तारा, हेवज्र तथा वागीश्वरी की धातु मूर्तियाँ बंगाल से भी मिली हैं। इसी का प्रचार नेपाल, तिब्बत तथा जावा में भी हुआ जहाँ पर वज्रयान की धातु प्रतिमाएं बनने लगीं।

मिट्टी की मूर्तियाँ

मध्यकाल में प्रस्तर तथा धातु के अतिरिक्त मिट्टी की भी मूर्तियाँ



अवलोकितेश्वर [पृ० १६८

बनने लगी थीं। मृण्मयी प्रतिमा ग्रामीण कला के नमूने हैं। भारत में सदा से मिट्टी की आकृतियाँ बनती आ रही हैं। यद्यपि उनकी सुन्दरता की समता प्रस्तर मूर्तियों से नहीं की जा सकती, तो भी ललितकला में मृण्मयी मूर्तियों का अपना स्थान है। सर्वसाधारण लोग धार्मिक भावना को इनके द्वारा अभिव्यक्त करते रहे। पूर्वमध्य युग से पंचदेवों की पूजा उत्तरी भारत में फैली थी, इस कारण ग्रामीण कलाकार मिट्टी से भी पंचदेव की आकृतियां तैयार करने लगे। उत्तरप्रदेश के अहिक्षत्र से विष्णु, सूर्य, गणेश तथा महिषमर्दिनी दुर्गा की मृण्मयी मूर्तियां मिली हैं। ८वीं सदी के पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) नामक स्थान से कृष्ण, गणेश तथा विभिन्न पशुओं की मूर्तियां प्राप्त हो सकी हैं। मिट्टी की मूर्तियों में देवताओं के अतिरिक्त खिलौने भी पर्याप्त संख्या में मिले हैं।

हिन्दू प्रतिमाओं को छोड़कर बंगाल के कलाकार बुद्ध की मिट्टी की प्रतिमा तैयार किया करते थे। इत्सिंग ने इस बात की चर्चा की है कि समतट में लाखों बुद्ध की मृण्मयी प्रतिमाएं बनती थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न स्थानों में प्रचलित मत के अनुकूल मिट्टी की मूर्तियाँ बनती रहीं। मथुरा तथा राजघाट की खुदाई में ऐसी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं जिनका चेहरा अभारतीय है। उनको विदेशी आकृतियाँ मान सकते हैं, परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इस पर विदेशी कला का प्रभाव था। मिट्टी की मूर्तियों से सामाजिक इतिहास के निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। उनसे तत्कालीन पहनावे तथा अलंकरण का ज्ञान सरलता से हो जाता है। यह सदा ध्यान रक्खा जाता था कि मिट्टी की मूर्तियों में तत्कालीन ढंग को ही अपनाया जाय। इसलिए ग्रामीण कला का प्रतिनिधि होने पर भी ललितकला सम्बन्धित बातों का ज्ञान मिट्टी की मूर्तियों से हो जाता है। इसी कारण कला के नमूने इनमें भी ढूंढ़े जाते हैं।

चित्रकला

भारतीय चित्रकला धार्मिक तथा लौकिक विषयों को लेकर चली थी। अजंता के भित्ति-चित्रों में भारतीय सभ्यता के विभिन्न स्वरूप तथा राजा और प्रजा के निवास-स्थान में प्रचलित लौकिक बातों का प्रदर्शन किया गया है। भारतीय चित्रकला का स्वर्ण-युग अजंता से समाप्त हो जाता है। इन राष्ट्रीय चित्रों का प्रभाव भारत से बाहर मध्य एशिया, बर्मा, सिंहल तथा चीन आदि देशों में भी फैला। अजंता में बुद्ध तथा उनकी जीवन लीलाओं

का समुचित रूप से प्रदर्शन मिलता है। यह शैली भारत में ७वीं सदी तक प्रचलित रही। भारतीय शिल्प शास्त्र के अनुसार यह आवश्यक समझा गया कि मंदिरों की दीवालों को चित्रों से विभूषित किया जाय। अतएव अन्य स्थानों की तरह बंगाल में भी भित्तिचित्र बनाए गए जिसका आजकल पता नहीं चलता। जो चित्र बच गये हैं वे ताड़पत्र के हस्तलिखित ग्रन्थों में वर्तमान हैं। ८वीं सदी के बाद भित्तिचित्र के स्थान पर छोटी आकृतियाँ बनने लगीं जिसका प्रधान कार्य हस्तलिखित ग्रंथों का प्रकाशन था। पाल युग में इस प्रकार की बुद्ध तथा बौद्ध देवताओं की आकृतियाँ ग्रंथों में मिलती हैं। ११वीं तथा १२वीं सदी के बाद पाल ढंग के चित्र पश्चिम भारत में भी बनने लगे थे जो जैन शैली या पश्चिम भारतीय स्कूल के नाम से पुकारे जाते हैं। इनका मुख्य ध्येय देवता की अर्चना थी जो महायान मत के कारण बौद्धधर्म में आई। तत्कालीन ताड़पत्र पर खचित चित्र मिले हैं जिनमें 'प्रज्ञापारमिता' को मुख्य माना जाता है। करण्ड-व्यूह तथा बोधि चर्यावतार दूसरे स्थान पर रक्खे जाते हैं। इन चित्रों की आकृतियां तंत्र-यान देवगण से सम्बन्ध रखती हैं। तंत्रदेवता लोकनाथ, अमिताभ, मैत्रेय, वज्रयावी तथा देवीतारा आदि के चित्र उन ग्रंथों में बने हैं। अनेक वज्रयान के देवगण इन्हीं चित्रों के सहारे ज्ञात किए जाते हैं। कुछ छोटे चित्रों में जातक कथाएँ भी चित्रित हैं। वे ग्रंथ बंगाल के बाहर बिहार तथा नेपाल से प्राप्त हुए हैं। इन चित्रों में किसी पृथक् शैली का उपयोग नहीं किया गया था। भित्तिचित्र के ढंग पर ही कार्य किया गया है। उनके द्वारा हस्तलिखित ग्रंथों के विषय को चित्रित नहीं किया गया वरन् स्वतंत्र रूप से मंदिरों में स्थापित देवी देवताओं के चित्र तैयार किये गए हैं। विषय तथा चित्र से कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखलायी पड़ता।

सब से प्रथम उन चित्रों के बाहरी आकार काले रंग में खींचे जाते थे और बाद में रंग भर दिया जाता था। सफेद, नीला, लाल, हरा, पीला आदि तेज रंगों का प्रयोग किया गया है। चित्रों के मध्य में मुख्य देवता रहते हैं और मण्डल में अन्य आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। खाली जगह को पत्रपुष्प अलंकार से भर दिया जाता था अथवा विद्याधर चित्रित किये जाते थे। इन्हें ललितकला से पूर्णतया सम्बन्धित पाते हैं और अजंता की परम्परा छोटे रूप में वर्तमान है। कुछ चित्रों में पाल शैली की मूर्तिकला का प्रतिरूप मिलते हैं। पाल युग की त्रिभंगी मूर्तियों के सदृश हस्तलिखित ग्रंथों के चित्र

मिले हैं। तात्पर्य यह है कि चित्र पाल तथा सेन मूर्ति-कला के समकालीन खींचे गये थे। जिन पर प्राचीन चित्र शैली का प्रभाव तथा तक्षण कला के सदृश होने पर भी चेहरों में कुछ लम्बाई आ गई है। उनकी नाक पक्षी के टोंट की तरह नुकीली है तथा आंखों में गोलाई के साथ लम्बाई दिखलाई पड़ती है। भौंहें धनुष की तरह गोल हैं। लकीरों से ही इतने सुन्दर चित्र तैयार किये गये हैं जो अपना विशेष स्थान रखते हैं। पाल युग की तरह गुजराती शैली में अनेक चित्र मिले हैं जो मध्ययुग के अन्त तक बनते रहे। प्रत्येक चित्र में कोण युक्त आकृति है। नुकीली नाक, उभरी हुई आंखें, धनुष की तरह भौंहें और अलंकारों की विशेषता है। जैन पुस्तकों में काफी चित्र हैं। हिन्दू ग्रंथों में गीतगोविंद विशेष उल्लेखनीय है। हस्तलिखित ग्रंथों के बीच सीमित स्थान में चित्र तैयार कर कलाकार अपनी निपुणता को व्यक्त करते रहे। चित्र दीवाल से ताड़पत्र पर आ गया जिस कारण बड़ी आकृतियों का चित्रण बंद-सा हो गया।

ंगीत

पूर्व-मध्यकालीन वैज्ञानिक ग्रंथों में संगीत शास्त्र का नाम आता है। उस समय संगीत में—गान, वाद्य तथा नृत्य—तीनों 'अंगों' पर जोर दिया जाता था। नाफर नाम की एक पुस्तक अरबी में मिली है जिसका सम्बन्ध नाद से बतलाया जाता है। संगीत के विभिन्न वाद्यों का ज्ञान मूर्तियों के देखने से पता लग जाता है जहां अनेक ढंग के वाद्य का प्रयोग दिखलाई पड़ता है। प्रस्तर तथा मिट्टी की मूर्तियों में प्रसंगवश तरह-तरह के बाजे बनाए जाते थे। मृदंग, झाल, बांसुरी आदि के साथ एकतारा का बहुत प्रचार था। अनेक प्रस्तर प्रतिमाओं के समीप आधार पर या दोनों ओर नाचती हुई आकृतियां मिलती हैं। पहाड़पुर की खुदाई से नाचती हुई स्त्री की मृण्मयी मूर्ति मिली है। पाल युग में ताण्डव नृत्य करते शिव की धातु प्रतिमा मिली है जिसके आधार पर भारत में नृत्यकला का विकास समझा जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक उत्सवों पर संगीत का आयोजन किया जाता था। इसलिये उनका प्रदर्शन प्रस्तरों पर किया गया है। पूर्व मध्यकालीन प्रतिमाओं के देखने से सं ात क चार का ज्ञान हो जाता है।

चौथा अध्याय

शिक्षा तथा साहित्य

भारतीय साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्यकाल का युग एक विशेष स्थान रखता है। शासकों तथा तत्कालीन विद्वानों का ध्यान साहित्य की श्री वृद्धि की ओर लगा था। यद्यपि एकछत्र राज्य की कल्पना फलीभूत न हो पायी तथापि अपने छोटी सीमा में ही राजा कवियों तथा लेखकों को आश्रय देकर साहित्य-सृजन में सहायता पहुंचाते रहे। कुछ शासकों ने स्वयं लेखनी उठा कर साहित्य की अभिवृद्धि की तथा शिक्षा के प्रसार में तन, मन और धन लगाया था। यह ऐसा युग था जब भारत क्या, उससे बाहर भी साहित्य का प्रसार किया गया और अनेक ग्रंथ अनूदित किए गए। भारतीय पंडितों ने नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया तथा चीन में साहित्य को प्रसारित किया। उसी का फल है कि भारतीय साहित्य के कुछ अमूल्य रत्न उन देशों में मिलते हैं जिनको मुसलमानों ने भारत में नष्ट कर दिया था। पूर्व-मध्यकालीन साहित्य को चार उपविभागों में बाँट दिया गया है—संस्कृत, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा धार्मिक साहित्य। इन्हीं का विवरण अगले पृष्ठों में क्रमशः मिलेगा।

संस्कृत साहित्य

१—भारवि

संस्कृत साहित्य में अलंकृत महाकाव्य शैली के जन्मदाता महाकवि भारवि माने जाते हैं। इन्होंने महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' लिखकर उस काव्य-पद्धति का मार्ग दिखलाया जिसका अनुसरण माघ तथा श्रीहर्ष आदि प्रसिद्ध कवियों ने बाद में किया। भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे तथा दण्डी के पूर्व पुरुष दामोदर भट्ट से इनकी गहरी मित्रता थी। भारवि दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभा पण्डित थे। चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय का एक शिलालेख 'अयहोड़' ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है। उसमें कालिदास के साथ भारवि का नाम निर्दिष्ट है[1]।

१—येनायोजिन वेश्म स्थिरमर्थ्यविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रवि कीर्तिः कविताश्रित कालिदासभारविकीर्तिः॥

इस शिलालेख का समय ईसवी सन् ६३४ है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय तक ये प्रसिद्ध हो चुके थे। भारवि का आश्रयदाता विष्णुवर्धन महाराज पुलकेशी द्वितीय का अनुज था। वह ६१५ ई० के लगभग महाराष्ट्र प्रान्त में, अपने भाई की आज्ञा से, राज्य करता था। इस प्रकार भारवि का समय ६०० ई० के आसपास स्थिर होता है।

भारवि का एकमात्र ग्रन्थ 'किरातार्जुनीय' है जो इनकी कीर्ति-कौमुदी को प्रकाशित रखने के लिये पर्याप्त है। संस्कृत की 'वृहत्त्रयी' में इसका प्रथम स्थान है। इस ग्रन्थ में १८ सर्ग हैं। इस ग्रन्थ का कथानक महाभारत से लिया गया है। अर्जुन जब इन्द्रकील पर्वत पर अस्त्र प्राप्त करने के लिये तपस्या कर रहे थे तब किरात वेषधारी भगवान् शंकर के साथ इनका युद्ध हुआ। इसी युद्ध का रोचक वर्णन इस काव्य में है। अन्त में शिवजी अर्जुन की तपस्या तथा वीरता से प्रसन्न होते हैं और उन्हें पाशुपत अस्त्र प्रदान करते हैं।

भारवि की कविता अपने अर्थ-गौरव के लिये प्रसिद्ध है[१]। थोड़े से शब्दों में अधिक अर्थ को प्रकट करना अर्थ गौरव की पहचान है। भारवि ने अपनी कविता में इसे भली भांति निभाया है। श्लेषालंकार का आश्रय लेकर इन्होंने 'गागर में सागर' भरने का प्रयत्न किया है और वे इस कार्य में सफल हुए हैं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन इन्होंने बड़ा रमणीय किया है[२]। इनका रैवतक पर्वत और शरद् ऋतु का वर्णन संस्कृत साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। भारवि चित्रकाव्य लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। इस कला को इन्होंने कहीं कहीं पर पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। एक स्थान पर तो सारे श्लोक में 'न' वर्ण को छोड़ कर दूसरे किसी वर्ण का प्रयोग ही नहीं किया गया है[३]। श्लेष तथा चित्रकाव्य के कारण इनकी कविता अत्यन्त क्लिष्ट हो गई है। इसीलिए इनके टीकाकार मल्लिनाथ ने इनकी कविता को नारिकेल फल के समान बतलाया है[४]। भारवि वंशस्थ छन्द लिखने में बड़े निपुण थे। क्षेमेन्द्र ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है[५]।

१—भारवेरर्थ गौरवम्।

२—किरातार्जुनीय सर्ग ४

३—किरातार्जुनीय सर्ग १५।१४

४—नारिकेलफल सन्निभं वचो भारवेः।

५—वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकी कृता॥

भारवि संस्कृत साहित्य के प्रथम महाकवि हैं जिन्होंने अलंकृत महाकाव्य की पद्धति को जन्म दिया। इस पद्धति में अलंकारों के द्वारा ऋतु-वर्णन, जल-क्रीड़ा, रतिक्रीड़ा तथा पानगोष्ठी के वर्णन का विधान पाया जाता है। यह पद्धति संस्कृत के कवियों को इतनी अधिक रुची कि अन्य कवियों ने इन्हीं का अनुकरण किया है। माघ के 'शिशुपाल-वध' में भारवि का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'नैषध चरित' के कर्त्ता श्री हर्ष भी इनसे प्रभावित हैं। इस प्रकार महाकाव्य के इतिहास में 'अलंकृत शैली' के उद्भावक होने के कारण भारवि का नाम अमर है।

२—भट्टि

संस्कृत साहित्य में महाकवि भट्टि का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने 'शास्त्र-काव्य' लिखने की परिपाटी चलाई। 'शास्त्र-काव्य' उसे कहते हैं जिसमें काव्य के साथ साथ व्याकरण के प्रयोगों का भी पूरा परिचय पाठकों को मिल जाय।

महाकवि भट्टि वलभी के राजा श्रीधर सेन के सभापण्डित थे जिसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थ में किया है[१]। वलभी के राजाओं में 'श्रीधर सेन' नामक चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है जिनमें श्रीधर सेन द्वितीय के द्वारा भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान देने का उल्लेख ६१० ई० के एक शिलालेख में मिलता है। इसके अनुसार इनका समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है।

महाकवि भट्टि का एकमात्र काव्य-ग्रन्थ 'रावण बध' है जो अपने रचयिता के नाम पर 'भट्टि काव्य' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। इसमें २० सर्ग और लगभग ३५०० श्लोक हैं। इसमें रामचन्द्र का जीवन चरित्र विस्तार से वर्णित है। इस ग्रन्थ को लिखने में कवि का लक्ष्य यह था कि व्याकरण के आवश्यक प्रयोगों से पाठक परिचित हो जायँ। इसी कारण इन्होंने स्वयं अपने काव्य के विषय में कहा है कि व्याकरण जानने वालों के लिए तो यह दीपक के समान है परन्तु दूसरों के लिए अन्धे के हाथ की आरसी की भाँति है[२]। भट्टिकाव्य की रचना व्याकरण तथा अलंकार शास्त्र के

१—काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेन नरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।

२—दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं, शब्दलक्षण चक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते।।

तत्त्वों को समझाने के लिये की गई थी। उदाहरण रूप होने के कारण, काव्य कला की दृष्टि से, कवि को विशेष सफलता नहीं मिली।

३—माघ

यह सौभाग्य का विषय है कि महाकवि माघ के जीवन वृत्त के संबंध में हमें कुछ वृत्तान्त प्राप्त होता है। कविवर माघ का जन्म एक प्रतिष्ठित तथा धनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके पितामह का नाम सुप्रभदेव था जो गुजरात के शासक महाराज वर्मलात के प्रधान मन्त्री थे। इनके पिता दत्तक थे जो अपनी विद्वत्ता और दानशीलता के लिए विशेष विख्यात । माघ का जन्म गुजरात के प्रसिद्ध नगर भीनमाल में हुआ था। इनके पितामह के आश्रयदाता महाराज वर्मलात् का एक शिलालेख राजपूताने के वसन्तपुर में मिला है। इसका समय ६८२ विक्रमी (६२५ ई०) है[१]। अतः माघ का समय इससे ५० वर्ष और आगे, ६७५ ई० के आस-पास, मानना उचित होगा।

महाकवि माघ की कीर्तिलता एकमात्र 'शिशुपाल वध' महाकाव्य पर आश्रित है। यह ग्रन्थ अपने रचयिता के नाम पर 'माघ' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आये हुए चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस महाकाव्य में २० सर्ग और १६५० श्लोक हैं। ऋतु, पर्वत, समुद्र, प्रभात तथा सन्ध्याकाल आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में माघ ने अपनी काव्य-प्रतिभा का खास चमत्कार दिखलाया है। अलंकारों की छटा देखते ही बनती है। विशेषकर श्लेषालंकार के प्रयोग में माघ सिद्धहस्त हैं। एक पूरे सर्ग में चित्रालंकार का सन्निवेश किया गया है।

संस्कृत साहित्य में कालिदास अपनी कमनीय उपमा के लिये भारवि अपने अर्थगौरव के लिए और दण्डी कोमल पद-लालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु माघ की कविता में ये तीनों गुण हैं[२]। महाकवि माघ के आगे भारवि का आदर्श विद्यमान था। अतः इनकी कविता पर भारवि का प्रचुर प्रभाव दीख पड़ता है। प्रायः प्रत्येक विषय में इन्होंने भारवि का अनुकरण

१—द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशत्तोत्तरे।
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुङ्गवैः॥

२—उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

किया तथा अपनी उत्कृष्ट कविता के द्वारा उनको मात करने में कुछ उठा नहीं रखा है। माघ वैष्णव थे। इन्होंने विष्णु विषयक महाकाव्य की रचना की है और अपने ग्रन्थ को "लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्र चारु" लिखा है।

माघ केवल महाकवि ही नहीं थे प्रत्युत प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। इनकी टक्कर का विद्वान् कवि संस्कृत साहित्य में संभवतः दूसरा नहीं है। इन्होंने वेद, शास्त्र, पुराण, दर्शन आदि सभी विषयों का गंभीर अध्ययन किया था। वेद विषयक इनका ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है तथा हवन कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है[१]। वैदिक स्वरों की विशेषता भी इनको भलीभाँति ज्ञात थी। राजनीति, योगशास्त्र तथा दर्शन के ये प्रकाण्ड पण्डित थे जिसका पता हमें इनके काव्य से चलता है संगीत शास्त्र में भी इनका गहरा प्रवेश था। इन्होंने संगीत शास्त्र के अनेक स्वरों का उल्लेख किया है[२]।

माघ की शैली को 'अलंकृत शैली कहना अधिक उपयुक्त होगा। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलंकृत भाषा में प्रकट किया गया है। इनकी शैली में समासों की बहुलता, विकट वर्णों की 'उदारता', और गाढ़ बन्धों की मनोहरता विशेष रूप से पाई जाती है। इनकी भाषा कोमल होते हुए भी गंभीर भावों से युक्त है।

४—रत्नाकर

काश्मीर कवियों में महाकवि रत्नाकर का नाम सर्वश्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में सबसे बड़े, विशालकाय महाकाव्य लिखने का श्रेय आप ही को प्राप्त है। आपकी रचना बड़ी ललित और मधुर है, परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि गुण होने पर भी अन्य कवियों की भाँति आपको वह लोक-प्रसिद्धि नहीं मिली जो मिलनी चाहिए थी। इनके पिता का नाम अमृतभानु था। ये 'बाल-बृहस्पति' की उपाधि धारण करने वाले काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड़ (८०० ई०) के सभापण्डित थे। इस बात का उल्लेख

१—शिशुपाल बध ११।४

२—श्रुति समधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सतत ऋषभहीनं भिन्नवीकृत्य षड्जम्।
पुणि जगदुरकाकु श्रावक स्निग्ध कण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधाः माधवाय॥११।१

इन्होंने अपने को "बालबृहस्पत्यनुजीविनः" लिखकर किया है। ये दीर्घजीवी थे, क्योंकि कल्हण ने अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के राज्यकाल में इनके प्रसिद्धि प्राप्त करने की घटना का उल्लेख किया है[1]। अतः इनका आविर्भाव काल नवम शताब्दी का प्रथमार्ध समझना चाहिए।

रत्नाकर के महाकाव्य का नाम 'हरविजय' है। यह संस्कृत महाकाव्यों में, परिमाण की दृष्टि से, सबसे बड़ा है। इसमें पूरे ५० सर्ग हैं और सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या ४३२१ है। इसमें वसन्ततिलका छन्द की अधिकता है जिसके लिखने में रत्नाकर सिद्धहस्त थे। महाकवि क्षेमेन्द्र ने इनके 'वसन्ततिलका' की बड़ी प्रशंसा की है[2]। रत्नाकर के समय में महाकवि माघ की बड़ी ख्याति थी। उनके काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया था। जिस प्रकार माघ ने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्र चारु' (अर्थात भगवान् कृष्ण के चरित्र कीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूलचरिताश्रय–चारु' लिखा है।

इस महाकाव्य का कथानक शंकर भगवान् के द्वारा अन्धक असुर का बध करना है जो अत्यन्त स्वल्प है परन्तु कवि ने इसे अलंकृत परिष्कृत तथा सुन्दर बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा है। जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, समुद्र, प्रसाधन, विरह तथा पानगोष्ठी के वर्णन में पूरे १५ सर्ग लगाये गये हैं। भाषा के सौन्दर्य में, ललितपदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में तथा सुन्दर भावों के विधान में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इन सब कारणों से यह जान पड़ता है कि इनकी गर्वोक्ति केवल गर्व में आकर कही गई उक्ति नहीं है, परन्तु सत्य उक्ति है[3]।

१—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

२—वसन्ततिलकारूढ़ा वाग्वल्ली गाढ़सङ्गिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने॥—सुवृत्ततिलक

३—ललित मधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहराः
विकट यमक श्लेषोद्धारप्रबन्धनिरर्गलाः॥
असदृश गतिश्चित्रे मार्गे ममोदिगरतो गिरो,
नखलु नृपते चेतो वाचस्पतेरयि शङ्कते॥

५—शिवस्वामी

शिवस्वामी संस्कृत महाकाव्य के रचयिताओं में उच्च पद के अधिकारी हैं परन्तु इनकी कीर्ति का प्रसार न होने का कारण इनके ग्रन्थ की अनुपलब्धि थी। सन् १८९३ ई० में श्री शेषगिरि शास्त्री ने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इनके 'कप्फिणाभ्युदय' काव्य का सर्वप्रथम उल्लेख किया था। हर्ष का विषय है कि पं० गौरीशंकर जी के सम्पादकत्व में पंजाब विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ-रत्न को प्रकाशित किया है[1]। विद्वान् सम्पादक ने बड़ी खोज के साथ इस ग्रन्थ का विशुद्ध संस्करण निकाल कर इसका उद्धार किया है तथा संस्कृत समाज का बड़ा उपकार किया है।

शिवस्वामी काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम भट्टार्कस्वामी था। ये स्वयं शैवमतावलम्बी थे परन्तु चन्द्रमित्र नामक एक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा से उन्होंने बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान को लेकर अलंकृत महाकाव्य रूप में गुम्फित किया। 'राजतरंगिणी' से पता चलता है कि इनका उदय काश्मीर के विख्यात नरेश अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के राज्य काल में हुआ था[2]। शिवस्वामी आनन्दवर्धन और रत्नाकर के समसामयिक थे। काश्मीर के इतिहास में यह काल साहित्य और कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'सुवर्णयुग' माना जाता है। किसी कारण शिवस्वामी का यह बौद्ध काव्य विस्मृत-प्राय हो गया था परन्तु प्राचीनकाल में इसकी पर्याप्त ख्याति थी।

इनके महाकाव्य का नाम 'कप्फिणाभ्युदय' है। बौद्ध साहित्य में कप्फिण का आख्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध है। 'कप्फिण' दक्षिण देश (लीलावती) के राजा थे। किसी कारण इन्होंने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित पर चढ़ाई की और उन्हें परास्त कर दिया। प्रसेनजित् ने भगवान बुद्ध का ध्यान किया जिससे प्रकट होकर उन्होंने कप्फिण को पराजित कर दिया। अन्ततोगत्वा यह राजा बुद्ध की शरण में गया। इसी कथानक का वर्णन शिवस्वामी ने २० सर्गों में, अनेक छन्दों में, किया है। कथा को अलंकृत तथा विस्तृत करने के लिये स्थान-स्थान पर मलय पर्वत, षट् ऋतु, कुसुमावचय,

---

१—पंजाब विश्वविद्यालय सीरीज नं० २६ (१९३७), लाहौर

२—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

जलक्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रभात और शृंगारिक क्रीड़ा का वर्णन किया गया है।

शिवस्वामी सचमुच एक महान् प्रतिभासम्पन्न कवि थे। शैवमतावलम्बी होते हुए भी एक बौद्ध कथानक पर कविता करना इनकी सहिष्णुता और उदार हृदयता का सूचक है। इन्होंने अपने को अनेक कथाओं का ज्ञाता चित्रकाव्य का उपदेष्टा 'यमक' कवि कहा है[1]। इन्होंने अपने काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का प्रयोग किया है। इनका प्राकृत ज्ञान भी प्रगाढ़ है। वस्तुतः ये श्रेष्ठकोटि के महाकवि थे।

६—क्षेमेन्द्र

संस्कृत के कवियों में क्षेमेन्द्र का स्थान अद्वितीय है। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाई है। संभवतः इनके समान महान् लेखक दूसरा नहीं है। शायद महाभारत प्रणेता वेदव्यास के बाद, रचना की विपुलता को ध्यान में रखते हुए, दूसरा स्थान आप ही को देना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार व्यास जी ने लोकोपकार के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की उसी प्रकार इन्होंने भी नीति तथा शिक्षा देने वाले कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। संभवतः इन्हीं कारणों से ये अपने को 'व्यासदास' लिखा करते थे[2]।

क्षेमेन्द्र काश्मीर के एक धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह का नाम 'सिन्धु' तथा पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। इन्होंने अपने पिता के बारे में लिखा है कि वे मेरु के समान उदार और कल्याणप्रद सम्पत्ति से युक्त थे तथा उनके घर में असंख्य ब्राह्मण भोजन किया करते थे[3]।

१—विदित बहुकथार्थश्चित्रकाव्योपदेष्टा
यमक कविरगम्यश्चारु सन्दानभानी।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठ प्रचारो
जयतिकविसदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः ॥२०।४७

२—इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः कथामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यत-माभिधेन, क्षेमेन्द्रनामा हि विहितः स्ववाग्रयः ॥
—दशावतार चरित १०।४१

३—यस्य मेरोरिवोदार कल्याणपूर्ण संपदः।
अगणेयमभूद गेहे यस्यभोज्यं द्विजन्मनाम्।
—बृहत्कथा मञ्जरी १९।६२

क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त से साहित्यविद्या पढ़ी थी।[1] ये काश्मीर के राजा अनन्त (१०२८–१०६३ ई०) और कलश (१०६३–१०८९ ई०) के राज्यकाल में विद्यमान थे। इस प्रकार इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्यकाल समझना चाहिए।

इन्होंने अनेक विपुलकाय ग्रन्थों की रचना की है जिनमें प्रधान हैं—(१) रामायण मञ्जरी, (२) भारत मञ्जरी और (३) वृहत्कथा मञ्जरी; ये तीनों ग्रन्थ रामायण, महाभारत तथा गुणाढ्य की वृहत्कथा के कवित्वमय सारांश हैं। (४) दशावतार चरित—इनका नितान्त प्रौढ़ महाकाव्य है। (५) बोधिसत्वावदान कल्पलता में बौद्ध जातक की कथाओं का बड़े सुन्दर तथा सुबोध पद्यों में वर्णन है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने (६) कला-विलास, (७) चतुर्वर्ग संग्रह, (८) चारुचर्या, (९) नीतिकल्पतरु तथा (१०) समय मातृका आदि की रचना की है।

क्षेमेन्द्र की भाषा बड़ी ही मधुर, सरस और सुबोध है। इनकी कविता में न तो कहीं पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न शब्द-चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास है। भाषा में प्रवाह है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीख पड़ता। इन्होंने सच्चा कवि-हृदय पाया था। साथ ही इनको संसार का विशिष्ट अनुभव भी था जिसका प्रमाण इनके नीति-ग्रन्थ हैं। वस्तुतः नीति और काव्य का एकत्र समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

७—मङ्खक

मङ्खक ने 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य की रचना की है जिसमें भगवान शंकर और त्रिपुर के युद्ध का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में है। अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९–५० ई०) के सभापण्डित थे।

'श्रीकण्ठ चरित' में २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है परन्तु महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोला, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय,

१—श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः ।
आचार्यशेखरमणेः विद्या-विवृतिकारिणः ॥

वही १९।३७

तथा पानकेलि का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के २५ वें सर्ग में तत्कालीन काश्मीर के कवियों का साहित्यिक वर्णन है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इनकी कविता में पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना और भक्ति का उद्रेक पाया जाता है। इन्होंने सूक्तियों का प्रयोग बड़ी सुन्दर रीति से किया है जो पढ़ते ही बनता है।

८—श्रीहर्ष

संस्कृत के महाकवियों में श्रीहर्ष का नाम बहुत प्रसिद्ध है। बृहत्त्रयी में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'नैषध चरित' के रचयिता के रूप में इनकी कीर्ति विख्यात है। ये कवि होने के साथ ही प्रकाण्ड दार्शनिक भी थे। इनकी विद्वत्ता की छाप इनकी कविता पर स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यह हर्ष का विषय है कि इन्होंने अपना थोड़ा-सा परिचय अपने ग्रन्थ में दिया है। श्रीहर्ष के पिता का नाम हरि और माता का मामल्लदेवी था[1]। कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था। इन्होंने बड़े गर्व के साथ कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के दो बीड़े मिलने की बात लिखी[2] है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा के राजपण्डित थे। संभवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिनों तक रहे होंगे, क्योंकि उन्हीं के नाम पर इन्होंने अपनी 'विजय-प्रशस्ति' लिखी थी[3]। काश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[4]। विजय चन्द्र तथा जयचन्द्र ने सन् ११५६ से ११९३ ई० तक राज्य किया। अतः श्रीहर्ष का आविर्भाव काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

श्रीहर्ष की प्रतिभा बहुमुखी थी। ये केवल सरस महाकवि ही नहीं थे प्रत्युत एक उद्भट दार्शनिक भी थे। जिस प्रकार ये कोमलकान्त पदावली से युक्त कविता लिखने में दक्ष थे उसी प्रकार ये न्याय की तर्क कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी प्रवीण थे। इनका ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य'

१—श्री हर्ष कविराज राजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवीच यम्॥

२—ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।
—२२ सर्ग—अन्तिम श्लोक

३—तस्य श्री विजय प्रशस्तिरचनातातस्य। ....(सर्ग ५)

४—काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा—(१६।१३१)

वेदान्त का चूडान्त ग्रन्थ है। इन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार सुकुमार साहित्य में मेरी बुद्धि चलती है उसी प्रकार कठोर तथा शुष्क न्याय की ग्रन्थियों को सुलझाने में खेल करती है[1]। यह उक्ति गर्वोक्ति नहीं बल्कि सत्य उक्ति है।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से कुछ ग्रन्थ ये हैं:— (१) स्थैर्य-विचार-प्रकरण, (२) विजय प्रशस्ति, (३) खण्डनखण्डखाद्य, (४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, (५) अर्णव-वर्णन, (६) नवसाहसांक चम्पू और (७) नैषध चरित आदि। परन्तु इन ग्रन्थों में से केवल दो ही खण्डनखण्ड खाद्य और नैषध चरित प्रकाशित हैं।

'नैषधीय चरित' महाकाव्य श्रीहर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यह अलंकृत काव्यशैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें २२ लम्बे लम्बे सर्ग और २८३० श्लोक हैं। इसमें नल और दमयन्ती के विवाह का वर्णन है। इसकी कथा-वस्तु तो बहुत थोड़ी है परन्तु कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा के बल से इतना बड़ा रूप प्रदान किया है। श्रीहर्ष की शैली बड़ी सुन्दर, मधुर, कोमल परन्तु क्लिष्ट है। कवि ने लिखा है कि मैंने अपने ग्रन्थ को थोड़ा क्लिष्ट बना दिया है जिससे दुष्ट मनुष्य इस ग्रन्थ से खेल न करें[1]। आपने अपने ग्रन्थ को 'शृङ्गारामृतशीतगु:' (अर्थात् शृङ्गार रूपी अमृत के लिए चन्द्रमा के समान) कहा है जो अक्षरशः सत्य है। नई नई कल्पना के उपन्यास में, अलंकारों के विन्यास में तथा भावानुरूप भाषा के प्रयोग में श्रीहर्ष अपना सानी नहीं रखते। सच तो यह है कि इनके समान पण्डित कवि दूसरा नहीं। इसीलिए किसी कवि का यह कथन, कि नैषध के उदय होने पर माघ और भारवि की कौन गणना है, उचित प्रतीत होता है[2]।

ऐतिहासिक महाकाव्य

पाश्चात्य लोगों की धारणा है कि भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक

१—ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचिद् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञः मन्यमनाः हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
—नैषध २२

२—तावद् भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

ग्रन्थों का अभाव है। परन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल है। अशोक तथा गुप्त राजाओं के जो शिलालेख प्रकाशित हुए हैं उनके ऊपर दृष्टिपात करने से यह सहज में जाना जा सकता है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि कितनी अधिक थी। इन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्य भी उपलब्ध होते हैं जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं का जीवन चरित्र बड़े विस्तार के साथ लिखा है। ये महाकाव्य ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

९—पद्मगुप्त (परिमल)

संस्कृत साहित्य का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्क चरित' है जिसके रचयिता पद्मगुप्त या परिमल हैं। इस महाकाव्य में धारा नगरी के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज—जिनकी उपाधि नवसहसाङ्क थी—का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है। पद्मगुप्त सिन्धुराज के जेठे भाई राजा मुञ्ज—जिनकी उपाधि वाक्पतिराज थी—के सभाकवि थे। राजा मुञ्ज बड़े गुणग्राही और सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के बाद निराश्रित कवि पद्मगुप्त का सिन्धुराज ने बड़ा सम्मान किया जिसके फलस्वरूप कवि ने 'नवसाहसाङ्क चरित' लिखकर उनकी कीर्ति को अमर कर दिया। यह ग्रन्थ १००५ ई० के आस-पास लिखा गया था। इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसके १२वें सर्ग में सिन्धुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन किया गया है जिसकी सत्यता उन राजाओं के शिलालेखों से प्रमाणित हो चुकी है।

यह महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदर्भी रीति अपने पूरे शृंङ्गार के साथ इसमें प्रकट हुई है। प्रसाद गुण इसमें बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। कालिदास की कविता का जितना सफल अनुकरण इस महाकाव्य में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं।

१०—बिल्हण

बिल्हण के महाकाव्य का नाम 'विक्रमाङ्कदेव चरित' है जो बड़ा ही सुन्दर तथा सरस है। बिल्हण काश्मीर देश के निवासी थे। इनके पिता का नाम ज्येष्ठकलश और माता का नाम नागदेवी था। किसी योग्य आश्रयदाता की खोज में बिल्हण काश्मीर से चल पड़े और दक्षिण भारत के

कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। राजा ने इनका बड़ा स्वागत और सम्मान किया।

'विक्रमाङ्कदेव चरित' में इन्हीं विक्रमादित्य का जीवनचरित विस्तार से वर्णित है, साथ ही इनके पूर्वजों का भी उल्लेख है। ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में विल्हण ने बड़ी तत्परता दिखाई है। यह काव्य कल्याण या कल्याणी के चालुक्यों का इतिहास जानने के लिए परम उपयोगी है। इस काव्य में १८ सर्ग हैं जिनमें पूरा पहला सर्ग तो ग्रन्थ की भूमिका ही है। इनकी भाषा बड़ी मधुर, कोमल और सरल है। कवि ने वैदर्भी रीति का अनुसरण किया है। साथ ही माधुर्य और प्रसाद गुण का पर्याप्त पुट विद्यमान है। इन्होंने अनेक सूक्तियाँ भी लिखी हैं जो सहृदयों की जिह्वा पर नाचा करती हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इनका इतना सुन्दर और मधुर काव्य अधिक जनप्रिय नहीं हो सका।

११—कल्हण

'राजतरंगिणी' के अमर रचयिता के रूप में कल्हण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये काश्मीर के निवासी थे। काश्मीर-नरेश जयसिंह (११२७—११४९ ई०) के राज्यकाल में इन्होंने अपने अमर काव्य की रचना की थी। इनके गुरु का नाम 'अलकदत्त' था जिनका उल्लेख मंखक ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित' में किया है। इनका एकमात्र ग्रंथ राजतरंगिणी है जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक मूल्य है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है वे बिल्कुल ठीक हैं तथा निरूपण एक क्रम तथा पद्धति के अनुसार हुआ है। काश्मीर के राजाओं का इतिहास जानने के लिए यह ग्रन्थ अमूल्य साधन है। इसके ऐतिहासिक मूल्य को देखकर डा० स्टेन ने इसका अनुवाद अँगरेजी में किया था। श्री आर० एस० पण्डित ने इसका दूसरा अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया है।

१२—हेमचन्द्र

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता नरेश का चरित विस्तार के साथ 'कुमारपाल चरित' महाकाव्य में निबद्ध किया है। इस ग्रन्थ में २८ सर्ग हैं जिनमें आदि के २० सर्ग संस्कृत में और अन्तिम ८ सर्ग प्राकृत में। इसे 'द्वयाश्रय काव्य' भी कहते हैं जिसका कारण इसका दो भाषाओं में लिखा जाना है। इस काव्य में हेमचन्द्र रचित संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरणों

के उदाहरणों का सन्निवेश किया गया है। गुजरात के प्रसिद्ध चालुक्यवंशी नरेश कुमारपाल का जीवन चरित जानने के लिए यह ग्रन्थ उपादेय है। दो 'भाषाओं' में लिखे जाने के कारण यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है।

नाटक

१—विशाखदत्त

सुप्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के रचयिता के रूप में विशाखदत्त का नाम अमर रहेगा। यह नाटक संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है। इस नाटक का विषय कूटनीति है। राजनीति में जितने प्रकार की कुटिलता की कल्पना हो सकती है, वह सब इसमें विद्यमान है। इसमें अनेक प्रकार की राजनीतिक चालों और छलों का वर्णन पाया जाता है जिसकी कल्पना मानव बुद्धि से करना भी कठिन है।

'मुद्राराक्षस' की प्रस्तावना से पता चलता है कि विशाखदत्त के पितामह का नाम वटेश्वरदत्त और पिता का भास्करदत्त था। राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त ये दर्शनशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे। विशाखदत्त के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसका कारण भरत वाक्य का वह श्लोक है जिसमें, विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकों में, दन्ति-वर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्तिवर्मा का नाम पाया जाता है। डाक्टर जायस-वाल ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) को ही इस भरत वाक्य का विषय माना है। परन्तु प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय के अनुसार इनका काल छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना अधिक उपयुक्त होगा।

मुद्राराक्षस राजनीतिक नाटक है। चाणक्य राक्षस को बुद्धि-बल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना चाहता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने जिन साधनों से काम लिया है तथा जिस बुद्धि वैभव का प्रदर्शन किया है वह कूट राजनीतिज्ञों को भी उलझन में डालने वाला है। इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है उतना अन्यत्र नहीं।

२—श्रीहर्षवर्धन

भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये एक सुयोग्य, पराक्रमी तथा गुणियों के आश्रयदाता नरेश ही नहीं थे प्रत्युत

स्वयं प्रकाण्ड विद्वान् तथा कवि थे। इन्होंने ६०६–६४८ ई० तक राज्य किया। इनके समय में सुप्रसिद्ध ह्वेनसाङ्ग नामक चीनी यात्री आया था जिसने इनके राज्य का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। यह राजा बड़ा दानी, उदार तथा विशाल-हृदय का था। इसके दरबार में बाणभट्ट, मयूर आदि कवियों का जमघट लगा रहता था। इसने तीन नाटकों की रचना की है—(१) रत्नावली, (२) प्रियदर्शिका तथा (३) नागानन्द। इनमें से पहली दो नाटिकाएँ हैं जिनका संबंध वत्सराज उदयन की प्रेमकथाओं से है। नागानन्द में एक बौद्ध आख्यान को लेकर नाटकीय रूप दिया गया है। इनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। रत्नावली में 'होलिकोत्सव' का बड़ा सजीव चित्र खींचा गया है। वस्तुवर्णन सर्वत्र सरल तथा स्वाभाविक है। कहीं भी क्लिष्ट कल्पना नहीं की गई है। छोटे होने के कारण ये नाटक रंगमंच के लिए विशेष उपयुक्त हैं।

३—भट्ट नारायण

'वेणीसंहार' के कर्त्ता के रूप में भट्ट नारायण का पण्डित समाज में विशेष आदर है। इनके जीवनवृत्त के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। कहा जाता है कि ये उन पाँच कनौजिया ब्राह्मणों में अन्यतम थे जिन्हें बंगाल के राजा 'आदि सूर' ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिये कन्नौज से अपने देश में बुलाया था। वामन ने अपने 'काव्यालंकार' में वेणीसंहार के एक पद की संगति सिद्ध की है। इससे स्पष्ट है कि वामन के पूर्व (८०० ई० के पहले) इनके ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी। ये आदिशूर के समकालीन थे, इससे भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। आदिशूर ७१५ ई० में गौड़ देश के राजा हुए। अतः भट्ट नारायण का आविर्भाव-काल आठवीं शताब्दी का प्रथमार्ध मानना उचित है।

इनकी केवल एक ही कृति है जो 'वेणीसंहार' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है। भीम दुःशासन का बध करता है और उसी के रक्त से सने हाथों से द्रौपदी अपनी खुली हुई वेणी बाँधती है। अतः इसका नाम वेणीसंहार पड़ा है। इस नाटक में गौड़ी रीति का अनुसरण किया गया है। भाषा समास बहुला है अतः पदावली दीर्घ है। गम्भीर भावों का वर्णन भी यथास्थान मिलता है। इस नाटक में वीर रस की प्रधानता है। अर्जुन और भीम की बीर रसमयी वाणी का श्रवण करते मन नहीं भरता।

४—भवभूति

संस्कृत के नाटककारों में भवभूति का नाम अग्रगण्य है। सच तो यह है कि कालिदास की स्पर्धा करने की योग्यता यदि किसी कवि में है तो वह भवभूति में ही। 'उत्तर रामचरित' में तो इन्होंने कालिदास को भी मात कर दिया है। इसीलिए किसी ने उचित ही कहा है कि "उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"।

भवभूति विदर्भ देश (आधुनिक बरार) के पद्मपुर नगर के निवासी थे। ये कश्यप गोत्री तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले महराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम भट्ट गोपाल, पिता का नीलकण्ठ एवं माता का नाम जतुकर्णी था। इसका व्यक्तिगत नाम भवभूति नहीं था, बल्कि श्रीकण्ठ था। कविरूप में अधिक प्रसिद्ध होने पर संभवतः इन्हें भवभूति की उपाधि मिली थी। दार्शनिक ग्रन्थों में इनका उम्बेक के नाम से उल्लेख मिलता है तथा इन्हें कुमारिल का शिष्य बतलाया गया है। भवभूति और उम्बेक एक ही व्यक्ति थे अथवा दो, इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। इस विषय का अधिक विस्तार यहाँ अनुपयुक्त होगा। अतः इस रोचक विषय को छोड़ देना ही उचित प्रतीत होता है[1]।

'राजतरंगिणी से पता चलता है कि भवभूति कान्यकुब्ज के गुणग्राही तथा विद्वान् राजा यशोवर्मा के सभापण्डितों में से थे[2]। ये यशोवर्मा कन्नौज के राजा थे जिन्हें काश्मीर के राजा मुक्तापीड़ ललितादित्य ने परास्त कर अपने वश में किया था। यह घटना ७३६ ई० के लगभग हुई थी। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास है। बाणभट्ट ने भवभूति का कहीं नामोल्लेख नहीं किया। अतः ये बाणभट्ट के पीछे हुए। आलंकारिक वामन ने भवभूति के श्लोकों को उद्धृत किया है। वामन का समय ८०० ई० है। अतः भवभूति का आविर्भाव-काल बाण (६२५ ई०) के

१—विशेष विवरण के लिये देखिये—

प्रो० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास।

डा०—कामे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र लिटरेचर, भाग १,

२—कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादि सेवितः।

जितो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥—राज-तरं० ४।१४४

बाद और वामन (८०० ई०) के पहले अर्थात् ७०० ई० के लगभग माना चाहिए।

भवभूति ने तीन नाटकों की रचना की है--(१) महावीर-चरित, (२) (२) मालती माधव और (३) उत्तररामचरित। इसमें महावीर-चरित भगवान रामचन्द्र की प्रारम्भ से लेकर लंका से लौटने तक की जीवन-घटनाओं से संबंध रखता है और उत्तररामचरित में राम का बाद का जीवनचरित वर्णित है। मालती माधव में मालती और माधव के सात्विक प्रेम का सुन्दर निरूपण किया गया है। इन तीनों ग्रन्थों में उत्तर-रामचरित भवभूति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें ये महाकवि कालिदास को भी पीछे छोड़ गये हैं।

भवभूति में सरसता और पाण्डित्य का अपूर्व मिलन है। इन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य और योगशास्त्र के गाढ़ अध्ययन की ओर संकेत किया है[1]। भवभूति का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार था और सरस्वती इनकी वाक्वश्या बन कर रहती थी[2]। इनकी भाषा भावानुकूल है। वीर तथा रौद्र रस के वर्णन में समास बहुला पदावली का प्रयोग किया गया है तो शृंगार के वर्णन में भाषा बड़ी सीधी और सरल है। ये रससिद्ध कवि थे। वीर और करुण रस का वर्णन इनकी सिद्ध सरस्वती का विलास था। परन्तु करुण रस के वर्णन में इनकी वाणी को अद्वितीय सफलता मिली है। करुण रस के चित्रण में इनकी निपुणता को देखकर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही लिखा है कि इनकी वाणी को सुन कर पत्थर भी रोने लगता है[3]। भवभूति का मत है कि सब रसों में करुण ही प्रधान है और अन्य रस इसी के विकार मात्र हैं[4] जो इनकी रचना को देखने से सत्य प्रतीत होता है। वस्तुतः कालिदास को छोड़ कर भवभूति संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार हैं।

१—मालती-माधव—अंक १

२—यं ब्रह्माणमियंदेवी वाक्वश्येवानुवर्तते। उ० रा० च०, अंक, १ श्लो० १

३—भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

४—एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥ उ० रा० च० ३।४७

५—मुरारि

ये मौद्गल्य-गोत्री ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्री वर्धमानक और माता का तनुमती देवी था। इन्होंने अपनी उपाधि 'बाल-वाल्मीकि' लिखी है। सूक्ति ग्रन्थों में उद्धृत इनके प्रशंसात्मक पद्यों से प्रतीत होता है कि ये माघ और भवभूति के अनन्तर आविर्भूत हुए[1]। रत्नाकर ने अपने 'हर-विजय' में,श्लेष रूप से मुरारि का नामोल्लेख किया है[2]। इस प्रकार मुरारि का आविर्भाव-काल भवभूति के बाद और रत्नाकर के पहले अर्थात् अष्टम शतक के उत्तरार्द्ध में है।

इनकी एकमात्र कृति का नाम 'अनर्घराघव' है जो सात अंकों में है। जैसा कि नाम से प्रतीत होता है, इसमें राम का चरित वर्णित है। मुरारि की भाषा सुन्दर है, कविता प्रौढ़ है, ओज का प्रकर्ष है और वर्णन की बहुलता है। परन्तु इनके नाटक में वह कोमलता नहीं जो कालिदास में है, और मानव हृदय के भावों की वह परख नहीं जो भवभूति के नाटकों में पाई जाती है। नाटकीय कला की दृष्टि से भी अनर्घराघव का कुछ विशेष मूल्य नहीं।

६—जयदेव

जयदेव का नाम 'प्रसन्न राघव' नामक नाटक के रचयिता के रूप में संस्कृत साहित्य में विख्यात है। ये गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न व्यक्ति हैं। इनकी एक ही कृति 'प्रसन्न राघव' है। जैसा कि नाम से विदित है, इस नाटक की भाषा प्रसाद गुणसम्पन्न है। अतः इसका नाम 'प्रसन्न राघव' यथार्थ ही है। महाकवि तुलसीदास ने इस नाटक के मार्मिक स्थलों तथा सरस सूक्तियों को खूब ही अपनाया है। जयदेव के देश और काल का ठीक-ठीक पता नहीं है। विश्वनाथ कविराज (१३५० ई०) ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में इनके एक पद्य को ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है। अतः इनका समय तेरहवीं शताब्दी का अन्त समझना चाहिए। प्रवाद यह है कि ये मिथिला के रहनेवाले थे। कवि होते हुए भी ये उच्च कोटि के तार्किक थे।

१—मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

२—अङ्कोत्थ नाटक इवोत्तमनायकस्य।
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥ हरविजय ३८। ६७

७—राजशेखर

राजशेखर एक प्रकाण्ड लेखक थे। इनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रसाद साहित्य के अनेक क्षेत्रों में पाया जाता है। इन्होंने नाटक लिखे, नाटिका की रचना की और काव्य-शास्त्र के ऊपर काव्य-मीमांसा जैसे विद्वत्तापूर्ण विपुल काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया। ये प्रौढ़ कवि और प्रकाण्ड आचार्य थे। इन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। ये अकाल जलद के प्रपौत्र थे। इनके पिता का नाम दुर्दुक और माता का शीलवती था। इन्होंने अवन्ति सुन्दरी नामक चौहानवंशी क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह किया था। यह अवन्तिसुन्दरी बड़ी विदुषी और पण्डिता थी। काव्य के संबंध में इसके विशेष मतों का उल्लेख राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में बड़े आदर के साथ किया है। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण और विदर्भ देश के निवासी थे। कान्यकुब्ज-नरेश के उपाध्याय पद पर ये विराजमान थे।

इनके आश्रयदाता नरेश का नाम महेन्द्रपाल था जो कन्नौज के प्रतिहार-वंशी राजाओं में विशेष गौरवशाली माना जाता था[1]। महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के समय में भी ये वहाँ रहते थे। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय नवीं शताब्दी का अन्त अथवा दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना उचित होगा।

राजशेखर ने छः ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें पाँच उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं। इनमें ये दो नाटक, दो नाटिकाएं और एक साहित्य-ग्रन्थ है। इनके नाटक (१) बालरामायण और (२) बालभारत हैं। (३) विद्धशाल भञ्जिका चार अंकों की सुन्दर नाटिका है। (४) कर्पूरमञ्जरी भी नाटिका है परन्तु प्राकृत में लिखे जाने के कारण इसे ग्रन्थ को सट्टक कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनका 'काव्यमीमांसा' बड़ा सुन्दर तथा मौलिक ग्रन्थ है जिसका वर्णन अन्यत्र किया जायेगा।

राजशेखर को उनकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण कवि शेखर कहें तो कुछ अत्सुक्ति न होगी। इनकी प्रतिभा नाटकीय न होकर भी प्रबन्धकाव्य के अनुकूल है। बाल रामायण इनकी काव्यकला का उच्च निदर्शन है। शार्दूलविक्रीड़ित लिखने में ये सिद्धहस्त थे। क्षेमेन्द्र ने इनके शार्दूलविक्रीड़ित

१—बाल रामायण १।१८

छन्दों की बड़ी प्रशंसा की है[1]। ये शब्द कवि थे। इनके दो पदों की रमणीय शय्या बड़ी सुन्दर है। शब्दचमत्कार इनकी रचना में पद पद पर मिलता है।

इनके पश्चात् कुलशेखर, रामचन्द्र, जयसिंह सूरि और रविवर्मा आदि अनेक नाटककार इस काल में हुए परन्तु संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध न होने के कारण इनका यहां नामोल्लेख ही पर्याप्त है।

गद्य काव्य

१—सुबन्धु

संस्कृत के गद्य-लेखकों में सुबन्धु का महत्वपूर्ण स्थान है। कारण यह है कि ये गद्यकाव्य के लेखकों में सर्वप्रथम हैं। इनकी एकमात्र रचना 'वासवदत्ता' है। प्राचीन काल में वासवदत्ता की प्रेम कहानी बड़ी प्रसिद्ध थी; परन्तु उस प्रसिद्ध कथा से इस पुस्तक का कोई संबंध नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है। इस ग्रन्थ के रचना काल का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया। परन्तु महाकवि बाण ने इनके ग्रन्थ का उल्लेख किया है[2]। अतः इनका बाणभट्ट से प्राचीन होना स्वाभाविक है। कवि ने ग्रन्थ के उपोद्घात में किसी विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख किया है। परन्तु निश्चय करना कठिन है कि यह विक्रमादित्य कौन था। सुबन्धु न्याय वार्तिक के रचयिता उद्योतकर से परिचित थे। उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त माना जाता है। अतः सुबन्धु का समय सप्तम शतक का आरम्भ समझना चाहिए।

सुबन्धु का यह ग्रन्थ बड़ा ही क्लिष्ट है। इसमें प्रत्येक अक्षर में श्लेष पाया जाता है। इस प्रकार कवि ने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण रूप से निभाया है। प्रत्येक पद पर कोष देखे बिना इस ग्रन्थ को समझना कठिन है।

२—बाणभट्ट

महाकाव्य तथा नाटक के क्षेत्र में जो स्थान कालिदास को प्राप्त है

१—शार्दूलविक्रीड़ितैरवे प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्त्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥

२—हर्षचरित भूमिका।

वही महाकवि बाणभट्ट को गद्य-काव्य में मिला है। विद्वानों का कहना है कि गद्य ही कवियों की कसौटी है[1]। यदि हम कसौटी पर बाणभट्ट को कसते हैं तो ये खरे उतरते हैं। किसी मनचले ने तो यहां तक लिख दिया है कि सारा काव्य संसार बाण का जूठा है[2]। सच तो यह है कि बाणभट्ट सरस्वती के वरद पुत्र थे। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। भावानुसार भाषा का प्रयोग करना इनके बायें हाथ का काम था। गद्यकाव्य का ऐसा मधुर तथा सुन्दर लेखक संस्कृत साहित्य में दूसरा नहीं है।

'हर्षचरित' के प्रारम्भिक दो परिच्छेदों में बाणभट्ट ने अपने जीवन चरित का वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि ये सोन नदी के किनारे प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। इनके पितामह का नाम अर्थपति और पिता का नाम चित्रभानु था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये थानेश्वर के तत्कालीन नरेश हर्षवर्धन की सभा के प्रमुख पण्डित थे। हर्षवर्धन ने ६०६ ई० से ६४८ तक राज्य किया। अतः बाणभट्ट का समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

बाणभट्ट ने तीन ग्रन्थों की रचना की है—(१) कादम्बरी, (२) हर्षचरित और (३) चण्डीशतक। चण्डीशतक भगवती दुर्गा की स्तुति में लिखा गया स्तोत्र है जो स्रग्धरा छन्द में लिखा गया है। हर्षचरित में बाण के आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवन चरित है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रिय रचना है। इसमें कादम्बरी के प्रेम का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया गया है। यह ग्रन्थ दो भागों में है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इसमें पूर्वार्द्ध तो बाणभट्ट की रचना है और उत्तरार्ध उनके योग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट की। पूर्वार्द्ध की रचना करने के पश्चात् बाण का स्वर्गवास हो गया, तब उनके पुत्र ने, जनता की इच्छापूर्ति और सन्तोष के लिये, इस कथा को पूरा किया जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है[3]।

कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य का अनूठा रत्न है। इसकी कथा बड़ी

१—गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

२—बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।

३—विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथा प्रबन्धः।

मनोरम है। प्रेम का जैसा शुद्ध और आदर्श रूप यहाँ दिखलाया गया है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं। बाण ने प्रकृति-निरीक्षण में अपनी पूरी योग्यता दिखलाई है। बाण की शैली ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों से युक्त है। भावानुसार इन्होंने भाषा का प्रयोग किया है। जहाँ विन्ध्याटवी और शवरसैन्य का वर्णन है वहाँ समासबहुला भाषा का प्रयोग हुआ है परन्तु जहां हृदय के किसी कोमल भाव की व्यञ्जना है, वहां वाक्य छोटे-छोटे हैं और समास का नितान्त अभाव है। छोटे तथा चुभते वाक्यों की रचना—जिनमें गागर में सागर भरने का प्रयत्न है—बाण की खास विशेषता है। इसीलिये किसी कवि ने ठीक ही लिखा है कि अधिक प्रगल्भता को प्राप्त करने के लिये वाणी (सरस्वती) बाण बन गई[1]। वास्तव में भाव और भाषा, शब्द और अर्थ का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य बाण की रचना में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं[2]।

३—दण्डी

दण्डी के जीवन चरित के विषय में निश्चय रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। अवन्तिसुन्दरीकथा से पता चलता है कि इनके प्रपितामह का नाम दामोदर था। दण्डी के पिता का नाम मनोरथ और माता का गौरी था। बालकपन में ही माता-पिता के मर जाने पर ये निराश्रित होकर इधर-उधर घूमते रहे। बाद में काञ्ची के पल्लव नरेश के यहाँ रहने लगे। ये दक्षिण की काञ्ची नगरी के निवासी थे। दण्डी ने भामह के काव्यालंकार में उल्लिखित सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः यह भामह के परवर्ती हैं। इनके काव्यादर्श में राजवर्मा नामक पल्लव नरेश का उल्लेख है। इससे यदि हम राजवर्मा का विरुद धारण करनेवाले नरसिंह वर्मा द्वितीय (६९०–७१५ ई०) का संकेत मानें तो दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

दशकुमारचरित दण्डी की प्रसिद्ध रचना है। यह सुन्दर गद्य काव्य है जिसमें दस राजकुमारों का चरित वर्णन किया गया है। अवन्तिसुन्दरी

१—जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

२—शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

कथा इनकी दूसरी रचना है। इन्होंने साहित्य-शास्त्र के ऊपर काव्यादर्श नामक ग्रन्थ का निर्माण किया है। दण्डी का स्थान गद्य के इतिहास में अपनी विशिष्टता लिये हुए है। कथानकों में कौतुक तथा विस्मयजनक घटनाओं का पुट देने से अद्भुत रस का प्रभूत संचार किया गया है। इनकी सरल और सुबोध गद्य-शैली ने इनके काव्य को और भी रुचिर बना दिया है। इनकी शैली सजीव और चुस्त है। इन्हीं कारणों से कतिपय आलोचक बाल्मीकि और व्यास के अनन्तर दण्डी को ही तीसरा कवि मानते हैं[1]।

४—धनपाल

ये काश्यप गोत्रीय जैन थे और भोजराज के पितृव्य मुञ्जराज के सभासद थे। इनका समय १० वीं शताब्दी है। इनके ग्रन्थ का नाम 'तिलक मञ्जरी' है। इनकी भाषा बड़ी ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी है। इनकी शैली पर अनेक पूर्ववर्ती कवियों की छाया पड़ी हुई है।

इनके अनन्तर अनेक छोटे-मोटे गद्य लेखक हुए जिनमें वादीभ सिंह और सोड्ढल प्रसिद्ध हैं। वादीभ सिंह का समय १०वीं शताब्दी है। इनके ग्रन्थ 'गद्यचिन्तामणि' में जैन पुराणों में उल्लिखित जीवन्धर की कथा का वर्णन सुन्दरता से किया गया है। सोड्ढल (११वीं शताब्दी) की 'उदय सुन्दरीकथा' गद्य साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। यह कथा गद्य-पद्यात्मिका है। इस कथा की नायिका नाग लोगों के अधिपति शिखण्डतिलक की कन्या 'उदयसुन्दरी' है और नायक प्रतिष्ठानपुर का राजा मलयवाहन है। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है।

चम्पू काव्य

गद्य तथा पद्य के मिश्रण युक्त काव्य को चम्पू कहते हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य रचना का यह नया प्रकार है। चम्पू काव्य को पढ़कर कहीं तो बाण और दण्डी के पढ़ने का आनन्द मिलता है और कहीं कालिदास का। इस प्रकार चम्पू काव्य में गद्य तथा पद्य दोनों का आनन्द साथ ही साथ आता रहता है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में पद्य और गद्य का आरम्भ बहुत पहले हो चुका था परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि चम्पू काव्य की उत्पत्ति दसवीं शताब्दी के पहले नहीं हुई। संभव है चम्पू

१—जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

काव्य इसके पहले भी लिखे गये हों परन्तु वे इस समय उपलब्ध नहीं होते। संस्कृत में गद्य-पद्य मयी वाणी के दृष्टान्त प्राचीन काल में मिलते हैं। जातक-माला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में पद्य के साथ गद्य की रचना की गई है। इन्हें हम चम्पू का पूर्वरूप मान सकते हैं। परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की रचना बहुत पीछे की जान पड़ती है।

१ त्रिविक्रम भट्ट

संस्कृत साहित्य का प्रथम चम्पू 'नल चम्पू' है। इसके रचयिता का नाम त्रिविक्रम भट्ट है। ये शाण्डिल्य गोत्रीय श्रीधर के पौत्र तथा देवादित्य के पुत्र थे। इन्होंने बाणभट्ट के काव्य की प्रशंसा अपने ग्रन्थ में की है। इनके एक श्लोक (पर्वतभेदिपवित्रम् ६।२९) को भोजराज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' में उद्धृत किया है। ये राष्ट्रकूट वंशीय नरेश कृष्ण द्वितीय के पौत्र, जगत्-तुंग के पुत्र इन्द्रराज के सभापण्डित थे। अतः इनका समय दसवीं शताब्दी का आरम्भ है।

'नल चम्पू' में नल-दमयन्ती की कथा का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में कवि ने अपनी काव्य चातुरी की पराकाष्ठा दिखलाई है। त्रिविक्रम भट्ट संस्कृत के सर्वप्रधान श्लेषकवि हैं। सुबन्धु ने भी अपने ग्रन्थ में श्लेष का प्रयोग किया है परन्तु अप्रचलित, अभंग श्लेषों के प्रयोग से उनका काव्य अत्यन्त कठिन बन गया है। किन्तु त्रिविक्रम के श्लेष की यह विशेषता है कि इन्होंने प्रचलित, लोक प्रसिद्ध सभंग श्लेष का व्यवहार किया है। अतः इनका काव्य प्रसन्न और सुन्दर है। इनकी कविता के पदविन्यास नितान्त मंजुल हैं। रचना इतनी मधुर है कि बार-बार पढ़ने पर भी सन्तोष नहीं होता। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। इनकी परिसंख्या भी कम मनोरंजक नहीं है। इस प्रकार से इनका काव्य बड़ा मधुर और सुन्दर बन पड़ा है।

त्रिविक्रम भट्ट के द्वारा प्रचारित चम्पू काव्य शैली पिछली शताब्दियों में बहुत ही लोकप्रिय हुई। सोमदेव सूरि (१०वीं शताब्दी) का 'यशःतिलक' चम्पू कवि के परम गुरु यशोधर महाराज के चरित वर्णन के साथ साथ जैन धर्म का व्यापक वर्णन करता है। भोजराज (११वीं शताब्दी) का 'चम्पू रामायण' रामचन्द्र की कथा का चम्पू रूप है जिसमें कवि का शाब्दिक पाण्डित्य तथा अलंकार-चातुर्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इन

कवियों के अतिरिक्त जीव गोस्वामी, कविकर्णपूर, नीलकण्ठ दीक्षित तथा वेङ्कटाध्वरि आदि ने अनेक चम्पू काव्यों की रचना की परन्तु इनका आविर्भाव काल हमारी निश्चित अवधि के भीतर न होने के कारण इनका वर्णन छोड़ दिया गया है। इन चम्पू काव्यों की रचना शैली का प्रभाव प्रान्तीय भाषाओं पर भी पड़ा है। उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं ने चम्पू काव्य की रचना की ओर विशेष आग्रह नहीं दिखलाया परन्तु आन्ध्र और मलयालम भाषाओं में चम्पुओं की लोकप्रियता आज भी बहुत अधिक है।

कथा-साहित्य

भारतीय साहित्य की विश्व साहित्य को जो देन है उसमें कथा-साहित्य का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है कि भारतीय कथा साहित्य ने समस्त पश्चिमी कथा-साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। यह कुछ अत्युक्ति न होगी कि हमारा भारतवर्ष ही संसार की कथाओं का मूल उद्गम स्थान है। यहाँ की ही मूल कथाएँ अरब होते हुए ग्रीस और रोम में पहुँचीं और वहाँ के कथा-साहित्य पर उन्होंने अपना गहरा रंग जमाया। कथाएँ यहीं से यात्रा प्रारम्भ कर संसार के समस्त सभ्य देशों में व्याप्त हो गईं। षष्ठ शताब्दी में हम भारत में उन कथाओं की लोक-प्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पंचतन्त्र' में आज भी उपलब्ध हो रहा है। पंचतन्त्र की कहानियाँ संसार के विभिन्न भागों में कैसे फैलीं, इसका वर्णन मनोरंजक और आश्चर्यदायक है।

षष्ठ शताब्दी में फारस देश में खुसरो नौशेरवाँ बादशाह राज्य करता था जो अपनी न्यायप्रियता के लिए विख्यात था। उसके दरबारियों में संस्कृत का ज्ञाता एक हकीम था जिसका नाम 'बुरजोई' था। फ़ारस का भारत के साथ घनिष्ठ संबंध होने के कारण किसी प्रकार नौशेरवाँ का ध्यान पंचतन्त्र की कहानियों की ओर आकृष्ट हुआ। उसने इस हकीम के द्वारा ५३३ ई० में इन कहानियों का अनुवाद पहलवी भाषा में करवाया।

इस अनुवाद के ५० वर्ष के भीतर ही बुद नामक एक ईसाई पादरी ने सन् ५७० ई० में इसका पहलवी भाषा से सीरियन भाषा में अनुवाद 'कलिलग और दमनग' के नाम से किया। कुछ दिनों बाद इसका

अनुवाद सीरियन भाषा से अरबी भाषा में किया गया। इस अनुवाद का नाम 'कलिलह् और दमनह्' है जो पंचतन्त्र के प्रथम तन्त्र के प्रधान पात्र 'करकट और दमनक' के नाम पर है। यह अनुवाद अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा ने ७५० ई० में किया था। इसी शताब्दी में सन् ७८१ ई० में अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी भाषा में दूसरा अनुवाद किया। अरबी मध्य-युग की सभ्य भाषा थी। इस भाषा में अनुवाद होते ही धीरे-धीरे पाश्चात्य देशों में भी कथाएँ फैलने लगीं और कुछ ही सदियों में लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश और अंग्रेजी आदि भाषाओं में इन कहानियों के अनुवाद हो गये। विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथा-संग्रह "इसाप की कहानियाँ" और अरब की मनोरंजक कहानियाँ "अरेबियन नाइट्स" का आधार पंचतन्त्र की कहानियाँ ही हैं। मध्ययुग में ये कथाएँ 'विद्यापति की कहानियों' के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं। यदि ध्यानपूर्वक अनुशीलन किया जाय तो इसाप की कहानी तथा इन कहानियों में बड़ी समानता मिलेगी।

१—पंचतंत्र

भारतीय कथा साहित्य में पंचतन्त्र का बड़ा महत्व है। पीछे यह दिखलाया गया है कि मध्ययुग में इस महत्वपूर्ण पुस्तक के अनेक अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हुए और इसकी कथाओं ने पाश्चात्य कथा-साहित्य को प्रचुर रूप से प्रभावित किया है। पंचतन्त्र में जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। भिन्न-भिन्न शताब्दियों में, भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण हुए जिनमें कुछ आज भी उपलब्ध हैं। पंचतन्त्र के जो संस्करण आज उपलब्ध हैं उनमें चार प्रधान हैं—(१) पहलवी अनुवाद उपलब्ध तो नहीं है परन्तु सीरियन और पहलवी अनुवादों से प्राप्त हैं। (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। (३) तीसरा संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसी से सम्बद्ध जैन कथा संग्रह है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र का मूल रूप है।

पंचतंत्र के लेखक का नाम विष्णु शर्मा है। कहा जाता है कि दक्षिण के महिलारोप्य नगर में अमरकीर्ति नामक राजा था। उसे अपने मूर्ख पुत्रों

को विद्वान् और नीतिसम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता थी। विष्णु शर्मा लोक और शास्त्र दोनों में विद्वान् थे अतः इन मूर्ख राजकुमारों को पढ़ाने का काम इन्हें मिला। इन्होंने इसीलिए पंचतन्त्र की रचना की जिसमें राजतन्त्र की सब बातें कथा रूप में कह दी गई हैं। इस ग्रन्थ में पांच तन्त्र हैं। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है, परन्तु उसकी सहायक अनेक कथाएँ कही गई हैं। इस ग्रन्थ में अनेक सूक्तियाँ और नीति के श्लोक हैं। इसकी भाषा सरल, सुबोध और सुन्दर है।

२—हितोपदेश

नीति कथा की पुस्तकों में हितोपदेश सर्वप्रिय तथा प्रसिद्ध है। इसके रचयिता का नाम नारायण पण्डित था जो बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आश्रित थे। इनकी ग्रन्थरचना का समय १४वीं शताब्दी के आसपास है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि उसका मूल आधार पंचतंत्र ही है। हितोपदेश की आधी कथाएँ पंचतंत्र से ली गई हैं। इस ग्रन्थ के चार परिच्छेद हैं—(१) मित्रलाभ, (२) सुहृद् भेद, (३) विग्रह और (४) सन्धि। इसकी भाषा बहुत सरल है। संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को सर्वप्रथम यही ग्रन्थ पढ़ाया जाता है। इसमें नीति के श्लोक भरे पड़े हैं। यदि नीति और सदाचार की शिक्षा किसी को देनी है तो इससे सुन्दर तथा सरल ग्रन्थ दूसरा नहीं है। संस्कृत के प्रचार में इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा हाथ है।

३—बृहत्कथा

संस्कृत साहित्य में बृहत्कथा का बड़ा नाम है। बाण[१], दण्डी[२] तथा सुबन्धु[३] ने अपने ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि यह ग्रन्थ उन दिनों कितना प्रसिद्ध था। यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम कथा-संग्रह है। यह पैशाची भाषा में लिखा गया था परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि मूल ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। कुछ लोग इस ग्रन्थ को पंचम शतक की रचना मानते ह परन्तु अधिकांश विद्वानों

१—समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥ हर्षचरित प्रारंभिक श्लोक।

२—भूतभाषामयां प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्। —काव्यादर्श १।३८

३—बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः। —वासवदत्ता

की सम्मति में इसकी रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई थी। इस महाग्रन्थ के रचयिता का नाम गुणाढ्य था। आज कल वृहत्कथा के तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध हैं जिनका वर्णन आगे किया जाता है।

४—वृहत्कथाश्लोकसंग्रह

जैसा कि नाम से ही विदित होता है, यह वृहत्कथा का अनुवाद है। इसके रचयिता बुधस्वामी हैं जो नैपाल के रहनेवाले थे। इनका समय आठवीं अथवा नवीं शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति खण्डित मिली है जिसमें २८ सर्ग ही उपलब्ध हैं जो मूलग्रन्थ के अंशमात्र हैं। इसमें ४५३९ श्लोक हैं। यदि यह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इसमें २५,००० से कम श्लोक न होते।

५—वृहत्कथामंजरी

यह भी वृहत्कथा का अनुवाद है। यह आचार्य क्षेमेन्द्र की रचना है, जिनके काल तथा काव्य कला के संबंध में कुछ विस्तार के साथ पीछे वर्णन किया जा चुका है। इस ग्रन्थ में ७५०० श्लोक हैं। कथा की नीरसता को दूर करने के लिये क्षेमेन्द्र ने बीच-बीच में सुन्दर प्रसंग भी कल्पना के द्वारा जोड़ दिये हैं। इसकी भाषा बड़ी सरस और सुबोध है।

६—कथा-सरित्सागर

इसके रचयिता सोमदेव काश्मीरी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम राम था। इन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना १०६३ ई० से १०८१ ई० के बीच में की। वृहत्कथा का यह सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है। इसमें २४,००० श्लोक हैं। पेन्जर नामक विद्वान ने इसका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया है। संस्कृत में यह ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है। इन कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवदास की 'वेतालपंचविंशतिका' भी है। "शुक सप्तति" और 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' भी मनोरंजन की दृष्टि से अच्छे कथा-ग्रन्थ हैं।

अलंकार-शास्त्र

पीछे हमने काव्य, नाटक, चम्पू और गद्य काव्य का विवेचन किया है। अब यहाँ अलंकार शास्त्र का वर्णन प्रस्तुत किया जायगा। जहाँ काव्य का लक्षण अलंकार, गुण, दोष, रीति, वृत्ति आदि विषयों का वर्णन होता है उसे अलंकार-शास्त्र कहते हैं। यद्यपि यह नाम समुचित नहीं जान पड़ता परन्तु यह बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने ग्रन्थ

का नाम 'काव्यालंकार' रक्खा है। अतः इसका प्राचीन नाम अलंकार-शास्त्र ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। प्राचीन काल में काव्य की आत्मा अलंकार ही समझा जाता था। संभवतः इसीलिए इस शास्त्र का नाम ही अलंकार-शास्त्र पड़ गया। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्य विद्या' कहा है। यह नामकरण भामह के 'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्' इस काव्य लक्षण के आधार पर दिया गया है।

यह शास्त्र बहुत प्राचीन है। राजशेखर के अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा सर्वप्रथम ब्रह्माजी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं और ऋषियों को दिया। इस निर्देश से ज्ञात होता है कि इस शास्त्र की उत्पत्ति दैवी है। पाणिनि ने कृशाश्व और शिलालिन् के द्वारा निर्मित नट-सूत्रों का नाम निर्देश किया है[1]। इनसे भी पहले यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन किया है। निरुक्तकार ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया है। अग्निपुराण में अलंकार शास्त्र का विषय प्रतिपादित है। रुद्रदामन के शिलालेख की भाषा केवल अलंकारपूर्ण ही नहीं है बल्कि उसमें अलंकार शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का भी निर्देश है। परन्तु इस शास्त्र का क्रमबद्ध वर्णन हमें आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र एक विश्वकोष है जिसमें अलंकार शास्त्र, संगीत, छन्द तथा नाट्य—आदि अनेक विषयों की विस्तृत मीमांसा की गई है। इस ग्रन्थ में ३६ अध्याय और ५००० श्लोक हैं। भरत रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकार शास्त्र का विवेचन आनुसंगिक रूप से, ६ठे, ७वें और १६वें अध्यायों में किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का समय विवादास्पद है। परन्तु यह ग्रन्थ कालिदास से प्राचीन अवश्य है क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ में भरत का नामोल्लेख किया है[2]। यद्यपि अलंकार शास्त्र बहुत प्राचीन है परन्तु भरत के नाट्य शास्त्र में इसका सुव्यवस्थित वर्णन हमें सर्वप्रथम प्राप्त होता है।

१—पराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
कमर्दकृशाश्वादिनिः।

२—मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
—विक्रमोर्वशी

१—भामह

भारतीय अलंकार-शास्त्र में भामह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भामह ही सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में इसी विषय पर स्वतन्त्र रूप से क्रमबद्ध वर्णन किया है। भामह के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है। यही पुस्तक भरत—पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकार-शास्त्र नाट्य शास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर, एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों में मेधाविरुद्ध का नाम मिलता है परन्तु इनकी रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। भामह का ग्रन्थ, अभी कुछ वर्ष हुए, उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का सुन्दर तथा वैज्ञानिक संस्करण प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने बड़े परिश्रम से काशी से प्रकाशित किया है।

भामह काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम रक्रिलगोमी था[१]। इस नाम के आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें बौद्ध मानते हैं परन्तु इस कल्पना के लिए कोई विशेष प्रमाण नहीं है। भामह और दण्डी के काल के विषय में बड़ा विवाद था। परन्तु अब प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती थे। भामह ने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है[२], धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं। इससे इनका समय इन दोनों आचार्यों—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति—के बीच में मानना उचित है।

भामह का ग्रन्थ काव्यालंकार सुप्रसिद्ध है। इसमें छः परिच्छेद हैं जिनमें काव्य के साधन, लक्षण, भेद, अलंकार, दोष आदि का वर्णन है। इस ग्रन्थ में ४०० श्लोक हैं जिनमें अलंकार-शास्त्र के समस्त विषयों का वर्णन उचित रीति से किया गया है। भामह अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं। इनके मत से अलंकार ही काव्य की आत्मा है। इनके कुछ विशिष्ट सिद्धान्त निम्नांकित हैं—शब्द और अर्थ इस युगल का काव्य होना (शब्दार्थौ काव्यम्), भरत प्रतिपादित दश गुणों का ओज, प्रसाद और माधुर्य इन तीन

१—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
—काव्यालंकार—अन्तिमश्लोक

२—प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्।

गुणों के भीतर ही अन्तर्भाव होना; वक्रोक्ति का समस्त अलंकारों का मूल होना; और दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन। भामह की शैली सरल और सीधी है। भावों का स्पष्टीकरण बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के सर्वप्रथम मौलिक लेखक के रूप में तथा अलंकार सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक के रूप में भामह का महत्त्व अधिक है।

२—दण्डी

दण्डी के समय तथा जीवनचरित का वर्णन गद्यकाव्य के प्रसङ्ग में अन्यत्र किया जा चुका है। अलंकार-शास्त्र पर लिखा गया इनका ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जो पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है। इस ग्रन्थ का अनुवाद कन्नड भाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' में, सिंहली ग्रन्थ 'सियवस-लकर' (स्वभाषालंकार) में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इसी से इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि तथा लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद तथा ६६० श्लोक हैं। इसमें काव्य के लक्षण, उनके भेद, वैदर्भी तथा गौड़ी रीति, दश गुण, अलंकारों के लक्षण और दशविध दोषों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्तों का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

३—उद्भट

ये सुप्रसिद्ध आलंकारिक वामन के समकालीन थे। काश्मीर-नरेश जयापीड़ की सभा के ये सभापति थे। कल्हण का कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड़ दीनार (स्वर्णमुद्रा) था[1]। यदि यह कथन सत्य है तो ये बड़े भाग्यशाली थे। जयापीड़ का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है, अतः उद्भट का काल भी यही समझना चाहिए। ये अलंकार सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक थे। इन्होंने भामह के ग्रन्थ पर 'भामह-विवरण' नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। इसका निर्देश 'लोचन' आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। परन्तु खेद है कि इस ग्रन्थ की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है।

उद्भट की कीर्ति 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर अव-

---

१—दीनारशतलक्षेण, प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूत् उद्भटः तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥
—राजतरंगिणी ४।४९५

लम्बित है। इस ग्रन्थ में छः वर्ग हैं जिनमें कारिकाओं के द्वारा ४१ अलंकारों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का विषय अलंकार ही है। इसकी टीका मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने की है। भामह के समान अलंकार सम्प्रदाय के परिपोषक होने पर भी, ये भामह से अनेक सिद्धान्तों में भिन्नता रखते हैं। ये अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना को स्वीकार करते हैं। इनके मत से श्लेष अर्थालंकार है तथा शब्दश्लेष और अर्थश्लेष से इसके दो भेद हैं। ये वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार मानते हैं।

४—रुद्रट

जैसा कि नाम से विदित होता है, ये काश्मीर के निवासी थे। राजशेखर (९०० ई०) ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इनके नाम का निर्देश 'काकु वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि इनका समय ९०० ई० के पहले है। इनके ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालंकार' है जो विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है। इसमें अलंकार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कवि सामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के ही अनुयायी हैं। अलंकारों की सुव्यवस्था करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। रुद्रट ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने पहले पहल अलंकारों का वैज्ञानिक विभाग किया है। इन्होंने अलंकारों के चार मूलतत्त्वों को खोज निकाला है। भामह तथा उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलंकारों को इन्होंने छोड़ दिया है तथा अनेक नवीन अलंकारों की कल्पना की है। रसों का भी इन्होंने वर्णन किया है परन्तु इनका विशेष आग्रह अलंकारों पर ही है।

५—वाग्भट

ये जैन ग्रन्थकार थे। प्राकृत में इनका नाम 'बाहड़' मिलता है। इनके पिता का नाम सोम था जो किसी राजा के मन्त्री थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये हैं उनमें कर्ण के पुत्र, अनहिलवाड़ा के चालुक्यवंशी

१—काकुवक्रोक्तिनाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः।

नरेश जयसिंह का नाम अनेक बार आया है[१]। जयसिंह का समय १०९३ ई० से ११४३ ई० तक माना जाता है। इस प्रकार वाग्भट का समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'वाग्भटालंकार' है जिसके ऊपर सिंह देवगणि ने टीका लिखी है। यह ग्रन्थ ५ परिच्छेदों में विभक्त है और इसमें २६० श्लोक हैं। इसमें काव्यलक्षण, भेद, काव्यहेतु, अलंकार, दोष तथा रसों का विवेचन बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ये भी अलंकार समुदाय के ही अनुयायी हैं।

६—जयदेव

'चन्द्रालोक' के रचयिता के रूप में जयदेव का नाम अलंकार शास्त्र में विख्यात है। इनकी उपाधि पीयूषवर्ष है[२] जिसका अर्थ अमृत बरसाने वाला है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का सुमित्रा था। ये 'गीत गोविन्द' के अमर रचयिता जयदेव से पृथक् व्यक्ति हैं। प्रसन्नराघव नाटक के कर्त्ता जयदेव से भी ये भिन्न हैं। डा० काणे ने इनको पक्षधर नामक न्याय के लेखक से अभिन्न व्यक्ति माना है। अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय १२०० ई० के आस-पास निश्चित किया गया है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'चन्द्रालोक' है जो अलंकार का बड़ा लोकप्रिय ग्रन्थ है। ये अलंकार सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक हैं, क्योंकि इन्होंने अलंकार को ही आत्मा स्वीकार किया है[३]। यह ग्रन्थ दस मयूखों (अध्यायों) में विभक्त है और इसमें ३५० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की भाषा सरल और सीधी है, शैली संक्षिप्त परन्तु प्रवाह युक्त है। एक ही श्लोक में अलंकार का लक्षण और उसका उदाहरण भी दिया गया है जिससे विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। अलंकारों को समझने के लिए यह ग्रन्थ अति उत्तम है।

१—अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करीच रत्नानि जगतीह॥ वा० लं० ४।१३२
जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोः परिघः।
जयति प्रतापभूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः॥
—वही ४।४५

२—चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती। चन्द्रालोक।

३—अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रालोक १।८

७—आनन्दवर्धन

भारतीय अलंकार-शास्त्र में आनन्दवर्धन का स्थान सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। सच तो यह है कि अलंकार-शास्त्र के इतिहास में इनके ग्रन्थ का वही स्थान है जो व्याकरण के इतिहास में पाणिनि की अष्टाध्यायी और वेदान्त दर्शन के इतिहास में वेदान्त सूत्रों का। इनका अमर ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक नवीन युग का उत्पादक ग्रन्थ है। जिस प्रकार पाणिनि के सूत्रों के ऊपर कालान्तर में अनेक टीकाएँ और भाष्य लिखे गये उसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए अनेक टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्र में आनन्दवर्धन एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनका ग्रन्थ इसी सिद्धान्त को बड़ी वैज्ञानिक रीति से पुष्ट करता है। संभवतः ध्वनि का सिद्धान्त अलंकार शास्त्र में कुछ नवीन नहीं है परन्तु उसे सुव्यवस्थित कर एक नये सम्प्रदाय के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को ही प्राप्त है। राजशेखर का यह कथन नितान्त सत्य है कि ध्वनि को काव्य का तत्त्व बतलाने वाले आनन्दवर्धन ही हैं[1]।

आनन्दवर्धन का काल-निर्णय निश्चित रूप से किया जा सकता है। राजतरंगिणी के अनुसार आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभा पण्डित थे[2]। इस राजा ने ८५५ ई० से ८८३ ई० तक राज्य किया।

अतः आनन्द का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। आनन्द ने उद्भट का नामोल्लेख किया है। अतः इनका काल ८०० ई० के बाद होगा। राजशेखर (९०० ई०) ने इनका निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। अतः इनका साहित्यिक रचना काल ८०० ई० से ९०० ई० के बीच में है जो उपर्युक्त मत से मिलता है।

आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थ के तीन अंश हैं—(१) कारिका, जिनकी संख्या १२९ है। (२) वृत्ति—जो

१—ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य, नासीदानन्दवर्धनः॥

२—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ रा० त० ५।३४

कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या है। (३) उदाहरण। कुछ विद्वानों-(डा० एस० के० डे आदि)—की सम्मति है कि आनन्दवर्धन केवल वृत्ति और उदाहरण के ही रचयिता थे। मूल कारिकाओं का रचयिता कोई अन्य व्यक्ति था जिसका नाम सहृदय था। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार कारिकाकार और वृत्तिकार दो विभिन्न व्यक्ति हैं[1]। परन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है और इसके लिये कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत या अध्याय हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि-विरोधी आचार्यों की समीक्षा की गई है। दूसरे तथा तीसरे में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। चौथे में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है। इस प्रकार से आनन्द ने ध्वनिविरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर व्यञ्जना की स्थापना की है। आनन्द ने स्वयं लिखा है कि ध्वनि का सिद्धान्त कुछ नवीन नहीं है प्रत्युत प्राचीन आचार्यों के द्वारा इसकी व्याख्या की गई थी[2]। परन्तु ध्वनि सम्प्रदाय की नींव डालने का श्रेय आनन्दवर्धनाचार्य को ही प्राप्त है। आनन्द के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(१) अभाववाद, (२) भक्ति (लक्षणा) वाद और (३) अनिर्वचनीयतावाद। इन तीनों वादों का मुँहतोड़ उत्तर देकर आनन्द ने व्यञ्जना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की तथा ध्वनि के विभिन्न प्रकारों का प्रथम बार विवेचन किया। आनन्दवर्धन की शैली बड़ी संक्षिप्त परन्तु सरल है। केवल १२९ कारिकाओं में ध्वनि के समस्त सिद्धान्तों को समझाना सचमुच गागर में सागर भरना है।

आनन्दवर्धन प्रतिभा सम्पन्न बहुमुखी विद्वान् थे। ये एक सुप्रसिद्ध आलंकारिक ही नहीं प्रत्युत कवि भी थे। इन्होंने 'अर्जुनचरित', 'विषमबाण लीला' तथा 'देवी शतक' जैसे सरल काव्यों की रचना की है परन्तु इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' ही है। आनन्द का प्रभाव बाद के आलंकारिकों पर प्रचुर मात्रा में पड़ा है और इन लोगों ने अनेक ग्रन्थ लिखकर आनन्द के ध्वनि सम्प्रदाय का समर्थन किया है।

१—इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखिए—
डा० एस० के० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १११
डा० काणे—इन्ट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण, पृ० ५८–७२

२—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वैः। —ध्वन्यालोक

८—ध्वनि-मार्ग के आचार्य—अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन के पश्चात् ऐसे अनेक आचार्य उत्पन्न हुए जिन्होंने आनन्द के ग्रन्थ पर टीका लिख कर अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण कर ध्वनि का समर्थन किया। इनमें आचार्य अभिनवगुप्त का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने आनन्द के 'ध्वन्यालोक' के ऊपर एक सुप्रसिद्ध टीका लिखी है जिसका नाम विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में सहृदयालोकलोचन, ध्वन्यालोक-लोचन या काव्यालोकलोचन मिलता है। परन्तु यह 'लोचन' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है[1]। अलंकार शास्त्र के इतिहास में इस ग्रन्थ का वही स्थान है जो व्याकरण में पतंजलि के महाभाष्य को और वेदान्त दर्शन में शंकराचार्य के शारीरक भाष्य को प्राप्त है। यह ग्रन्थ टीका ही नहीं है, किन्तु एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है और कहीं-कहीं तो मूल ग्रन्थ से भी अधिक कठिन हो गया है। इस टीका के द्वारा लेखक ने ध्वनि के सिद्धान्त को अत्यन्त पुष्ट किया है तथा आनन्द के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है।

अभिनवगुप्त ने दो टीकायें लिखी थीं—(१) ध्वन्यालोक की 'लोचन' नामक टीका तथा (२) नाट्यशास्त्र के ऊपर अभिनव-भारती। ये दोनों टीकायें अत्यन्त मौलिक तथा प्रसिद्ध हैं। यदि अभिनवभारती न होती तो नाट्य-शास्त्र के गूढ़ रहस्यों का हमें पता न चलता। आचार्य अभिनवगुप्त केवल आलंकारिक ही नहीं थे बल्कि दार्शनिक, कवि और आलोचक भी थे। ये शैव दर्शन के माननीय आचार्य थे। इनका 'तन्त्रालोक' तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोष है। ये काश्मीर के निवासी थे और दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

९—मम्मट

मम्मट के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'काव्य-प्रकाश' है जो एक नितान्त मौलिक तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। न्याय शास्त्र के इतिहास में जो स्थान गङ्गेश उपाध्याय के 'तत्वचिन्ता मणि' को प्राप्त है वही स्थान अलंकार शास्त्र के इतिहास में काव्यप्रकाश का है। अपनी मौलिकता के कारण

१—किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
—लोचन-उद्योत १, अन्तिम श्लोक

यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि मम्मट के बाद के आलंकारिकों की विद्वत्ता की यह निकषग्रावा बन गया तथा इस ग्रन्थ पर टीका लिखना ही पण्डितों का ध्येय बन गया। मम्मट ने आनन्द के ध्वनि-सिद्धान्त की पुष्टि प्रबल प्रमाणों द्वारा की है और इसकी जड़ को दृढ़ कर दिया है।

'काव्य प्रकाश' के तीन अंश हैं—(१) कारिका, जिनकी संख्या १४८ हैं, (२) वृत्ति—जो कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या है और (३) उदाहरण। इनमें से कुछ कारिका भरत से ली गई है। परन्तु कारिकाएँ भरत मुनि की बनाई हुई हैं यह दन्तकथा मात्र है। क्या कारिका और क्या वृत्ति, दोनों के रचयिता मम्मट ही हैं। इस ग्रन्थ में दस उल्लास हैं जिनमें क्रमशः काव्य स्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, चित्र-काव्य, दोष, गुण, शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़, सारगर्भित और पाण्डित्यपूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे अधिक सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं है।

ध्वनि-विरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इस ग्रन्थ में इतने अच्छे ढंग से किया है कि इनके अनन्तर किसी को ध्वनिमार्ग का विरोध करने का साहस ही न रहा। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' की उपाधि दी गई है। इनकी शैली बड़ी संक्षिप्त तथा सूत्रात्मक है। इसीलिये यह ग्रन्थ बड़ा कठिन माना जाता है। काव्य प्रकाश की अनेक टीकाएँ होने पर भी यह ग्रन्थ आज भी दुर्गम बना हुआ है[1]। मम्मट ने दोषों के प्रकरण में अनेक महाकवियों की कविता में दोष दिखलाया है[2] जिससे इनकी विद्वत्ता प्रकट होती है।

ये काश्मीर के निवासी थे। कहा जाता है कि महाभाष्य की टीका 'प्रदीप' के रचयिता कैयट और वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे। भोज-राज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है।

१—काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे,
टीकाः तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

२—काव्यप्रकाशो यवनः काव्याली च कुलाङ्गना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टां एषाऽस्नुते दशाम्॥

१०—रुय्यक

रुय्यक भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८–४९ ई०) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे। इसलिए इनका समय १२वीं शताब्दी का मध्य भाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'अलंकार सर्वस्व' है जिसमें अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का पाण्डित्यपूर्ण वर्णन किया गया है। इनकी अलंकारों की समीक्षा मम्मट की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत है। इनके ग्रन्थ पर जयरथ और समुद्रबन्ध की पाण्डित्य पूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं। इन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी थी परन्तु उसका पता अभी तक नहीं चला। ये ध्वनिमार्ग के अनुयायी थे। यद्यपि इनके ग्रन्थ में अलंकार का ही विशेष वर्णन पाया जाता है।

रुय्यक के पश्चात् हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि अनेक ध्वनिमार्ग के आचार्य हुए जिन्होंने अपने ग्रन्थों में ध्वनि का परिपोषण तथा समर्थन किया है।

ध्वनि-विरोधी आचार्य

पीछे हमने ध्वनिकार आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों का संक्षिप्त वर्णन किया है तथा यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि इन आचार्यों ने किस प्रकार ध्वनि को दृढ़मूल बना दिया। यद्यपि आचार्य मम्मट के बाद ध्वनि ही अलंकार-शास्त्र का सर्वप्रधान तथा सर्वमान्य सम्प्रदाय बन गया था फिर भी इस मार्ग के आलोचकों की कमी नहीं थी। ऐसे ध्वनि-विरोधी आचार्यों में दो का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है—(१) महिमभट्ट और (२) कुन्तक।

११—महिमभट्ट

ध्वनि सिद्धान्त पर आक्रमण करनेवालों में महिमभट्ट अग्रणी हैं। अतः इनका उल्लेख पहले किया गया है। इनको राजानकमहिमभट्ट भी कहते हैं। राजानक उपाधि से ज्ञात होता है कि ये भी काश्मीरी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य और गुरु का श्यामल था। महिमभट्ट के सिद्धान्तों का सारांश 'अलंकार-सर्वस्व' में दिया गया है अतः ये ११०० ई० के पहले हुए थे। महिमभट्ट ने स्वयं 'वक्रोक्ति जीवित' एवं 'लोचन' की आलोचना की है और बाल रामायण से उद्धरण दिया है। अतः इनका

काल १००० ई० के बाद होगा। इससे इनका आविर्भाव काल १००० ई० से ११०० ई० के भीतर समझना चाहिए।

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' है जो अनेक दृष्टियों से विद्वत्तापूर्ण तथा मौलिक ग्रन्थ है। परन्तु खेद का विषय है कि यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। महिमभट्ट के मत का अभी तक जो कुछ पता लगा है वह केवल अन्य ग्रन्थों में उद्धृत इनके मतों पर अवलम्बित है। ये ध्वनि को नहीं मानते। इनका मत है कि अनुमान के भीतर ही ध्वनि का अन्त-र्भाव हो सकता है और इस मत की पुष्टि इन्होंने अपने ग्रन्थ में की है। यद्यपि इनकी तर्क प्रणाली बड़ी सुन्दर है परन्तु इनका सिद्धान्त पश्चात् के आलंकारिकों को मान्य न हो सका, अतः इनके मत का प्रचार अधिक नहीं हुआ।

१२—कुन्तक

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में कुन्तक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं मानते थे। इनका सिद्धान्त यह है कि 'वक्रोक्ति—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः—(किसी वस्तु को स्पष्ट न कहकर व्यंग्य या टेढे ढंग से कहना) ही काव्य की आत्मा है। ये ध्वनि को वक्रोक्ति का ही एक अंग मानते हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्ति जीवित' है जिसे डा० एस० के० डे ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अभी अधूरा ही प्राप्त हुआ है। परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है। परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही समस्त साहित्यिक तत्त्वों को अन्तर्भुक्त करना कुन्तक की मौलिकता का परिचायक है। यद्यपि इनके सम्प्रदाय का विशेष प्रचार नहीं हो सका परन्तु जिस पाण्डित्य और विदग्धता के साथ इन्होंने अपने विषय का प्रतिपादन किया है वह अलंकार शास्त्र में सर्वथा नवीन और मौलिक है।

१३—क्षेमेन्द्र

महाकाव्य के प्रसङ्ग में क्षेमेन्द्र के समय तथा उनके जीवन-चरित का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ आलंकारिक रूप में ही इनका विवरण

प्रस्तुत किया जाता है। जैसा कि लिखा गया है, क्षेमेन्द्र प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे। इन्होंने काव्य के अतिरिक्त अलंकार शास्त्र पर भी ग्रन्थ बनाये हैं जिनके नाम हैं—(१) औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण। कविकण्ठाभरण में काव्य के वाह्य साधनों, कवियों के भेद और उनकी शिक्षा, गुण, दोष और काव्यहेतु आदि का वर्णन है। 'औचित्यविचारचर्चा' इनका मौलिक ग्रन्थ है जिसमें 'औचित्य ही काव्य की आत्मा है' इसका विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है[1]। क्षेमेन्द्र का मत है कि किसी भी वस्तु में औचित्य का सन्निवेश आवश्यक है। औचित्य की परिभाषा में इन्होंने लिखा है कि उचित का जो भाव है उसे 'औचित्य' कहते हैं[2]। यह औचित्य अनेक प्रकार का होता है, यथा—पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया तथा लिङ्ग आदि। औचित्य की यह कल्पना कुछ नवीन नहीं है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में औचित्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए इसे रस का सर्वस्व माना है[3]। परन्तु इस 'औचित्य' को काव्य के प्रत्येक तत्व में दिखलाकर इसे पृथक् सम्प्रदाय का रूप देने का श्रेय महाकवि क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। खेद है कि यह सम्प्रदाय अधिक प्रिय न हो सका।

१४—वामन

वामन ने अलंकार-शास्त्र में एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की जो रीति सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके मत के अनुसार रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति की परिभाषा बतलाते हुए ये कहते हैं कि पदों की विशिष्ट प्रकार की रचना ही रीति है तथा यही विशेष गुण काव्य की आत्मा है[4]।

१—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ औ० वि० च०, कारिका ३

२—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ वही—कारिका ७

३—अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥
—ध्वन्यालोक, पृ० १४९

४—रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा
—का० लं० १।२।६–८

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार सूत्र' है जिसमें इन्होंने अलंकार शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का विवेचन सूत्रों में किया है। इन सूत्रों के ऊपर इन्होंने स्वयं 'वृत्ति' भी लिखी है। कुल सूत्र ३१९ हैं। ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद या अधिकरण हैं जिनमें काव्य के प्रयोजन, रीति, दोष, गुण और अलंकार आदि का वर्णन है। अपने कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों के लिए वामन अलंकार शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। ये रीति—जो पदों की एक विशिष्ट प्रकार की योजना है—को काव्य की आत्मा मानते हैं। ये गुणों को काव्य शोभा के उत्पादक धर्म स्वीकार करते हैं और उस शोभा को बढ़ानेवाले को अलंकार[1]। इस प्रकार गुण और अलंकार में इनके मत से बड़ा अन्तर है। ये गुणों की संख्या २० मानते हैं। वक्रोक्ति और विशेषोक्ति विशिष्ट लक्षण हैं। इस प्रकार वामन ने रीति सम्प्रदाय की स्थापना की।

वामन काश्मीर-नरेश जयापीड़ के मन्त्री थे[2]। जयापीड़ का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है। अतः वामन का भी यही समय है। 'काव्यालंकार-सूत्र' के टीकाकार सहदेव का कथन है कि वामन का यह ग्रन्थ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार मुकुल भट्ट ने दशम शताब्दी में आरम्भ किया[3]।

अलंकार शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय

पीछे हमने अलंकार शास्त्र के प्रमुख आचार्यों का वर्णन संक्षेप में किया है। इनमें से कुछ आचार्यों ने अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में नये सम्प्रदायों की स्थापना की। काव्य की आत्मा क्या है? यह विषय बड़ा विवादास्पद रहा

१—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः,
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः । —का० लं० ३।२।१-८

२—मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

३—वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्त्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्।
—राजशेखर का० मी० नोट्स, पृष्ठ ५

है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं और इन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए नवीन सम्प्रदायों की नींव डाली, जिनमें से प्रधान ये हैं:—

(१) रस सम्प्रदाय—संस्थापक भरत मुनि
(२) अलंकार सम्प्रदाय—संस्थापक भामह
(३) रीति सम्प्रदाय—संस्थापक वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—संस्थापक कुन्तक
(५) ध्वनि सम्प्रदाय—संस्थापक आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय—संस्थापक क्षेमेन्द्र

भरत मुनि रस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। रस सम्प्रदाय का मूल सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र की व्याख्या भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, शंकुक तथा अभिनवगुप्त ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अतः इन आचार्यों के रस विषयक चार विभिन्न मत हैं।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व माना है। भामह के टीकाकार उद्भट और रुद्रट हैं जिन्होंने इसी मत का पोषण किया है। भरत के नाट्य शास्त्र में केवल चार ही अलंकारों—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक—का निर्देश मिलता है परन्तु भामह और उनके अनुयायियों ने अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना की। अलंकारों के स्वरूप में अन्तर पड़ता गया। अलंकारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धान्त भी इन आचार्यों ने निश्चित किये। रुद्रट ने औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकार मूल माना है। एकावलीकार विद्याधर ने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकार का मूल विभेदक मान कर इस विषय की सुन्दर समीक्षा की है। अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य रस के महत्त्व को समझते थे परन्तु उन्होंने इसे पृथक् तत्त्व न मानकर अलंकार का ही एक प्रकार माना है।

रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। इनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। यह रीति है क्या? यह पदों की विशिष्ट रचना

है जो गुणों के कारण से उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसीलिए रीति सम्प्रदाय गुण सम्प्रदाय के नाम से भी पुकारा जाता है।

गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत और अर्थगत मानकर इनकी संख्या २० मानी है। इन्होंने तीन रीतियों को स्वीकार किया है और इनमें गुणों का विद्यमान रहना आवश्यक बतलाया है। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचक दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पड़ती है।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित सिद्ध करने का सारा श्रेय आचार्य कुन्तक को ही है। इसीलिए इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम ही 'वक्रोक्ति जीवित' रक्खा है। वक्रोक्ति का अर्थ है—वक्र उक्ति अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न, अलौकिक चमत्कार युक्त कथन। कुन्तक के शब्दों में यह वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः' है। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं[1]। भामह अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति कहते हैं। भामह के पूर्व भी वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग काव्य में पाया जाता है परन्तु इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय कुन्तक को ही मिला है।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन हैं। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों के ऋणी हैं। वैयाकरणों ने स्फोटरूप मुख्य अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन ने अनेक प्रबल प्रमाणों के बल पर व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की। अभिनवगुप्त ने आनन्द के इसी सिद्धान्त का विशदीकरण किया और मम्मट ने इसकी बड़ी शास्त्रीय व्यवस्था कर इस सम्प्रदाय को शीर्षस्थानीय बना दिया। अलंकार के इतिहास में ध्वनि की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के सिद्धान्त को पाश्चात्य आलंकारिकों ने भी स्वीकार किया है।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। 'औचित्य' की भावना

१—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।
—काव्यालंकार।

रस-ध्वनि आदि समस्त काव्य-तत्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा की ओर संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने इसी काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है। काव्य जगत् की तो चर्चा दूर रही चित्रकला, स्थापत्यकला तथा मूर्तिकला में भी औचित्य एक प्रधान तत्त्व है। इसके पालन बिना समस्त काव्य या कला व्यर्थ है।

उपर्युक्त विभिन्न सम्प्रदायों पर विचार करने से यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि काव्य की आत्मा को पहचानने का प्रयास उत्तरोत्तर अधिक हुआ है। भामह आदि ने अलंकार को काव्यात्मा स्वीकार कर उसके शरीर पर ही ध्यान दिया है। वामन ने गुणों के द्वारा काव्यात्मा को पकड़ने का प्रयास किया है परन्तु आनन्द ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसके रहस्य का उद्घाटन किया है। इस प्रकार इन सम्प्रदायों में क्रमिक विकास दीख पड़ता है।

तंत्र साहित्य

पूर्व मध्ययुग में तंत्र की प्रधानता थी और इसका प्रभाव हिन्दू, बौद्ध तथा जैन साहित्य पर दिखलाई पड़ता है। तंत्र के विषय में लोगों की अनेक भ्रान्त धारणाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु तंत्र का सम्बन्ध योग से बतलाया गया है। तंत्रों की उदात्त भावनाएँ और आचार पद्धति के जान लेने के बाद भ्रान्तियाँ हट जाती हैं। तंत्र शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है। यहाँ तंत्र से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रंथों से है जो यंत्र मंत्र आदि समन्वित एक विशिष्ट साधन मार्ग का उपदेश देते हैं। तंत्र की विशिष्टता, तांत्रिक भाव तथा तांत्रिक आचार का विवेचन इन पृष्ठों में नहीं किया जायगा, यहाँ केवल तंत्र साहित्य के ही विषय में कुछ कहना उपादेय होगा। एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि तंत्र मत के कारण पूर्वमध्य युग में कला तथा साहित्य पर प्रभाव पड़ा था। कला के संबंध में कहा जा चुका है। साहित्य के सम्बन्ध में यहाँ संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जायगा।

तंत्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मणतंत्र, बौद्धतंत्र तथा जैनतंत्र। ब्राह्मणतंत्र में उपास्य देव की अधिकता से अनेक उपविभाग हो गए हैं—वैष्णवतंत्र, शैवतंत्र तथा शाक्ततंत्र आदि। वैष्णवतंत्रों में पांचरात्र को प्राचीन मानते हैं। दशम शतक के लेखकों ने उसका उद्धरण दिया है। उत्पल

की 'स्पन्द कारिका' में इसका उल्लेख पाया जाता है। १०वीं सदी में पांचरात्र श्रुति, पाञ्चरात्र उपनिषद तथा पाञ्चरात्र संहिता के नाम प्रसिद्ध थे। यामुनाचार्य (११वीं सदी) ने उनका नामोल्लेख किया है। पाञ्चरात्र तंत्र विषयक साहित्य विशाल तथा विस्तृत है। अब तक तेरह संहिताएँ प्रकाशित हो सकी हैं। इन्हीं संहिताओं के आधार पर इस तंत्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है।

शैवतंत्र चार माहेश्वर सम्प्रदाय के कारण पाशुपत, शैव, कालामुख तथा कापालिक साहित्य में विभक्त किया गया है। इन्हीं धार्मिक मतों के मूल ग्रंथों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। माहेश्वर तंत्रों के दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण कई उपविभाग किए गए हैं जिनकी गहराई में जाना युक्तिसंगत नहीं होगा। इनका प्रचार कई प्रान्तों में था। पाशुपत मत का प्रसार राजपूताना में हुआ था जिसके संस्थापक लकुलीश की प्रतिमाएँ वहां मिलती हैं। भगवान्शंकर के अठारह अवतारों में लकुलीश को स्थान दिया गया है। पाशुपत साहित्य बहुत कम उपलब्ध हुआ है। माधवाचार्य ने 'नकुलीश-पाशुपत' का नाम लिया है जिससे ग्रंथ में इसके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। शैवसिद्धान्त मत का प्रचार उत्तरभारत में न था। अनेक विद्वानों ने इन तंत्रों के सिद्धान्त पर प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। काश्मीर देश में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञातंत्र का नाम दिया गया था। इनकी 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका'' सम्प्रदाय का मनन शास्त्र है जिसमें पर पक्ष का प्रामाणिक खण्डन कर अद्वैत तत्व का मण्डन है। उत्पल आचार्य (९०० ई०) ने इस ग्रंथरत्न की रचना की थी। उत्पल के प्रशिष्य अभिनवगुप्त (९५०–१००० ई०) का नाम साहित्य तथा दर्शन दोनों में प्रसिद्ध है। 'अभिनव भारती' ने इनका नाम साहित्य में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार तंत्रालोक, तंत्रसार तथा मालिनी विजय आदि तांत्रिक इतिहास ने चिरस्थायी बना दिया है। इनके शिष्य क्षेमराज (९७५–१०२५ ई०) ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी और तंत्र ग्रंथों की टीकाएँ लिखी थीं जो सर्वप्रसिद्ध हैं। शाक्त तंत्रों की संख्या बहुत कम है। लोगों की यही धारणा है कि उनके प्रकाशन से अनर्थ होगा, इसीलिए शाक्ततंत्रों का प्रकाशन बहुत कम हुआ है।

शाक्त-तंत्रों की संख्या हजारों से ऊपर है। तंत्र साहित्य विशाल, व्यापक

तथा महत्वपूर्ण है। इस विशाल साहित्य का थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। व्यापकता की दृष्टि से यह नितान्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

बौद्धतंत्र

बुद्ध धर्म में मंत्र-तंत्र का उदय किस काल में हुआ, यह एक विषम समस्या है। इसके सुलझाने में विद्वान एकमत नहीं हैं। बुद्ध धर्म में महायान के विकास का नाम 'मंत्रयान' है जिसका अग्रिम विकास 'वज्रयान' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। सौम्य अवस्था का नाम 'मंत्रयान' है तथा उग्ररूप को 'वज्रयान' कहते हैं। आगे चलकर वज्रयान, सहजयान तथा काल चक्रयान के नाम से तंत्र का विभाग किया जाता है। वज्रयान का सम्बन्ध मगध तथा नालंदा से बहुत अधिक रहा। वज्रयानी साहित्य अपने मूल रूप में अप्राप्य है। तिब्बती साहित्य में तंजूर नामक विभाग में इन ग्रंथों का अनुवाद आज भी उपलब्ध है। वज्रयान आचार्यों की भाषा—रचनाएँ डा० हर प्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध गान ओ दोहा" के नाम से प्रकाशित किया है। वज्रयान के साथ चौरासी सिद्धों के नाम सम्बन्धित किए जाते हैं। ९वीं सदी से १२वीं सदी तक सिद्धाचार्यों ने रचनाएँ की थीं।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि बौद्धतंत्र के प्रभाव के कारण ही हिन्दू ग्रंथकारों ने तांत्रिक साहित्य का नाम आगम तथा यामल रक्खा था। उनके कथनानुसार उन तंत्रों में सांसारिक उत्पत्ति, नाश, मंत्र तथा पुण्य-लोक में देवताओं के निवास की कथा अवश्यमेव रहती है। आगम तथा यामल में प्रधानत: देवी-देवताओं के पूजा-प्रकार, मंत्रों की आवृत्ति, यौगिक ध्यान आदि-आदि विषयों का समावेश किया गया है। इस तरह तंत्र-मंत्र के विषय में विभिन्न मत हैं। कोई तंत्र को बाहरी प्रभाव मानते हैं परन्तु भारतीय साहित्य के अवलोकन के बाद वह मत मान्य नहीं हो सकता।

दार्शनिक साहित्य

(१) न्याय (ब्राह्मण)

भारतीय दर्शन—आगम और निगम—दो भागों में विभक्त है। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके साधन-भूत उपायों को आगम सिखलाता है। आगमों का भी भारतीय दर्शन में

उतना ही महत्त्व है जितना निगमों का। आगमों का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। यहाँ निगम का वर्णन किया जाता है।

भारतीय दर्शन 'षड्दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। विकास-क्रम की दृष्टि से इसके प्रधान छः सम्प्रदाय हैं—(१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) मीमांसा और (६) वेदान्त। मीमांसा को पूर्व मीमांसा और वेदान्त को उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। इन षड्दर्शनों में न्याय का सर्वप्रथम स्थान है। यह दर्शन की मूल भित्ति समझा जाता है। इसके तत्वों का अनुसन्धान किये बिना दर्शन शास्त्र में प्रवेश होना कठिन है। इसीलिए भारतीय दर्शन में न्याय का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है[१]। यहाँ न्याय दर्शन का विवेचन सर्वप्रथम किया जाता है।

१—उद्योतकर

न्याय दर्शन के ऊपर महर्षि गौतम का न्याय-सूत्र सबसे प्राचीन और मूल ग्रन्थ है। बाद के आचार्यों ने इसी ग्रन्थ की टीका तथा भाष्य लिख कर इस शास्त्र को पल्लवित किया है। विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी में महर्षि वात्स्यायन ने इन सूत्रों के ऊपर न्यायभाष्य लिखा जो इनके नाम से 'वात्स्यायन भाष्य' भी कहा जाता है।

न्याय-दर्शन में उद्योतकर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के कुतर्कों का खण्डन कर ब्राह्मण न्याय की निर्दोषता सिद्ध करने का श्रेय आपको ही है। आपने इसी उद्देश्य से अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय-वार्त्तिक' की रचना की[२]। सुबन्धु ने अपनी 'वासवदत्ता' में "न्याय-संगतिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्" लिखकर न्याय जगत् में उद्योतकर की विमल कीर्ति की सूचना दी है। यह सुप्रसिद्ध है कि दिङ्नाग के विख्यात टीका-कार धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस दिङ्नागीय प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्तम्' पद जोड़ कर उद्योतकर के प्रबल खण्डन से इसे बचाने का

१—प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता॥
—न्या० भा० १।१।१

२—यदक्षपादप्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्या० वा०

श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अतः धर्मकीर्ति (७वीं शताब्दी का द्वितीय भाग) और सुबन्धु (षष्ठ शतक का मध्य भाग) से उद्योतकर का पूर्ववर्ती होना निश्चित है। दिङ्नाग के प्रबल आक्रमणों से बचाकर क्षीणप्रभ न्यायशास्त्र के विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ़ और पाण्डित्यपूर्ण है।

२—वाचस्पति मिश्र

भारतीय दर्शन के इतिहास में वाचस्पति मिश्र का नाम सदा अमर रहेगा। षड्दर्शन का कोई भी अंग ऐसा नहीं जिसपर आपकी प्रगाढ़ विद्वत्ता की छाप न पड़ी हो। आपने अलौकिक प्रतिभा और बहुमुखी पाण्डित्य प्राप्त किया था। संभवतः वैशेषिक दर्शन को छोड़कर समस्त दर्शनों पर आपने गंभीर ग्रन्थों की रचना की है। इसी असाधारण विद्वत्ता के कारण 'वाचस्पति' नाम पाण्डित्य का पर्यायवाची शब्द बन गया है। ये मिथिला के निवासी थे और अपने अगाध ज्ञान के कारण 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहे जाते थे। वाचस्पति मिश्र के समय में, पण्डित मण्डली की उपेक्षा के कारण, 'न्याय वार्तिक' का गूढ़ार्थ समझना कठिन हो गया था। अतः उद्योतकर की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए इन्होंने 'तात्पर्य-टीका' का निर्माण किया। यह बड़ा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इनके 'न्याय सूची निबन्ध' की रचना सं० ८९८ वि० (८४१ ई०) में हुई थी[1]। इनकी 'तात्पर्य टीका' ने वास्तव में न्याय के प्रमेयों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई कि ये 'तात्पर्याचार्य' के नाम से न्याय-जगत् में विख्यात हो गये।

३—जयन्त भट्ट

इनका ग्रन्थ 'न्याय-मञ्जरी' प्रसिद्ध है जो गौतम-सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला वृत्ति है। इस ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख करने से इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इन्होंने अपने विरोधियों के—विशेषकर चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा और वेदान्तमतों का खण्डन प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा रमणीय भाषा में किया है।

१—न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियाँ मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

४—भासर्वज्ञ

रत्नकीर्ति (१००० ई०) ने 'अपोहसिद्धि' में इनके न्यायभूषण को उद्धृत किया है तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरुद्ध व्यभिचारी' दोष को ग्रहण किया है। अतः इनका समय नवीं शताब्दी का अन्त है। इनकी एक ही रचना 'न्यायसार' उपलब्ध है जो इन्हें न्याय जगत् में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ और परार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास और दृष्टान्ताभास का विवरण तथा आत्मा की आनन्दोपलब्धि रूप मुक्ति की कल्पना—इनकी ये कतिपय कल्पनाएँ नैयायिक जगत् में नितान्त अपूर्व हैं।

५—उदयनाचार्य

न्याय जगत् में उदयनाचार्य की कीर्ति सूर्य के समान प्रकाशमान है। बौद्ध न्याय में जो स्थान दिङ्नाग को प्राप्त है वही स्थान ब्राह्मण न्याय में उदयनाचार्य का है। ये बड़े उद्भट तथा अक्खड़ विद्वान् थे। अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करना इनके बाँयें हाथ का खेल था। इन्होंने बहुमुखी प्रतिभा, तीक्ष्ण बुद्धि, प्रकाण्ड पाण्डित्य और लोकोत्तर शेमुषी प्राप्त की थी। ये व्याकरणशास्त्र, न्याय और आन्वीक्षिकी के धुरन्धर विद्वान् थे। इनका यह दावा था कि इन शास्त्रों के विषय में हम जो कुछ कहते हैं वही ठीक है। "जिस प्रकार सूर्य जिस दिशा में उदय होता है वही पूर्व दिशा कहलाती है उसी प्रकार उदयनाचार्य जो कुछ कहें वही सत्य है[1]।" इनकी यह गर्वोक्ति अक्षरशः सत्य है। सचमुच इनको अपने पाण्डित्य का बड़ा गर्व था जो उचित ही था।

यह कथा है कि एक बार ये जगन्नाथपुरी में श्री जगन्नाथजी के दर्शन के लिए गए। परन्तु संयोग से उस समय मन्दिर के पट बन्द थे। उदयनाचार्य ने बहुत देर तक प्रतीक्षा की परन्तु मन्दिर के पट नहीं खुले; तब इन्हें बड़ा क्रोध आया और इन्होंने आवेश में आकर जगन्नाथजी को सम्बोधित करते हुए कहा "तुम अपने ऐश्वर्य के मद में मतवाले हो रहे

१—वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा,
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा,
नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः॥

हो और मेरा तिरस्कार कर रहे हो। जिस समय बौद्ध लोग तुम्हारी सत्ता का खण्डन करने लगेंगे उस समय तुम्हारी स्थिति मेरे ही अधीन होगी[1]।" सुना जाता है कि इतना कहते ही मन्दिर का द्वार खुल गया और भगवान् ने साक्षात् दर्शन दिया। इस कथा से उदयनाचार्य का अक्खड़ स्वभाव और बौद्धों के साथ इनके निरन्तर संघर्ष का पता चलता है।

उदयनाचार्य ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। 'लक्षणावली' के निर्माण का काल ९०६ शकाब्द (९८४ ई०) है[2]। इनकी 'तात्पर्य परिशुद्धि' वाचस्पति की 'तात्पर्यटीका' की बहुमूल्य व्याख्या है। परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता है मौलिक चिन्तन। उदयन का 'आत्मतत्वविवेक' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसका विख्यात नाम 'बौद्धधिक्कार' है। इसमें बौद्धों के क्षणभंग और शून्यवाद का खण्डन कर न्याय-सम्मत आत्मतत्व का यथार्थ निरूपण किया गया है। परन्तु 'न्याय कुसुमाञ्जलि' उदयन के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें सांख्यादि वैदिक तथा बौद्धादि वेद बाह्य दर्शनों के ईश्वर-निषेध-बोधक प्रमाणों का न्यायपक्ष से बड़ा मार्मिक तथा विद्वतापूर्ण खण्डन है। ईश्वर-सिद्धि के विषय में ऐसा तर्क प्रधान ग्रन्थ न्याय-जगत् में दूसरा नहीं है। उदयन का समय दशम शताब्दी का उत्तरार्ध है।

६—गङ्गेश उपाध्याय

उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने एक ऐसे नैयायिक रत्न को जन्म दिया, जिसने प्राचीन न्याय की धारा को पलट कर 'नव्यन्याय' को जन्म दिया। इन विद्वान् शिरोमणि का नाम गङ्गेश उपाध्याय था जिनकी रचना 'तत्त्वचिन्तामणि' न्याय के इतिहास में सचमुच एक नवीन युग का प्रवर्तक ग्रन्थ है। सच तो यह है कि मध्यकालीन न्याय के इतिहास में जो स्थान दिङ्नाग का है, वही स्थान नव्यन्याय के इतिहास में गंगेश को प्राप्त है। इनका 'तत्वचिन्तामणि' नव्यन्याय का मूलभूत ग्रन्थ है जिसकी कालान्तर में संभवतः पचासों टीकायें लिखी गईं।

गङ्गेश ने पुराने पदार्थशास्त्र को सर्वाङ्ग-परिपूर्ण प्रमाण शास्त्र के

१—ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
समुपारूढेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

२—तर्काम्बराङ्क-प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

रूप में परिवर्तित कर दिया। अतः अब से प्रमाण के ऊपर विशेष मीमांसा की जाने लगी। नव्यन्याय की स्थापना के साथ ही गंगेश ने एक नवीन नैयायिक शैली की उद्भावना की। इन्होंने अवच्छेदक, अवच्छेद्य, निरूपक, निरूप्य, अनुयोगी तथा प्रतियोगी आदि विचारमापक शब्दावली की उद्भावना करके भाषा का जो शास्त्रीय विशुद्ध रूप निर्धारित किया वह वास्तव में एक श्लाघनीय कार्य है। गंगेश ने खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष (१२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग) का उल्लेख कर उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है। जयदेव (पक्षधर मिश्र) ने—जिनका समय १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है—इनके 'तत्वचिन्तामणि' के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी है। इस प्रकार इनका समय श्रीहर्ष तथा जयदेव के मध्य में अर्थात् १३वीं शताब्दी के आरम्भ में समझना चाहिए।

इस समय के पश्चात् पाण्डित्य की कसौटी उदयन तथा गंगेश के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर टीका या व्याख्या लिखनी बन गई। गंगेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय अपने पिता के समान ही उद्भट नैयायिक थे। इन्होंने उदयन के ग्रन्थों, गंगेश के 'चिन्तामणि' तथा वल्लभाचार्य के ग्रन्थ 'न्याय लीलावती' पर 'प्रकाश' नामक टीकाओं का निर्माण किया। जयदेव ने—जिनका प्रसिद्ध नाम पक्षधर मिश्र था—चिन्तामणि के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी। जयदेव अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। तत्कालीन पण्डितों में इनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं था[1]। इसी प्रकार पश्चात् के नैयायिकों ने 'चिन्तामणि' के ऊपर अनेक व्याख्याएँ लिखीं[2]।

वैशेषिक दर्शन

विद्वानों में यह कहावत प्रसिद्ध है कि कणाद और पाणिनि के शास्त्र सब शास्त्रों के उपकारक हैं[3]। शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण के समान, पदार्थों का स्वरूप निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपा-

---

१—शंकरवाचस्पत्योः सदृशौ शंकरवाचस्पती एतौ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न भूतले क्वापि॥

२—इनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—
डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक।

३—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।

देय है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, कणाद तथा औलूक्य दर्शन है। अन्तिम दोनों नाम इस शास्त्र के आद्य प्रवर्तक उलूक ऋषि के पुत्र महर्षि कणाद के नाम पर रक्खे गये हैं। संभवतः 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना करने के कारण काणाद दर्शन को 'वैशेषिक' संज्ञा प्राप्त हुई है[1]।

वैशेषिक दर्शन के आदि आचार्य कणाद हैं जिन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना कर इस दर्शन की नींव डाली। वायुपुराण में ये प्रभास निवासी सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार बतलाये गये हैं[2]। आचार्य प्रशस्तपाद ने इन सूत्रों के ऊपर 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक टीका लिखी है जो वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारणतया यह प्रशस्तपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तव में यह काणाद सूत्रों का भाष्य न होकर एक मौलिक ग्रन्थ है जिसमें ग्रन्थकार ने वैशेषिक सिद्धान्त के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रामाणिकरूप से प्रतिपादित किया है। सूत्रों के बाद वैशेषिक दर्शन के इतिहास में सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ यही प्रशस्तपाद भाष्य माना जाता है। प्रशस्तपाद-भाष्य के आधार पर 'चन्द्र' नामक किसी आचार्य ने 'दशपदार्थी शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय तथा विशेष—इन षट् पदार्थों के साथ शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष और अभाव ये चार नये पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं।

वैशेषिक दर्शन न्याय-दर्शन के साथ अनेक सिद्धान्तों में समानता रखने के कारण 'समान तन्त्र' कहा जाता है। इसमें सत्य की जो मीमांसा प्रस्तुत की गई है वह भौतिक विज्ञान की दृष्टि को सामने रखकर की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है, तो वैशेषिक दर्शन का मुख्य तात्पर्य वाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा करना है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार ये सात पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। 'आत्मा का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मा से भिन्न पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न हो।' तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य के जानने पर ही हो सकती है।

१—व्यासभाष्य १।४९

२—न्यायकन्दली—विन्ध्येश्वरी द्विवेदी की प्रस्तावना, पृ० ७-१०

द्रव्यों की संख्या नव है तथा इन नव द्रव्यों के आश्रित धर्म हैं गुण और कर्म। द्रव्य, गुण तथा कर्म के समान धर्मों के योग का नाम सामान्य है तथा वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान 'विशेष' से होता है। सामान्य तथा विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए 'समवाय' नामक नित्य संबंध की सत्ता मानी गई है। इन षट् भाव-पदार्थों के समान ही 'अभाव' भी वास्तव तथा महत्त्वशाली है। ये ही सप्त पदार्थ वैशेषिक दर्शन के मूल हैं। इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में कारण है। संक्षेप में वैशेषिक दर्शन का यही वर्णन है।

(१) व्योमशिवाचार्य

वैशेषिक दर्शन पर कणाद-सूत्रों और प्रशस्तपादभाष्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है। व्योमशिवाचार्य ने प्रशस्तपाद के भाष्य के ऊपर 'व्योमवती' नाम की टीका लिखी है जो सबसे प्राचीन है। इनके नाम से पता चलता है कि ये संभवतः दक्षिण के शैवाचार्य थे। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कह कर तथा राजशेखर ने 'न्यायकन्दली' की टीका में भाष्य के टीकाकारों में सबसे पहले इन्हीं का नामोल्लेख किया है। अतः ये दशम शतक के पूर्व में विद्यमान थे। शिवादित्य तथा वल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण माने हैं परन्तु व्योमशिवादित्य शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

(२) उदयनाचार्य

ये वही सुप्रसिद्ध आचार्य हैं जिनकी, 'न्यायकुसुमाञ्जलि' न्याय-दर्शन के ऊपर प्रामाणिक ग्रन्थ है। वैशेषिक दर्शन के रहस्यों के उद्घाटन के लिए इन्होंने 'किरणावली' नामक एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य की टीका है। उदयन ने अपने ग्रन्थ में श्रीधर के सिद्धान्तों की आलोचना की है इससे जान पड़ता है कि श्रीधर ने अपनी 'न्यायकन्दली' पहले लिखी, अनन्तर उदयन ने 'किरणावली' की रचना की। 'किरणावली' बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें वरदराज (११ शतक), वादीन्द्र (१३ शतक), की 'रससार', वर्धमानोपाध्याय (१३वीं शताब्दी) की किरणावली-प्रकाश और पद्मनाभ

मिश्र (१६ शतक) की 'किरणावली भास्कर' टीकाएँ प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) श्रीधराचार्य

इनके पिता का नाम बलदेव और माता का नाम अब्बोका देवी था। ये गौड़देश के भूरिसृष्टि नामक गाँव के निवासी थे। इन्होंने प्रशस्तपाद भाष्य के ऊपर 'न्यायकन्दली' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है जिसकी रचना ९१३ शक (९९१ ई०) में हुई[१]। इनका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा विस्तृत था तथा इन्होंने पैनी प्रज्ञा प्राप्त की थी। 'न्यायकन्दली' वैशेषिक सिद्धान्तों को समझने के लिए एक उपयोगी तथा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। श्रीधराचार्य के 'अन्धकार' विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक मान्य दार्शनिकों ने की है। 'न्यायकन्दली' की टीकाओं में पद्मनाभ मिश्र का 'न्यायकन्दली सार' तथा जैन विद्वान राजशेखर की 'न्यायकन्दली पञ्जिका' प्रसिद्ध है।

(४) वल्लभाचार्य

इनकी 'न्याय लीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आगार है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि 'किरणावली' के समान ही विशिष्ट है तथा उसी के समान अनेक टीकाग्रन्थ से मण्डित होने का इसे भी सौभाग्य प्राप्त है। आचार्य वल्लभ के जन्म स्थान का पता नहीं चलता, परन्तु वादीन्द्र के ग्रन्थ 'रससार' (१२२५ ई०) में उल्लिखित होने के कारण इनका समय १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जा सकता है। ये शुद्धाद्वैत के प्रतिष्ठापक सुप्रसिद्ध आचार्य वल्लभ से नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। 'न्याय लीलावती' के ऊपर लिखी गई सात टीकाओं का पता चलता है जिनमें वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावतीप्रकाश' तथा पक्षधर मिश्र का 'न्याय-लीलावती-विवेक' प्रसिद्ध तथा प्राचीन हैं।

(५) शिवादित्यमिश्र

इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सप्तपदार्थी' है जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का नैयायिक सिद्धान्तों के साथ मनोरम समन्वय किया गया है। महाकवि श्री हर्ष ने अपने 'खण्डन खण्डखाद्य' में इनके प्रमा-लक्षण का खण्डन किया है[२]।

१—अधिकदशोत्तर नवशत शाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।
श्री पाण्डुदासयाचित–भट्ट–श्री–श्रीधरेणेयम्॥

२—तेषु तावत् 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा इत्युक्तम्' (खण्डन)।

अतः 'सप्तपदार्थी' की रचना १२वीं शताब्दी में हुई। इन्होंने उदयन की किरणावली का पर्याप्त उपयोग अपने ग्रन्थ में किया है। इन्होंने 'अभाव' का सप्तम पदार्थ के रूप में वर्णन किया है। 'सप्त पदार्थों' के अतिरिक्त 'लक्षणमाला' नामक इनका एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है।

सांख्य शास्त्र

भारतीय दर्शन में सांख्य शास्त्र का एक विशेष महत्त्व है। आस्तिक दर्शनों में यही ऐसा शास्त्र है जो ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है। इस दर्शन के रचयिता का नाम कपिल मुनि है। ये 'आदिविद्वान्' की उपाधि से विभूषित हैं। इनकी दो रचनाओं का पता चलता है—(१) तत्त्व समास, (२) सांख्यसूत्र। विद्वानों का मत है कि रचनाएँ कुछ प्राचीन नहीं हैं। डा० कीथ ने तो तत्त्वसमास का रचनाकाल १३८० ई० के बाद माना है जो नितान्त अशुद्ध है। सांख्यसूत्रों को भी अर्वाचीन मानना ठीक नहीं है। कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि थे। आसुरि के शिष्य पञ्चशिख सांख्य दर्शन को सुसम्बद्ध तथा प्रतिष्ठित करनेवाले प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने 'षष्टितन्त्र' का निर्माण किया था।

सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इनकी 'सांख्य कारिका' सबसे अधिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध तथा प्राचीन पुस्तक है। इनका समय ईसा का प्रथम शताब्दी माना जाता है। सांख्यकारिका बड़ी सरस, सुन्दर पुस्तक है जिसमें सांख्यदर्शन के समस्त सिद्धान्त बड़ी ही समास शैली में लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में परमार्थ ने छठी शताब्दी में किया था। इसकी अनेक टीकाएँ हैं जिनमें माठरवृत्ति सर्वप्राचीन है।

१—गौडपाद

आचार्य गौडपाद का आविर्भाव काल सप्तम शतक के आसपास माना जाता है। इन्होंने सांख्यकारिका के ऊपर प्रामाणिक भाष्य लिखा है जो इन्हीं के नाम पर 'गौड़पाद भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। गौड़पादभाष्य और माठरवृत्ति में अनेक स्थलों पर भाव और भाषागत विचित्र समानताएं हैं। ये माण्डूक्य कारिका के रचयिता आचार्य गौड़पाद से भिन्न हैं या अभिन्न, इस प्रश्न का समाधान अभी तक उचित रीति से नहीं हुआ है।

२—वाचस्पति मिश्र

इन्होंने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक ग्रन्थ लिखा है, जो सांख्य सिद्धान्तों को जानने के लिए वास्तव में कौमुदी के समान है।

इस समय के पश्चात् भी सांख्य-शास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना होती रही जिनमें शंकराचार्य की 'जयमंगला' (१४ शतक), नारायण तीर्थ (१७ शतक) की चन्द्रिका, नरसिंहस्वामी का अप्रकाशित 'सांख्यतरुवसन्त' तथा विज्ञान भिक्षु (१६वीं शताब्दी) का भाष्य प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

योग शास्त्र

भारतीय दर्शनों में योगदर्शन व्यावहारिक दर्शन है। हमारे ऋषियों ने इसे केवल ज्ञान का साधन ही नहीं माना था बल्कि वे इसका प्रयोग दैनिक व्यवहार में करते थे। चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है—'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः'। अतः जिस शास्त्र के द्वारा चित्त की अनेक वृत्तियों का एकीकरण होता है उसे योग कहते हैं।

योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि हैं। ये महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि से अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ का नाम योग-सूत्र है जिसमें ४ पाद हैं और सूत्र संख्या १९५ है। इसमें समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य ये चार पाद हैं जिनमें योगशास्त्र का विस्तृत वर्णन किया गया है।

योगसूत्रों के ऊपर 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। योगसूत्रों में निहित गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में यह नितान्त आवश्यक है। ये पुराणों के कर्त्ता व्यास से भिन्न व्यक्ति जान पड़ते हैं।

व्यासभाष्य के गूढ़ार्थ को समझाने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्व वैशारदी' और विज्ञानभिक्षु ने 'योग-वार्तिक' की रचना की। वाचस्पति की विद्वत्ता के अनुरूप ही यह टीका नितान्त प्रमेय बहुला तथा गूढ़ार्थ प्रकाशिका है। राघवानन्द सरस्वती ने 'पातञ्जल रहस्य' के नाम से तत्त्ववैशारदी की टीका लिखी है। ये राघवानन्द विश्वेश्वर भगवत्पाद के शिष्य अद्वयभगवत्पाद के शिष्य थे।

विज्ञानभिक्षु का योगवार्तिक व्यासभाष्य के विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपितु 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता

हैं। विज्ञानभिक्षु ने 'योगसार संग्रह' में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है।

योगसूत्र की अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें भोजकृत 'राजमार्तण्ड', भावागणेशकृत 'वृत्ति', रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', सदाशिव सरस्वती का 'योगसुधाकर' तथा नागोजी भट्ट की लघ्वी और बृहती वृत्तियाँ नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में राजमार्तण्ड 'भोजवृत्ति' के नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। नागेश की बड़ी वृत्ति योग-वार्तिक के आधार पर लिखी गई है।

योगदर्शन के ऊपर इतना ही साहित्य मिलता है जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा नितान्त स्वल्प है।

मीमांसा

मीमांसा शब्द का अर्थ है जिज्ञासा। इसकी उत्पत्ति सुदूर प्राचीनकाल में हुई, क्योंकि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में इस शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (७।५।७।१) ताण्ड्य ब्राह्मण (६।५।९) और छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।१) में मीमांस् धातु का विचार करने के अर्थ में प्रयोग मिलता है। इसी समीक्षा के कारण मीमांसा का प्राचीन नाम 'न्याय' है। मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं। मीमांसा का विषय धर्म का विवेचन है[1] तथा इसका प्रधान उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के विधानों में दृश्यमान विरोधों का परिहार (एक वाक्यता) उत्पन्न करना है। वेद के द्वारा विहित इष्ट साधन धर्म और अनिष्ट साधन अधर्म है। वेद स्वयं नित्य हैं। किसी के द्वारा इनकी रचना नहीं हुई। अतः ये अपौरुषेय हैं। इस विश्व में कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है। आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफलों का दाता मानते हैं परन्तु जैमिनि की सम्मति में यज्ञ से ही तत् तत् फलों की उपलब्धि होती है। अनुष्ठान तथा फल के समयों में अन्तर दिखाई पड़ता है। कर्म का अनुष्ठान आज हो रहा है, परन्तु उसका फल—स्वर्ग आदि—कालान्तर में सम्पन्न होगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' का सिद्धान्त स्थिर किया है। कर्मों से उत्पन्न होता है

१—धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।

—श्लो० वा० ११

अपूर्व (पुण्य और अपुण्य) तथा अपूर्व से उत्पन्न होता है फल। मीमांसकों ने शब्द की नित्यता पर पूर्णतया मौलिक विचार किया है। कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' तथा प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शब्दार्थ को समझने के लिए नितान्त माननीय है। 'बाल मनोविज्ञान' की जानकारी की भी बड़ी सामग्री मीमांसा-ग्रन्थों में भरी पड़ी है। विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए मीमांसा ने जिस पद्धति को खोज निकाला है, वह बड़ी उपादेय है। जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से तथा प्रमाण का ज्ञान न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा के ही द्वारा होता है। मीमांसा के तात्पर्य-विषयक सिद्धान्तों का उपयोग धर्मशास्त्र में अर्थनिर्णय के लिए आज भी किया जाता है। बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड पर किये गये आक्षेपों को ध्वस्त करने का सारा श्रेय इन्हीं मीमांसकों को प्राप्त है। यदि ये मीमांसक अपने अनूठे ग्रन्थों के द्वारा कर्मकाण्ड की इतनी मार्मिक मीमांसा नहीं करते तो वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति लोगों की जो आस्था और श्रद्धा इस समय दिखलाई पड़ती है वह न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती।

मीमांसा दर्शन का इतिहास बड़ा ही रोचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके तीन विभाग किये जा सकते हैं। मीमांसा शास्त्र में कुमारिलभट्ट एक नवीन युग के उद्भावक माने जाते हैं। अतः इन्हीं को केन्द्र मान कर यह तीन विभाग इस प्रकार किये जा सकते हैं—

(१) पूर्व कुमारिल-काल

(२) कुमारिल-काल

(३) पश्चात कुमारिल-काल।

पूर्व-कुमारिल-काल में अनेक आचार्य उत्पन्न हुए जिन्होंने इस शास्त्र की नींव डाली तथा इसे दृढ़मूल बनाया। महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं जिनका 'मीमांसा-सूत्र' इस दर्शन का मूलभूत ग्रन्थ है। यद्यपि जैमिनि ने अपने पूर्ववर्त्ती तथा समसामयिक अनेक आचार्यों—आत्रेय, आश्मरथ्य, कार्ष्णाजिनि, बादरि, ऐतिशायन, कामुकायन, लाबुकायन, एवं आलेखन का उल्लेख किया है। परन्तु इन आचार्यों के ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। जैमिनि ने १६ अध्यायों में मीमांसा दर्शन के सूत्रों की रचना की है जिनमें पहले के १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के नाम से और

अन्तिम चार अध्याय 'संकर्षकाण्ड' या 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मीमांसा के सब से प्राचीन वृत्तिकार आचार्य उपवर्ग हैं जिनके सामान्य मत का उल्लेख शबर स्वामी ने मीमांसा भाष्य में तथा शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में किया है। इन्होंने पूर्व और उत्तर दोनों मीमांसाओं पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखा था। इनका समय १००-२०० ई० के बीच माना जाता है। इसी समय भवदास ने भी एक वृत्ति लिखी थी जिसका उल्लेख कुमारिल ने किया है। शबर स्वामी (२०० ई०) ने जैमिनि के सूत्रों के ऊपर अत्यन्त प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा है जिसकी तुलना पतञ्जलि के महाभाष्य से की जा सकती है। गंभीरता तथा विद्वत्ता की दृष्टि से इनका भाष्य अनूठा है तथा मीमांसा-सूत्रों के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिए यह आवश्यक ग्रन्थ है। पूर्व-कुमारिल-काल के ये ही प्रधान आचार्य हैं।

मीमांसा में तीन विशिष्ट मत पाये जाते हैं—(१) भाट्टमत, (२) गुरुमत और (३) मुरारिमत। इन तीनों के उद्भावक क्रमशः कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि हैं जिनका वर्णन इसी क्रम से प्रस्तुत किया जाता है।

भाट्ट मत के आचार्य

(१) कुमारिल भट्ट

कुमारिल भट्ट प्रकाण्ड पण्डित, प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति तथा एक मेधावी पुरुष थे। वेदान्त दर्शन के इतिहास में जो स्थान शंकराचार्य का है वही स्थान मीमांसा के इतिहास में कुमारिल को प्राप्त है। मीमांसा दर्शन में ये एक नये सम्प्रदाय के संस्थापक हैं जो इन्हीं के नाम पर भाट्ट मत या भाट्ट सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस दर्शन के इतिहास में कुमारिल युग (६००–९०० ई०) वास्तव में स्वर्ण युग के नाम से अभिहित होने योग्य है। कुमारिल प्रगाढ़ पण्डित ही नहीं थे प्रत्युत शंकर की भाँति जनमत को प्रभावित करनेवाले नेता थे। बौद्ध धर्म को भारत से नष्ट करने का श्रेय शंकर के अतिरिक्त इन्हीं आचार्य को प्राप्त है। कहा जाता है कि कुमारिल और शंकर सामयिक थे। कुमारिल जिस समय त्रिवेणी के तट पर प्रयाग में; तुषाग्नि में, अपने शरीर को जलाकर भस्म कर रहे थे उस समय शंकराचार्य ने उनका दर्शन किया और अपनी श्रद्धा-

ञ्जलि उन्हें अर्पित की। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कुमारिल का काल शंकर से पहले सिद्ध होता है।

कुमारिल दक्षिण भारत के निवासी थे, क्योंकि ये द्राविड़ी भाषाओं से परिचित जान पड़ते हैं। आचार्य शंकर के साथ कुमारिल ने बौद्धों को परास्त करके वैदिक धर्म की मर्यादा की रक्षा की और इसे पुनः संस्थापित किया। इन्होंने शाबर भाष्य पर तीन पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ लिखे जो मीमांसा दर्शन के आधारस्तम्भ हैं। (१) श्लोकवार्तिक—यह कारिकाबद्ध विपुलकाव्य ग्रन्थ भाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद का व्याख्यान है। (२) तन्त्रवार्तिक—यह पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक की गद्यमयी व्याख्या है। (३) टुप्टीका—यह अन्तिम नव अध्यायों के ऊपर लिखी गई संक्षिप्त टिप्पणी है। इनके अतिरिक्त कुमारिल द्वारा 'वृहट्टीका' और 'मध्यटीका' नामक ग्रन्थों की रचना भी प्रसिद्ध है परन्तु ये ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। पाण्डित्य की दृष्टि से कुमारिल के उपर्युक्त ग्रन्थ असाधारण हैं। इनमें बौद्धों के सिद्धान्तों की—विशेषकर दिङ्नाग के 'प्रमाण समुच्चय' की—सुन्दर समीक्षा कर मीमांसा-दर्शन के मान्य सिद्धान्तों की यथार्थता दिखलाई गई है। कुमारिल का समय ७वीं शताब्दी का अन्त और ८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

(२) मण्डन मिश्र

कुमारिल ने अनेक धुरन्धर शिष्यों को उत्पन्न किया जिन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखकर उनके मत की पुष्टि की और इस प्रकार उनके सम्प्रदाय को चलाया। ऐसे शिष्यों में मण्डन मिश्र और उम्बेक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

कुमारिल भट्ट के सर्वप्रधान शिष्य मण्डन मिश्र थे। ये संभवतः मध्य प्रान्त के रहने वाले तथा बड़े समृद्धिशाली पुरुष थे। इनकी स्त्री प्रकाण्ड विदुषी थी। यह प्रसिद्ध है कि जब शंकराचार्य से मण्डन का शास्त्रार्थ हुआ तब यही मध्यस्थ थी। मण्डन मिश्र जब शास्त्रार्थ में शंकराचार्य के द्वारा परास्त कर दिये गये तब इसने काम-शास्त्र के विषय में शास्त्रार्थ करने के लिए शंकर को चुनौती दी थी और शंकर को उस समय अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। 'शंकर दिग्विजय' में मण्डन तथा शंकर के शास्त्रार्थ का बड़ा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है जिससे जान पड़ता है कि शास्त्रार्थ में परास्त होने पर मण्डन

इनके शिष्य बन गये और सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए[1]। परन्तु दोनों के सिद्धान्त भेद के कारण विद्वानों में मतभेद है कि मण्डन और सुरेश्वर दोनों एक ही व्यक्ति हैं। मण्डन के प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) विधि-विवेक, (२) भावना-विवेक, (३) विभ्रम विवेक और (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी जो मीमांसा सूत्रों का श्लोकबद्ध संक्षिप्त विवेचन है। ये ग्रन्थ बड़े विद्वत्तापूर्ण हैं। शंकर के समसामयिक होने के कारण इनका समय ८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

(३) उम्बेक

कुमारिल के दूसरे शिष्य का नाम उम्बेक था। उत्तर रामचरित नाटक के सुप्रसिद्ध रचयिता महाकवि भवभूति और उम्बेक एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। दर्शन ग्रन्थों में उम्बेक नामक आचार्य के मत तथा वाक्यों का निर्देश बहुत मिलता है। चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रकाशिका' की टीका में प्रत्यक स्वरूप भगवान् नामक टीकाकार ने उम्बेक की इस टीका का उल्लेख किया है जो उम्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' की एक कारिका पर की है। चित्सुखाचार्य द्वारा रचित 'चित्सुखी' में उम्बेक का नाम भी आता है, जिसकी व्याख्या करते समय टीकाकार ने उम्बेक और भवभूति को एक अभिन्न व्यक्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' की विद्याधरी नामक टीका के रचयिता आनन्दपूर्ण ने श्लोकवार्तिक पर लिखी गई उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है। 'षड्दर्शन समुच्चय' के टीकाकार गुणरत्न (१४०९ ई०) ने एक कारिका उद्धृत की है जिसमें उम्बेक को कारिका का ज्ञाता बतलाया गया है[2]। यह कारिकाग्रन्थ कुमारिल विरचित 'श्लोकवार्तिक' ही है। सौभाग्य से उम्बेक विरचित यह 'श्लोकवार्तिक' की 'तात्पर्य टीका' भी हाल ही में प्रकाशित हुई है। इनका दूसरा मीमांसा ग्रन्थ मण्डन मिश्र विरचित 'भावना विवेक' की टीका है।

यदि उम्बेक और भवभूति एक ही व्यक्ति हों—जैसा कि उपर्युक्त प्रमाणों

१—प्रो० बलदेव उपाध्याय—शंकरदिग्विजय का हिन्दी अनुवाद—भूमिका

२—उम्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः ॥ त० र० दी०, पृ० २०

से सिद्ध होता है—तो उम्बेक एक प्रकाण्ड मीमांसक के अतिरिक्त महाकवि थे[1]।

भाट्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अनेक माननीय मीमांसकों ने जैमिनि के सूत्रों पर तथा कुमारिल के ग्रन्थों पर सुबोध टीकाएँ लिखीं। इन ग्रन्थकारों में ये तीन आचार्य अपनी ग्रन्थ-सम्पत्ति तथा विवेचन-पद्धति के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।—(१) पार्थ सारथि मिश्र, (२) माधवाचार्य और (३) खण्डदेव।

(४) पार्थ सारथि मिश्र

ये मिथिला के निवासी माने जाते हैं। इनके पिता का नाम यज्ञात्मा था। श्लोकवार्तिक पर 'काशिका' के कर्त्ता सुचरित मिश्र इनके पूर्ववर्ती तथा 'तन्त्रवार्तिक' की टीका 'न्यायसुधा' के निर्माता सोमेश्वरभट्ट इनके समकालीन थे। पार्थसारथि मिश्र ने भाट्ट मत के सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिये चार ग्रन्थों की रचना की जिनमें दो टीका ग्रन्थ हैं और दो प्रकरण ग्रन्थ—(१) तर्करत्न—यह टुप्टीका की व्याख्या है।

(२) न्याय-रत्नाकर यह 'श्लोकवार्तिक' की टीका है।

(३) न्याय-रत्न-माला—यह प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें स्वतः प्रामाण्य, व्याप्ति, आदि सात विषयों की स्वतन्त्र रूप से विशद समीक्षा की गई है। इस ग्रन्थ पर रामानुजाचार्य (१७ शतक) का 'नायकरत्न' नामक व्याख्यान ग्रन्थ बड़ौदा से अभी प्रकाशित हुआ है। (४) शास्त्र दीपिका—यह प्रमेय बहुल ग्रन्थ है। इस पर लिखी दो टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—(क) रामकृष्ण भट्ट की युक्तिस्नेह प्रकरणी और (ख) सोमनाथ की मयूख मालिका। पार्थ सारथि मिश्र का समय १२वीं शताब्दी है।

(५) वाचस्पति मिश्र

ये वही सुप्रसिद्ध आचार्य हैं जिनका वर्णन न्याय-दर्शन के प्रसंग में पहले किया जा चुका है। इन्होंने मीमांसा दर्शन पर दो ग्रन्थ लिखे हैं—(१) न्याय कणिका—यह ग्रन्थ मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' की टीका है।

१—उम्बेक विश्वरूप तथा भवभूति की समस्या के विशेष विवरण के लिए देखिए डा० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र लिटरेचर, भाग १, पृ० २६१–६४, प्रो० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१६–१७

(२) तत्त्वबिंदु—यह शब्द बोध विषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। वाचस्पति, कुमारिल की शिष्य-परम्परा से पृथक् पड़ते हैं अतः इनका वर्णन अन्त में दिया गया है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त भाट्टसम्प्रदाय के अन्तर्गत माधवाचार्य और खण्डदेव मिश्र दो बड़े दिग्गज विद्वान् उत्पन्न हुए जिनका समय क्रमश;: १४वीं और १७वीं शताब्दी है। माधवाचार्य का 'न्यायमाला विस्तार' बड़ा लोकप्रिय और उपयोगी ग्रन्थ है। खण्डदेव मिश्र भाट्ट मत में 'नव्यमत' के उद्भावक माने जाते हैं। नारायण भट्ट का 'मानमेयोदय', लौगाक्षि भास्कर का 'अर्थसंग्रह', शंकरभट्ट का 'मीमांसा बाल प्रकाश, अन्नंभट्ट की 'सुबोधिनी' और कृष्णयज्वा की 'मीमांसा परिभाषा' आदि अनेक सुन्दर रचनायें हैं परन्तु ये हमारे निर्दिष्ट समय से बाहर अथवा बाद की कृतियाँ हैं अतः इनका वर्णन उपयोगी होने पर भी छोड़ दिया जाता है।

गुरुमत के आचार्य

(६) प्रभाकर मिश्र

गुरुमत के संस्थापक प्रभाकर मिश्र थे। प्रसिद्धि है कि ये कुमारिल भट्ट के पट्ट शिष्य थे जिन्होंने इनकी अलौकिक बुद्धि और कल्पना शक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी। तब से इनके मत का उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है। पीछे के मीमांसकों ने इनके सिद्धान्तों का निर्देश 'इतिगुरवः' लिख कर किया है। आधुनिक अनुसंधान से प्रभाकर का समय कुमारिल से भी प्राचीन ठहरता है। अतः निश्चित रूप से इनके काल-निर्णय के संबंध में बड़ा मतभेद है। मीमांसा-दर्शन के इतिहास में प्रभाकर एक चमकते हुए रत्न के समान हैं जिसकी प्रभा से यह शास्त्र आलोकित है। शाबर भाष्य के ऊपर दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखकर इन्होंने अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। ये दोनों टीका ग्रन्थ हैं—(१) बृहती—यह भाष्य की विद्वत्तापूर्ण टीका है, (२) लघ्वी या विवरण—यह भी टीका है परन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। शाबरभाष्य के रहस्य को समझने के लिए ये दोनों टीकाएँ बड़ी आवश्यक तथा उपयोगी हैं। प्रभाकर का समय ७वीं शताब्दी माना जाता है।

(७) शालिक नाथ

ये गुरुमत के प्रधान आचार्य थे जिन्होंने अपने गंभीर ग्रन्थों की रचना कर इस मत की प्रतिष्ठा की। ये संभवतः मिथिला या बंगाल के निवासी

थे और उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती थे। अतः इनका समय नवम शताब्दी के आसपास है। इन्होंने तीन पञ्जिकाओं की रचना की है—(१) ऋजु विमला पञ्जिका—यह प्रभाकर की 'बृहती' की टीका है, (२) दीपशिखा पञ्जिका यह लध्वी की टीका है। (३) प्रकरण पञ्जिका—यह नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। प्रभाकर के मत को जानने के लिए ये टीकाएँ अत्यन्त आवश्यक हैं।

(८) भवनाथ

इनका दूसरा नाम भवदेव भी था। इन्होंने अपने ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र के मत का उल्लेख किया है[1] तथा इनके मत का निर्देश आनन्द-बोधाचार्य (११ शताब्दी) ने 'शब्दनिर्णय दीपिका' में किया है। अतः भव-नाथ का समय वाचस्पति तथा आनन्द बोधाचार्य के बीच में समझना चाहिए इस प्रकार ये दसवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हुए थे।

इनके ग्रन्थ का नाम 'नय-विवेक' है जो शालिकनाथ के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया था। इस ग्रन्थ की चार टीकायें उपलब्ध हैं—(क) रन्तिदेव-लिखित विवेकतत्त्व, (ख) वरदराज—नयविवेक-दीपिका, (ग) शंकर मिश्र—पञ्जिका, (घ) दामोदर—नयविवेकालंकार। इन टीकाओं से पता चलता है कि यह ग्रन्थ उस समय में लोकप्रिय था।

(९) नन्दीश्वर

नन्दीश्वर ने 'प्रभाकर विजय' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ का निर्माण किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में शालिक नाथ, भवनाथ तथा पार्थसारथि मिश्र का उल्लेख किया है तथा इनका निर्देश श्रीभाष्य के वृत्तिकार सुदर्शनाचार्य ने किया है। अतः इनका समय १२००-१३०० ई० के बीच समझना चाहिए।

रामानुजाचार्य का 'तन्त्ररहस्य' लघुकाय होने पर भी बड़ा सुन्दर है। इस ग्रन्थ को प्रभाकर मत की प्रवेशिका कहना चाहिए। इनका समय १२वीं शताब्दी है।

(१०) मुरारि मिश्र

मीमांसा दर्शन के तृतीय मत के संस्थापक मुरारि मिश्र थे। ये मध्ययुग के एक माननीय मीमांसक थे। मीमांसा के प्रधान सिद्धान्तों के विषय में भट्ट तथा गुरु से भिन्न इनका एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था। इसीसे विद्वानों में यह कहावत प्रचलित है कि—"मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"। इनके विषय में

१—नयविवेक, पृ० २७५

हमारी जानकारी बहुत कम है। यह दुर्भाग्य ही है कि ऐसे मीमांसक का जीवन और ग्रन्थ अभीतक विस्मृति के गर्भ में विलीन है। गङ्गेश उपाध्याय तथा उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है। मुरारि ने भवनाथ के मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय संभवतः १२वीं शताब्दी है। दो छोटे अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं—(क) त्रिपादीनीतिनयन और (ख) एकादशाध्यायाधिकरण। संभवतः इन्होंने समस्त द्वादशलक्षणी पर टीका लिखी थी[1]।

वेदान्त दर्शन

भारतीय दर्शन में वेदान्त का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। यह भारतीय अध्यात्म ज्ञान का मुकुटमणि माना जाता है। हमें अपनी दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। इसकी महत्ता के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है कि जंगल में गीदड़ की भाँति अन्य शास्त्र तभी तक गरजते हैं जब तक महाशक्तिशाली वेदान्त रूपी केशरी का सिंहनाद नहीं होता[2]। वस्तुतः आज भी वेदान्त का जितना अधिक पठन-पाठन और प्रचार है उतना अन्य दर्शनों का नहीं।

श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में सबसे पहले उपलब्ध होता है[3]। 'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है वेद का अन्त (वेद—अन्त) अर्थात् सिद्धान्त। अतः उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए वेदान्त शब्द का प्रयोगा नितरां न्याय्य है।

वेदान्त दर्शन के ऊपर महर्षि बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' की रचना कर इसकी प्रतिष्ठा की है। ये 'ब्रह्मसूत्र' अत्यन्त प्राचीन हैं। महर्षि पाणिनि

१—मुरारिमिश्र के मत के विशेष वर्णन के लिए देखिए प्रो० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ३८७—आगे तथा डा० उमेश मिश्र—मुरारेस्तृतीयः पन्थाः', इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज।

२—तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेशरी ॥

३—वेदान्ते परमे गुह्यम्। श्वेता० ६।२२

ने अपने एक सूत्र में इन्हीं सूत्रों की ओर संकेत किया है[1]। श्रीधर स्वामी का मत है कि गीता में भी इन सूत्रों का उल्लेख हुआ है[2]। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माण काल ईसा पूर्व षष्ठ शताब्दी से पूर्व है। इसमें लगभग ५५० सूत्र हैं। इन सूत्रों की समासशैली के कारण बिना किसी टीका अथवा भाष्य द्वारा इनका अर्थ समझना नितान्त कठिन है। कालान्तर में इन सूत्रों की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की। इन आचार्यों ने अपनी नवीन व्याख्या के अनुसार नवीन मतों की उद्भावना और नूतन सम्प्रदायों की स्थापना की। ऐसे आचार्यों में प्रधान ये हैं, जिनका वर्णन उनके महत्त्व के क्रम से आगे किया जायेगा—

नाम	भाष्य	मत
१—शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)	शारीरक भाष्य	अद्वैत
२—भास्कर (१००० ई०)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३—रामानुज (११४० ई०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४—आनन्दतीर्थ (१३३८ ई०) (मध्व)	पूर्णप्रज्ञ भाष्य	द्वैत
५—निम्बार्क (१२५० ई०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत

उपर्युक्त आचार्यों के वेदान्त विषयक विभिन्न मत हैं। ईश्वर, जीव, आत्मा, कर्म, मोक्ष आदि विषयों के ऊपर इनके विचार पृथक् पृथक् हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन भी स्थानाभाव के कारण यहाँ करना नितान्त कठिन है। परन्तु वेदान्त के कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं जिन्हें सभी सम्प्रदाय वाले स्वीकार करते हैं। इन सर्वमान्य समान सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

(क) ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय एक चेतन तत्व के कारण है। किसी अचेतन तथा जड़ पदार्थ (जैसे सांख्यों की प्रकृति) से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई है।

(ख) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक तथा नित्य है।

१—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। अष्टाध्यायी ४।३।११०

२—ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। गीता १३।४

(ग) मुख्यत: उपनिषद् ही सिद्धान्तग्रन्थ हैं तथा उपनिषद् मूलक होने से भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र भी सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। इन्हें 'प्रस्थान त्रयी' कहते हैं।

(घ) ब्रह्म आदि जैसे इन्द्रियातीत आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में वेद ही सबसे अधिक प्रमाण हैं। तर्क की प्रामाणिकता तभी तक ग्राह्य है जब तक वह श्रुति के अनुकूल रहता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिये इन सूक्ष्म विषयों के विवेचन के निमित्त हमें श्रुति का ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

(च) कर्म ज्ञान की अपेक्षा गौण है। कर्म की उपयोगिता इतनी ही है कि वह चित्त को शुद्ध करता है तथा मुक्तिमार्ग का प्रधान साधन है। व्यावहारिक जगत् के निमित्त कर्म की अपेक्षा है ही, परन्तु मुक्ति के निमित्त कर्म का सन्यास ही श्रेयस्कर है।

(६) इस अनादि संसार से मुक्ति पाना ही मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य है।

उपर्युक्त सिद्धान्त सभी सम्प्रदाय वालों को समान रूप मान्य हैं। परन्तु ईश्वर और जीव में जो पारस्परिक संबंध है, उसी को लेकर इन मतों में विभेद है। इन सम्प्रदायों में शंकराचार्य का मत प्राचीनता तथा महत्ता की दृष्टि से सर्वप्रथम है। अत: अगले पृष्ठों में इसी का वर्णन किया जायेगा पश्चात् महत्ता की दृष्टि से रामानुज, मध्व, निम्बार्क और भास्कर का क्रम से विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त के इतिहास में शंकराचार्य एक नवीन युग के प्रवर्तक हैं। इनका अद्वैत दर्शन में वही स्थान है जो कुमारिल भट्ट को मीमांसा में प्राप्त है। अत: शंकर को केन्द्र मानकर अद्वैत दर्शन का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) शंकर-पूर्व काल

(२) शंकर-काल

(३) शंकर पश्चात् काल

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से पता चलता है कि बादरायण से भी पूर्वकाल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त तत्व की मीमांसा की थी। इन प्राचीन आचार्यों

में आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि और बादरि आदि प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों के ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होते। केवल इनके मतों का उल्लेख ही ब्रह्मसूत्रों में पाया जाता है।

बहुत से विद्वानों की धारणा है कि अद्वैतमत के प्रवर्तक शंकराचार्य ही हैं। परन्तु यह मत सर्वथा उचित नहीं है। शंकराचार्य ने स्वयं अपने भाष्य में अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें आचार्य भर्तृप्रपञ्च ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त 'ज्ञानकर्म समुच्चय वाद' कहलाता है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक भाष्य में 'औपनिषदम्मन्य' कह कर परिहास किया है। उपवर्ष का नाम शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य (३।३।५३) में लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर दोनों मीमांसाओं पर वृत्ति ग्रन्थ लिखा था। द्रविड़ाचार्य एक प्राचीन वेदान्ती थे जिन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहत भाष्य लिखा था। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने 'आगमवित्' कहकर इनका उल्लेख किया है। शंकर के पूर्ववर्ती 'सुन्दरपाण्ड्य' नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। शंकर ने इनके वार्तिक ग्रन्थ से तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। सुन्दरपाण्ड्य शैव वेदान्ती थे। 'तन्त्रवार्तिक' में इनके श्लोकों के उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व और उत्तरमीमांसा पर एक वार्तिक की रचना की। ब्रह्मदत्त शंकर के पूर्व में एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। संभवतः ये सूत्र के भाष्यकार रहे हों। इनके मत से जीव अनित्य है। एक मात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म ही में लीन हो जाते हैं। इनके मतानुसार भिन्न प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर के पूर्ववर्ती प्रधान ये ही आचार्य हैं।

१ शंकराचार्य

अद्वैत दर्शन के इतिहास में शंकराचार्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। ये अलौकिक मेधावी पुरुष अद्वैत मत के विख्यात प्रवर्तक तथा प्रतिष्ठापक थे। इनकी प्रतिभा सर्वातिशायिनी थी। ये मलावार प्रान्त में एक नम्बूद्री ब्राह्मण के घर में सन् ७८८ ई० में उत्पन्न हुए थे। बालकपन में ही इन्होंने संन्यास ले लिया और काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। इनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी। आठ वर्ष की आयु में ही

इन्होंने चारों वेदों को पढ़ लिया, बारह वर्ष में सकल शास्त्र के ज्ञाता बन बैठे, सोलह वर्ष में शारीरकभाष्य की रचना की और बत्तीस वर्ष में (८२० ई० में) परमधाम को सिधार गये। परन्तु इतने ही थोड़े समय में इतना अलौकिक कार्य कर दिखाया जो आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। शंकर का व्यक्तित्व असाधारण था। ये केवल प्रकाण्ड पण्डित और चूडान्त दार्शनिक ही नहीं थे बल्कि एक उद्भट्ट क्रियाशील पुरुष और समाज-सुधारक भी थे। बौद्धों को भारत से निकालने का समस्त श्रेय आचार्य शंकर को ही प्राप्त है।

ये गौड़पाद के शिष्य गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य थे। इनके परम गुरु गौड़पादाचार्य अद्वैत दर्शन के प्रथम आचार्य हैं जिनकी 'माण्डूक्य कारिका' अद्वैततत्त्व की आधारशिला समझी जाती है। शंकर 'प्रस्थानत्रयी' के आदि भाष्यकार हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनाएं ये हैं—(१) उपनिषद्भाष्य, (२) गीता-भाष्य, (३) ब्रह्मसूत्र भाष्य, (४) माण्डूक्य कारिका भाष्य, (५) विष्णु-सहस्रनाम भाष्य, (६) सनत्सुजातीय भाष्य, (७) सौन्दर्यलहरी, (८) उपदेश साहस्री आदि। इनके अतिरिक्त शंकर के नाम से अन्य ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं परन्तु वे शारीरकभाष्य के रचयिता शंकराचार्य की रचनाएँ हैं, इसमें सन्देह है। इनकी रचनाशैली इतनी रोचक है, गम्भीर विषयों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम हैं। शंकर ने अपने उपर्युक्त प्रथम तीन भाष्यों का अद्वैतपरक अर्थ किया है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन किया है। इनके ग्रन्थों में बौद्धमतों का खण्डन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है जिससे इनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा अलौकिक प्रतिभा का पता चलता है। शंकर ने दार्शनिक होते हुए भी कवि हृदय पाया था। इनके 'सौन्दर्यलहरी' आदि स्तोत्र काव्य के गुणों से ओतप्रोत है[२]।

१—अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोड़शे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥

२—शंकर के जीवन, समय तथा साहित्य के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये। पं० बलदेव उपाध्याय—(क) शंकराचार्य (हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९४८): पं० बलदेव उपाध्याय—(ख) शंकर दिग्विजय (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृ० १-८०

२ मण्डन मिश्र[1]

मीमांसा दर्शन के प्रसङ्ग में मण्डन मिश्र का वर्णन पहले किया जा चुका है। ये शंकर के ही समकालीन, अद्वैत प्रतिपादक महान् आचार्य थे। इनकी 'स्फोटसिद्धि' स्फोट विषयक ग्रन्थ है। इनकी 'ब्रह्मसिद्धि' शंखपाणि की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। इनके ग्रन्थ के ऊपर वाचस्पति मिश्र ने 'ब्रह्मतत्व समीक्षा', चित्सुखाचार्य ने 'अभिप्राय प्रकाशिका' और आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) ने 'भावशुद्धि' नामक व्याख्याएं लिखी हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन व्याख्या अभीतक कहीं भी उपलब्ध नहीं है। मण्डन भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद के समर्थक हैं।

३ सुरेश्वराचार्य[1]

शंकराचार्य के दो प्रधान शिष्यों ने इनके ग्रन्थों पर व्याख्यायें लिखीं जिनमें प्रधान सुरेश्वराचार्य थे। इन्होंने शंकर के उपनिषद् भाष्य पर वार्तिकों की रचना की है जिसके कारण ये वार्तिककार के नाम से विख्यात हैं। इनका बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक विपुलकाय, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, नैष्कर्म्य सिद्धि, दक्षिणामूर्ति-स्त्रोत्र वार्तिक अथवा मानसोल्लास तथा पञ्चीकरण वार्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। शंकर के शिष्य होने के कारण इनका समय नवीं शताब्दी का प्रथमार्ध माना जाता है।

४ पद्मपादाचार्य[1]

ये शंकराचार्य के दूसरे प्रधानशिष्य थे। इन्होंने शारीरक भाष्य की प्रथमवृत्ति 'पञ्चपादिका' नाम से लिखी है जिसमें चतुःसूत्री का ही विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त 'प्रपञ्चसारटीका' और 'विज्ञान दीपिका' पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। 'पञ्चपादिका' के ऊपर अवान्तर शताब्दियों में अनेक महत्वशाली ग्रन्थ रचे गये। प्रकाशात्मयति ने इसकी टीका 'विवरण' नाम से लिखी है। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसीके नाम पर 'विवरण-प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकाएँ हैं—(१)

१—इन तीनों आचार्यों के जीवन तथा ग्रन्थ विशेष के लिए देखिए पं० बलदेव उपाध्याय—(क) शंकराचार्य तथा (ख) शंकर दिग्विजय (हिन्दी अनुवाद) भूमिका।

अखण्डानन्द मुनिकृत 'तत्त्वदीपन' और (२) विद्यारण्यकृत 'विवरण प्रमेय संग्रह'। 'पञ्चपादिका' की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं।

५ सर्वज्ञात्ममुनि

इन्होंने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेप शारीरक' नामक एक प्रसिद्ध पद्यबद्ध व्याख्या ग्रन्थ लिखा है जिस पर नृसिंहाश्रम की तत्त्वबोधिनी तथा मधुसूदन सरस्वती का 'सारसंग्रह' प्रसिद्ध है।

६ वाचस्पति मिश्र

इन्होंने शारीरक भाष्य के ऊपर 'भामती' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी है जो इनकी सर्वतोगामिनी प्रतिभा के अनुरूप ही है। इनकी 'ब्रह्मतत्त्व मीमांसा' अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। वाचस्पति मिश्र की 'भामती' अद्वैत दर्शन का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसकी पद्धति के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ 'भामती प्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र के वेदान्तसिद्धान्तों पर मण्डन मिश्र के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। यह बात इन दोनों के ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट प्रतीत होती है।

७ विमुक्तात्मा

इनका समय दशम शतक है। ये अव्यक्तात्मा के शिष्य थे। इनका ग्रन्थ 'इष्टसिद्धि' गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से हाल ही में प्रकाशित हुआ है। वेदान्त के इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में 'अविद्या' के स्वरूप का विवेचन बड़े ऊहापोह के साथ किया गया है।

८ श्रीहर्ष

महाकवि श्रीहर्ष का वर्णन महाकाव्य के प्रसंग में किया जा चुका है। ये एक सरस कवि के अतिरिक्त उत्कृष्ट दार्शनिक भी थे। ये असाधारण अद्वैत वेदान्ती थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' वेदान्त दर्शन का उच्चकोटि का ग्रन्थ है जो आज भी पाण्डित्य की निकषग्रावा बना हुआ है। नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वत्तापूर्ण खण्डन मिलना अत्यन्त दुष्कर है। शंकर मिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना इसके गौरव का परिचायक है। बारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले अद्वैतानन्द का 'ब्रह्मविद्याभरणं' भाष्य का आभरण ही है। आनन्द बोध का 'न्यायमकरन्द' वेदान्त का एक माननीय ग्रन्थ है।

हमारे निर्दिष्ट समय के पश्चात् अद्वैत वेदान्त के अनेक आचार्यों ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थों से इस साहित्य का भाण्डार भरा। इनमें चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य, भारतीतीर्थ, आनन्दगिरि, प्रकाशानन्द पति और मधुसूदन सरस्वती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं[1]।

वैष्णव दर्शन के आचार्य

वैष्णव दर्शन का साहित्य दो भाषाओं में निबद्ध पाया जाता है—(१) तामिल और (२) संस्कृत। इस दर्शन का प्रारम्भिक साहित्य तामिल भाषा में लिखा गया है जो भक्त प्रवर आलवारों की रचना का फल है। दक्षिण भारत के तामिल प्रान्त को अपने भक्तिमय पद्यों और गायनों से आनन्द विभोर करने वाले वैष्णव सन्तों का नाम 'आलवार' है। 'आलवर' शब्द तामिल भाषा का है जिसका अर्थ अध्यात्मज्ञानरूपी समुद्र में गोता लगाने वाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान् नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तामिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पद्यों की रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध आलवारों में अनेक नीच जाति के व्यक्ति थे। सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत थे। इन आलवारों में गोदा या आण्डाल नामक एक स्त्री भी थी जो बड़ी भक्त थी। 'आलवार' संख्या में बारह माने जाते हैं। इन्होंने अपनी मातृभाषा (तामिल) में ही ग्रन्थों की रचना की है। इनका आविर्भावकाल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।

आलवारों के नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो तामिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इनके जीवन की घटनायें बड़े विस्तार के साथ लिखी गई हैं। इन भक्तों का आदर इतना अधिक है कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मन्दिरों में की गई है जहाँ इनके मधुर पद आज भी गाये जाते हैं। इनके पद्य वेद-मन्त्रों के समान पवित्र माने जाते हैं पवित्रता और आध्यात्मिकता के कारण इनके पद्यों का संग्रह 'तामिलवेद' कहा जाता है। इन

१—विशेष विवरण के लिये देखिए—

(क) गोपीनाथ कविराज—ब्रह्मसूत्र के भाष्यानुवाद की भूमिका।

(ख) स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती—वेदान्तेर इतिहास (३ भाग, बँगला)।

(ग) बलदेव उपाध्याय—शंकराचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग।

सभी प्रसिद्ध आलवारों के नामों को पराशरभट्ट ने एक श्लोक में उद्धृत किया है[1]। इन आलवारों में सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार का दूसरा नाम परांशुकमुनि या शठकोपाचार्य है। इन्होंने चार सुप्रसिद्ध भक्तिपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है—(क) तिरुवित्तम, (ख) तिरुवाशिरियम, (ग) पेरियतिरु-वन्दादि और (घ) तिरुवाँय मोलि। साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित ये ग्रन्थ आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रदर्शक होने के कारण श्री वैष्णव ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चारों ग्रन्थ चारो वेदों के समान स्वीकृत किये गये हैं।

वेदान्तदेशिक ने शठकोपाचार्य के 'तिरुवायमोलि' ग्रन्थ को 'द्रविडोपनिषद्' कहा है तथा इसका संस्कृत भाषा में अनुवाद किया है। योगी शठकोपाचार्य के शिष्य मधुरकवि ने अपने गुरुदेव का पवित्र चरित लिखकर गुरुभक्ति को ईश्वरभक्ति के समान ही आदरणीय बतलाया है। कुलशेखर आलवार मलावार प्रान्त के प्रजारञ्जक राजा थे। राज्यवैभव को लात मारकर ये श्रीरंगम् में एक साधारण निर्धनभक्त के समान जीवनयापन करते थे। इन्होंने 'पेरुमाल तिरोमोलि' की रचना तामिल भाषा में और 'मुकुन्दमाला' की रचना संस्कृत भाषा में की है जो भाषा और भाव के कारण रसिक समाज में नितान्त प्रख्यात है। आलवार सन्तों में गोदा या आण्डाल का भी नाम बड़ा प्रसिद्ध है। यह स्त्री भगवान् कृष्ण के प्रेम में मस्त रहती थी। यह श्री रंगम् के रंगनाथ जी को अपना पति मानती थी। इसे दक्षिण भारत की मीरा कह सकते हैं। गोपीप्रेम की झलक आण्डाल के जीवन तथा काव्य में पूर्णतया मिलती है। 'तिरुप्पावै' तथा 'नाचियार तिरोमोलि' नामक इसके काव्य ग्रन्थ भक्तिरस से विभोर भक्तजन के हृदयोद्गार हैं। तोण्डरडिप्पोलि (विप्रनारायण) नामक सन्त की उपाधि 'भक्तपदरेणु' थी, क्योंकि ये श्रीरंगम के मन्दिर में आनेवाले समस्त भक्तजनों का चरणामृत लिया करते थे। तिरुमंगैआ आलवार, जिनका दूसरा नाम नीलन् या परकाल भी था, अछूत जाति के एक बड़े भयानक डाकू थे और लूट से मिले द्रव्य

१—भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ
श्रीभक्तिसारकुल शेखर योगिवाहान्।
भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्,
श्रीमत्परांशुकमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इन्होंने छः पद्य-ग्रन्थों का निर्माण किया है जो तामिल भाषा के 'वेदाङ्ग' माने जाते हैं। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से इनका स्थान शठकोपाचार्य से कुछ ही घटकर है।

उपर्युक्त सन्तों के अतिरिक्त भूततालवार और पेयालवार आदि अनेक आलवार सन्त उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने पवित्र तथा भक्तिमय जीवन और सरस स्तोत्रों के द्वारा जनता में भक्ति के प्रचार का महनीय कार्य किया। इन्हीं आलवारों के उद्योग का फल था कि परवर्तीकाल में रामानुजाचार्य को श्री वैष्णवमत का प्रचार करने में इतनी सफलता प्राप्त हुई। सच तो यह है कि इन सन्तों ने जनता में भक्ति का प्रचार कर वैष्णव मत की सुदृढ़ नींव डाली थी जिस पर बाद में रामानुज ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय का महान प्रासाद निर्मित किया। अतः इस सम्प्रदाय के इतिहास में इन सन्तों की देन अत्यधिक है।

विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

दशम शताब्दी में तामिल प्रान्त में वैष्णवधर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तामिल जनता में विष्णुभक्ति के प्रचार करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। ये लोग 'आचार्य' कहलाते हैं। इन आचार्यों ने आलवारों की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय किया। तामिल वेद और संस्कृत वेदों का गहरा अध्ययन कर इन लोगों ने तामिल वेद के सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों से पूरा सामञ्जस्य दिखलाया। अतः ये 'उभय वेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने एक नवीन वैष्णवमत को चलाया जो 'श्रीवैष्णव' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१ रङ्गनाथ मुनि

इस सम्प्रदाय का आदि आचार्य रंगनाथ माने जाते हैं। ये 'नाथमुनि' के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात हैं। इनका समय ८२४-९२४ ई० है। ये शठकोपाचार्य की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने लुप्त प्राय 'तामिलवेद' का पुनरुद्धार किया। श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इसके गायन की व्यवस्था की और वैदिक ग्रन्थों के ही समान इन ग्रन्थों का भी अध्यापन प्रारम्भ किया। इनके 'योग-रहस्य' का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका 'न्यायतत्त्व' विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है।

२ यामुनाचार्य

ये नाथमुनि के पौत्र थे। इनका प्रख्यात नाम 'आलवन्दार' था। सन् ९७३ ई० के लगभग ये आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। नाथमुनि के बाद पुण्डरीकाक्ष और राममिश्र आचार्य पद पर आरूढ़ थे। राम मिश्र के आदेशानुसार यामुनाचार्य ने राजसी वैभव का तिरस्कार कर वैष्णव मत के प्रचार में अपना शेष जीवन बिताया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) गीतार्थसंग्रह, (२) श्री चतुःश्लोकी—यह लक्ष्मी की स्तुति है। (३) सिद्धित्रय, (४) महापुरुषनिर्णय—इसमें विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। (५) आगम प्रामाण्य—इसमें पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन है। (६) आलवन्दारस्तोत्र। यामुनाचार्य के ग्रन्थों में सबसे अधिक लोकप्रिय यही स्तोत्र है जिसमें ७० पद्यों में 'आत्मसमर्पण' के सिद्धान्त का मनोरम वर्णन है। कवि हृदय की भक्तिभावना इन पद्यों में स्पष्ट दीख पड़ती है।

३ रामानुजाचार्य

वैष्णव दर्शन के इतिहास में रामानुजाचार्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। अद्वैत सम्प्रदाय में जो महत्त्व शंकराचार्य को प्राप्त है, वही विशिष्टाद्वैत के इतिहास में रामानुजाचार्य को मिला है। बहुत से लोग वैष्णव सम्प्रदाय को केवल रामानुज के नाम से ही जानते हैं। इस सम्प्रदाय में इनका नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि इनके अनुयायी 'रामानुजी' के नाम से पुकारे जाने लगे।

ये यामुनाचार्य के पौत्र और श्री शैलपूर्ण के भागिनेय (भानजा) थे। इनके गुरु का नाम यादव प्रकाश था। इन्हीं से ये पहले वेदान्त पढ़ते थे परन्तु बाद में गुरु के अद्वैत मत में अनेक दोष देखकर इन्होंने उनसे पढ़ना छोड़ दिया तथा अन्य आचार्यों से वैष्णव शास्त्र का अध्ययन किया। ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान आचार्य बने। पत्नी से मतभेद होने के कारण तथा वैराग्य की ओर प्रवृत्ति होने से इन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर ये मैसूर में भाग आये और मेलकोट नामक स्थान में बारह वर्ष तक निवास किया। इन्होंने विट्टिदेव (विष्णुवर्धन) को वैष्णव मत में दीक्षित किया। ये काञ्ची के निवासी थे। इनके पिता का नाम केशव और माता का कान्तिमती था। इनका समय १०३७–११३७ ई० तक माना जाता है।

रामानुज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं:— (१) श्री भाष्य—यह ब्रह्मसूत्रों के ऊपर विद्वत्तापूर्ण भाष्य है जो ११०० ई० के आसपास लिखा गया था। इसमें इन्होंने अपने विशिष्टाद्वैत मत का बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया है। (२) वेदार्थ संग्रह, (३) वेदान्तसार—यह ब्रह्मसूत्रों की संक्षिप्त टीका है। (४) वेदान्त प्रदीप—यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है परन्तु वेदान्तसार से विस्तृत है। (५) गद्यत्रय—यह ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ है। (६) गीताभाष्य। रामानुज ने अपने ग्रन्थों में बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दि और भारुचि आदि अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है तथा उन्हीं के व्याख्यानों के आधार पर इस विशिष्टाद्वैत मार्ग का अवलम्बित होना बतलाया है। इनका सब से महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीभाष्य है जिसके ऊपर कालान्तर में अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें 'श्रुतप्रकाशिका', 'श्रीभाष्य विवृति', 'तत्त्वटीका,' 'तात्पर्य दीपिका' और 'नयप्रकाशिका' आदि प्रसिद्ध हैं[१]।

४ सुदर्शन सूरि

रामानुज के पश्चात् अनेक आचार्य पैदा हुए जिन्होंने इनके ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखकर तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना कर विशिष्टाद्वैत मत की पुष्टि की और इसका साहित्यिक भाण्डार भरा। इन आचार्यों में सुदर्शन सूरि और वेंकटनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

सुदर्शन सूरि का समय १२००–१२७५ ई० माना जाता है। ये वरदाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के व्याख्यानों के आधार पर श्रीभाष्य की प्रसिद्ध व्याख्या 'श्रुतप्रकाशिका' लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने श्रुतदीपिका, उपनिषद् व्याख्या, वेदार्थ संग्रह पर तात्पर्य-दीपिका और भागवत पर शुकपक्षीय टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है।

५ वेङ्कटनाथ

ये 'वेदान्ताचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी कोटि का विद्वान् श्री वैष्णव सम्प्रदाय में दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी उपाधि 'कवितार्किकसिंह'

---

१. इनके जीवन, ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय की विशेष जानकारी के लिए देखिए—(क) व्रजनाथ शर्मा—वल्लभाचार्य और उनका सिद्धान्त। (ख) वी० एन० मल्लिक—फिलासफी आव वैष्णव रिलिजन।

तथा 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र' सर्वथा यथार्थ है। ये कवि, तार्किक, दार्शनिक और वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अनेक काव्यों तथा दार्शनिक ग्रंथों की रचना की है। इनके काव्य ग्रन्थों में संकल्प सूर्योदय, हँसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, और पादुका-सहस्र काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में इनकी रचनाएँ ये हैं—(१) तत्त्वटीका—यह 'श्रीभाष्य' पर विस्तृत व्याख्या है। (२) अधिकरण सारावली—यह ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का पद्यमय विवेचन है। (३) तत्त्वमुक्ता कलाप, (४) न्याय परिशुद्धि और (५) न्याय सिद्धाञ्जन में विशिष्टाद्वैत मत की प्रमाण मीमांसा का वर्णन किया गया है। (६) गीतार्थ तात्पर्य-चन्द्रिका—रामानुज के गीताभाष्य की टीका है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक निबन्धों की रचना की है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

इन आचार्यों के सिवाय अन्य लेखकों ने भी ग्रन्थ रचना कर इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इनमें लोकाचार्य, वरवरमुनि, श्रीनिवास तथा रंगरामानुज का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वैष्णवदर्शन का साहित्य अद्वैत वेदान्त से किसी प्रकार कम नहीं है परन्तु खेद है कि यह साहित्य अधिकांश रूप में अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

माध्व सम्प्रदाय के आचार्य

आनन्दतीर्थ

माध्व सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम आनन्दतीर्थ था परन्तु इनका प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। 'मध्व' नाम के कारण ही इस मत का नाम 'माध्व सम्प्रदाय' पड़ गया। दक्षिण भारत के 'उडुपी' नामक स्थान में इनका जन्म सन् ११९९ ई० में हुआ था और इनकी मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है। भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों में पर्यटन कर आपने अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपने लगभग ३७ ग्रन्थों की रचना की है जिनमें कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) ब्रह्मसूत्र भाष्य—यह ब्रह्मसूत्रों के ऊपर लिखा गया भाष्य है जो 'पूर्ण प्रज्ञ भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। (२) अनुव्याख्यान—यह सूत्र की अल्पाक्षरा वृत्ति है जिस पर स्वयं आचार्य ने 'न्याय विवरण' टीका लिखी है। (३) उपनिषद् भाष्य—यह ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य है।

(४) गीताभाष्य, (५) भागवत-तात्पर्य निर्णय, (६) महाभारत-तात्पर्य-निर्णय, (७) विष्णुतत्त्व निर्णय, (८) प्रपञ्च मिथ्यात्व निर्णय, (९) गीता-तात्पर्य-निर्णय और (१०) तन्त्रसार-संग्रह आदि। आनन्दतीर्थ ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर अपने द्वैत का प्रतिपादन बड़ी मार्मिक रीति से किया है[1]।

आनन्द तीर्थ के पश्चात् अनेक आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना कर इस मत को पल्लवित किया। इन आचार्यों में जयतीर्थ (१४वीं शताब्दी) और व्यासतीर्थ (१५वीं शताब्दी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। माध्व-मत में जयतीर्थ के समान अलौकिक विद्वान् विरला ही कोई हो। इन्होंने मध्वाचार्य के सूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' तथा गीता भाष्य के ऊपर सुबोध टीकाएँ ही नहीं लिखीं प्रत्युत 'प्रमाण पद्धति' और 'वादावली' जैसे मौलिक-ग्रन्थों की रचना से अद्वैतमत का खण्डन कर द्वैतमत की स्थापना की। व्यास-तीर्थ माध्वमत के उद्भट विद्वान् थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ 'न्यायामृत' है जिसका खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में किया है। इनके अन्य ग्रन्थ तर्क ताण्डव, तात्पर्यचन्द्रिका, मन्दारमञ्जरी, मायावाद खण्डन टीका आदि हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त रघूत्तम तीर्थ, रामाचार्य, विदेश-भिक्षु, विजयीन्द्र, वनमाली मिश्र तथा सत्यनाथ यति आदि अनेक प्रकाण्ड दार्शनिकों ने ग्रन्थ निर्माण करके इस सम्प्रदाय को सुदृढ़ रूप दिया तथा विपक्षियों के तर्कों का खण्डन कर द्वैतमत की प्रतिष्ठा की।[2]

निम्बार्क मत के आचार्य

१ निम्बार्क

निम्बार्क मत के आदि आचार्य हंसनारायण थे जो राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति के प्रतीक थे। इन्होंने इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को दी। उन्होंने नारद जी को और नारद जी ने इसका रहस्य निम्बार्क को बतलाया। इस सम्प्रदाय का आद्य आचार्य भले ही कोई हो परन्तु इसको प्रतिष्ठापित करने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य निम्बार्क को ही है।

---

१. मध्व के प्रामाणिक जीवन के लिए देखिए—
नारायण पण्डित—मध्व विजय तथा मणिमञ्जरी।

२. विशेष के लिए देखिए—
पं० बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ० ५०८–५१०.

ये तैलंग ब्राह्मण थे। 'सिद्धान्त जाह्नवी' नामक ग्रन्थ के अनुसार इनका असली नाम नियमानन्द था। निम्ब के वृक्ष पर अर्क (सूर्य) को रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा था। इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यकाल समझना चाहिए। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें प्रधान ये हैं:—(१) वेदान्त-पारिजात सौरभ—यह ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य है। (२) दशश्लोकी—यह द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह है। (३) श्रीकृष्णस्तवराज—यह निम्बार्क तत्त्व के प्रकाशक २५ श्लोकों का संग्रह है जिसकी तीन विस्तृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनके अप्रकाशित ग्रन्थों में मध्वमुख मर्दन, वेदान्त तत्त्वबोध, वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप आदि मुख्य हैं।

२ श्रीनिवासाचार्य

ये निम्बार्क के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने 'पारिजात-सौरभ' के ऊपर 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिख कर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढार्थों का रहस्य भली भांति समझाया है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में अनेक विद्वान् उत्पन्न हुए जिनमें केशव भट्ट, श्री पुरुषोत्तमाचार्य, श्री देवाचार्य, पुरुषोत्तम प्रसाद और माधव-मुकुन्द आदि प्रसिद्ध हैं। केशव भट्ट द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के विशिष्ट लेखक हैं। इनकी (१) कौस्तुभप्रभा—'वेदान्त कौस्तुभ' की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या है। (२) तत्त्वप्रकाशिका, (३) तत्त्वप्रकाशिका वेदस्तुति और (४) क्रमदीपिका आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। श्री पुरुषोत्तमाचार्य हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थों की अधिक प्रसिद्धि है (क) वेदान्त-रत्न मञ्जूषा और (ख) श्रुत्यन्त सुरद्रुम। कृपाचार्य के शिष्य श्री देवाचार्य की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम है सिद्धान्त जाह्नवी जो ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का विस्तृत समीक्षात्मक भाष्य है। निम्बार्क के इस सम्प्रदाय का नाम द्वैताद्वैत है जिसका संक्षिप्त वर्णन अन्यत्र किया जायगा।

भेदाभेद के आचार्य

भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। शंकराचार्य के पहले नहीं अपितु बादरायण व्यास के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व के आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेदवादी ही थे। आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती वेदान्ता-

चार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त के परम पक्षपाती थे। शंकर ने इनके मत का उल्लेख अनेक स्थानों पर बृहद्‌दारण्यक उपनिषद् के भाष्य में किया है।

१ भास्कर

शंकर के परवर्ती वेदांताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में, उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में और वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक प्रतीत होता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर भाष्य लिखा है जो 'भास्कर भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। भेदाभेद के सम्बन्ध में इनके विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

२ यादव

ये भी भेदाभेदवादी आचार्य थे। यदि ये रामानुज के गुरु यादवप्रकाश से अभिन्न व्यक्ति हों तो इनका समय ११वीं शताब्दी का अन्तिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में वेदान्त देशिक ने 'पर मतभंग' में और व्यास तीर्थ ने 'तात्पर्य चन्द्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्म-सूत्र और गीता पर भेदाभेद सम्मत भाष्य का निर्माण किया है। ये निर्गुण ब्रह्म तथा मायावाद को नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं और जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनन्तर निम्बार्क का जन्म हुआ। इन्होंने भेदाभेद के लुप्तगौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धान्त लुप्तप्राय से हो गये हैं परन्तु निम्बार्क का कृष्णोपासक सम्प्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों को आनन्दित करता है।

बौद्ध न्याय

(क) योगाचार

१ धर्मकीर्ति

धर्मकीर्ति योगाचार सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य थे। बौद्ध आचार्यों में इनका विशेष महत्त्व है। संभवतः दिङ्नाग को छोड़कर इस सम्प्रदाय में इतान बड़ा विद्वान् दूसरा नहीं है। इनका समय षष्ठ शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। आचार्य दिङ्नाग के भाष्यकार के रूप में ब्राह्मण न्याय-ग्रन्थों

में इनका उल्लेख पाया जाता जाता है। इन्होंने अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जिनमें (१) 'प्रमाणवार्तिक' सब से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत संस्करण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के सम्पादकत्व में विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना से प्रकाशित हुआ है। (२) 'न्याय-बिन्दु' इनकी दूसरी रचना है जिसमें बौद्ध न्याय के ऊपर ब्राह्मण नैयायिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर अपने सिद्धान्त का मण्डन किया गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना बौद्ध न्याय के ऊपर ही की है। इनके अन्य ग्रन्थ ये हैं:—(३) हेतु बिन्दु, (४) प्रमाण विनिश्चय, (५) वादन्याय—यह वाद-विषयक ग्रन्थ है; (६) सम्बन्ध परीक्षा, (७) समानान्तर सिद्धि—इसमें ७२ सूत्र हैं। इन ग्रन्थों में से पहला, दूसरा और पाँचवाँ ग्रन्थ संस्कृत मूल में प्रकाशित हुआ है परन्तु शेष के केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध होते हैं।

२ धर्मपाल

धर्मपाल नालन्दा महाविहार के अध्यक्ष थे। इनका समय षष्ठ शतक है। इन्होंने योगाचार तथा शून्यवाद दोनों मतों के ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनकी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या' वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ की व्याख्या है और 'शतशास्त्र-वैपुल्यभाष्य' आर्यदेव के विख्यात ग्रन्थ की टीका है।

(ख) माध्यमिक मत

१ चन्द्रकीर्ति

ये दक्षिण भारत के निवासी थे। बुद्धपालित तथा भव्य के प्रसिद्ध शिष्य कमल बुद्धि से इन्होंने शून्यवाद के ग्रन्थों को पढ़ा था। इस प्रकार ये इन दोनों आचार्यों के प्रशिष्य थे। ये नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) माध्यमिकावतार, (२) प्रसन्नपदा—यह माध्यमिक कारिकाओं की सर्वश्रेष्ठ, सुबोध, प्रामाणिका टीका है। इसका मूल संस्कृत में सम्पादन डा० पुसें ने बिब्लियोथिका बुद्धिका सीरीज में किया है। (३) चतुःशतक वृत्ति—यह आर्यदेव के ग्रन्थ पर टीका है। यह तिब्बती अनुवाद में पूरी तथा मूल संस्कृत में अभी अधूरी ही उपलब्ध हुई है। चन्द्र-कीर्ति का समय ६००–६५० ई० है। ये अपने समय के सर्वश्रेष्ठ माध्यमिक आचार्य थे।

२ शान्त रक्षित

ये स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे तथा नालन्दा महाविहार में अध्यापक थे। ये तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये। वहाँ इन्होंने एक बड़े विहार की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बन गये। इन्होंने धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' पर विस्तृत टीका लिखी है परन्तु इनका मौलिक विपुल काय ग्रन्थ 'तत्त्वसंग्रह' है। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण दार्शनिकों के मत की विस्तृत समीक्षा कर बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। यह वास्तव में नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेय बहुल ग्रन्थ है। कमलशील ने 'तत्त्व-संग्रह पञ्जिका' के नाम से इसकी टीका लिखी है। कमलशील नालन्दा विहार में तन्त्र के अध्यापक थे। अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय अष्टम शतक माना जाता है।

जैन दर्शन

जैनधर्म का उदय बौद्धधर्म से भी पहले की घटना है। बौद्धों के ग्रन्थों में जैनधर्म के तीर्थंकरों का वर्णन पाया जाता है। इस धर्म में २४ तीर्थंकर हुए जिनमें पहले पार्श्वनाथ और अन्तिम महावीर माने जाते हैं। इस धर्म में अनेक प्रकाण्ड दार्शनिक हुए जिन्होंने ब्राह्मण दार्शनिकों के आक्रमण से जैन दर्शन को बचा कर इसकी नींव को सुदृढ़ बनाया। ऐतिहासिक दृष्टि से हम जैनदर्शन को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. पूर्वयुग (प्रथम शताब्दी से पञ्चम तक)
२. मध्ययुग (षष्ठ " से नवम तक)
३. अवान्तर-युग (दशम " से अन्त तक)

इस पूर्व या प्राचीनकाल में अनेक जैनदार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के द्वारा जैन-दर्शन की नींव डाली तथा उसे मजबूत बनाया। इन आचार्यों में तीन के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) उमास्वाति, (२) कुन्दकुन्दाचार्य और (३) समन्तभद्र। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ-सूत्र' नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की जो महत्त्व में न्यायसूत्र के समकक्ष माना जाता है। जैनदर्शन के माननीय सिद्धान्तों को समझने के लिए यह ग्रन्थ पथप्रदर्शक है। कुन्दकुदाचार्य सम्भवतः उमास्वाति के समसामयिक थे। ये एक विख्यात जैन दर्शनाचार्य थे। इन्होंने चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जो जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—

नियमसार, पंचास्तिकायसार, समयसार, और प्रवचनसार । समतभद्र जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। ये बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें 'आप्तमीमांसा' और 'गन्धहस्तिभाष्य' प्रसिद्ध हैं ।

परन्तु हमारा सम्बन्ध इस दर्शन के केवल मध्ययुग से है । यह काल जैनदर्शन के इतिहास में सुवर्णयुग समझा जाता है। इस युग को अनेक मौलिक, विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित रचनाओं के निर्माण का सौभाग्य प्राप्त है। इस युग के प्रधान आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है ।

१ सिद्धसेन दिवाकर

ये अपने समय के सबसे बड़े पण्डित थे। उज्जैन के राजा किसी विक्रमादित्य के साथ इनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इनके गुरु का नाम 'वृद्धवादी' था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं:—(१) न्यायावतार, (२) सन्मति तर्क, (३) तत्त्वार्थ टीका और (४) कल्याण-मन्दिर स्तोत्र । 'न्यायावतार' की रचना कर इन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया । इनका 'सन्मतितर्क' नितान्त प्रमेय बहुल ग्रन्थ है । इनका समय पञ्चम शताब्दी माना जाता है[१] ।

२ हरिभद्र

इनका समय अष्टम शतक माना जाता है । जैनधर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने लोकप्रिय 'षड्दर्शन समुच्चय' तथा 'अनेकान्त जयपताका' की रचना की है।

३ भट्ट अकलङ्क

ये दिगम्बर मतानुयायी थे। अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध में ये उत्पन्न हुए थे। इन्होंने 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर 'राजवार्तिक' तथा आप्त मीमांसा के व्याख्या रूप में 'अष्टशती' की रचना की है। अभी हाल में इनके तीन छोटे छोटे दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है जिनके नाम हैं—(१) लघीयस्त्रय, (२) न्याय विनिश्चय तथा (३) प्रमाण संग्रह। ये सभी ग्रन्थ जैन न्याय से सम्बन्ध रखते हैं ।

४ विद्यानन्द

इनका समय भी नवम शताब्दी है। इन्होंने 'अष्टशती' पर 'अष्ट साहस्री'

१. इनके जीवनचरित तथा ग्रन्थों के विशेष वर्णन के लिए देखिए—पं० सुखलाल—'सन्मतितर्क' की भूमिका, पृ० १—५५.

तथा 'तत्त्वार्थ सूत्र' पर 'श्लोकवार्तिक' नामक टीका लिखी है। इस प्रकार इन्होंने मीमांसक-शिरोमणि कुमारिल भट्ट की शैली का अनुकरण किया है।

अकलंक और विद्यानन्द जैनदर्शन को प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य बनाने वाले विद्वान् हैं। इन दोनों की कृतियाँ प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण हैं। विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' मीमांसा का जैसा सबल खण्डन किया है वैसा 'तत्त्वार्थ-सूत्र' की अन्य टीका में उपलब्ध नहीं है। भट्ट अकलंक ने जैन न्याय में जो परिभाषाएँ निर्दिष्ट कीं, जो लक्षण और परीक्षण किया वही सर्वमान्य हुआ। इन्होंने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति को मुंहतोड़ उत्तर दिया था। विद्यानन्द ने शान्तरक्षित के परीक्षणों की जैन परम्परा में समीक्षा का सूत्रपात किया। ये दोनों ही प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा जैन न्याय को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठापित करने वाले थे।

५ वादिराजसूरि

ये दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक विद्वान् माने जाते हैं। ये द्राविड़ संघ के अनुयायी थे। इन्हें स्याद्वादविद्यापति' की उपाधि मिली थी जिससे इनकी विद्वत्ता का पता चलता है। 'एकीभाव स्तोत्र' के अनुसार इनके समान कोई भी अन्य शाब्दिक, तार्किक तथा कवि न था। दक्षिण के सोलंकी वंश के विख्यात राजा जयसिंह (प्रथम) के ये समकालीन थे। अतः इनका समय दशम शताब्दी समझना चाहिए। इनके काव्य ग्रन्थों में 'पार्श्वनाथ-चरित्र' की पर्याप्त ख्याति है। इनका न्याय विषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'न्याय विनिश्चय निर्णय' है।

६ हेमचन्द्र

ये अपने समय के उद्भट विद्वान् तथा विख्यात जैनाचार्य माने जाते थे। ये बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य, व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादि की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन न्याय के ऊपर 'प्रमाण मीमांसा' नामक विद्वत्तापूर्ण तथा प्रमेय बहुल ग्रन्थ का निर्माण किया है। निखिल शास्त्रों में निपुण होने के कारण इन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि मिली थी। इनका समय १०८८ से ११७२ ई० है।

७ देवसूरि

इनका समय १२वीं शताब्दी है। इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार'

तथा इसकी टीका 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना की है। ये ग्रन्थ जैन न्याय के महत्त्वपूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं।

इस काल के अनन्तर मल्लिषेण सूरि, गुणरत्न, और यशोविजय आदि अनेक जैन दार्शनिक हुए जिन्होंने ग्रन्थ रचना के द्वारा जैन दर्शन तथा न्याय को लोकप्रिय बनाया।

वैज्ञानिक साहित्य

कोश

हिन्दी में एक कहावत है कि 'विना कोश का राजा और विना कोश का कवि दोनों व्यर्थ हैं।' वस्तुतः जिस कवि के पास शब्द-भाण्डार नहीं वह काव्य की रचना क्या करेगा ? अतः कवि के लिए शब्द-कोश अत्यावश्यक है। भारत में कोश लिखने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। हमारे यहाँ सब से प्राचीन कोश 'निघण्टु' कहलाते हैं जो वैदिक शब्दों के संग्रह हैं। ऐसे निघण्टु ग्रन्थों में यास्क का निरुक्त परम प्राचीन है। परन्तु इन कोशों का उद्देश्य संस्कृत साहित्य में लिखे गये बाद के कोशों से सर्वथा भिन्न था।। इन निघण्टु ग्रन्थों का उद्देश्य उन वैदिक ऋचाओं की व्याख्या को स्पष्ट करना था जो काल के अतिक्रमण से बोधगम्य नहीं थीं। परन्तु बाद के लिखे गये कोशों का लक्ष्य कवियों के लिए शब्द-भाण्डार प्रस्तुत करना था।

संस्कृत में जो कोश उपलब्ध होते हैं वे दो प्रकार के पाये जाते हैं:—(१) पर्यायवाची, (२) अनेकार्थ या नानार्थवाची। पहले प्रकार के कोश वे हैं जिनमें किसी एक शब्द के जितने पर्यायवाची शब्द हो सकते हैं वे सभी एकत्र दे दिये जाते हैं। ऐसे कोशों में अमरकोश प्रधान है। दूसरे प्रकार के कोश वे हैं जिनमें एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थवाची जितने भी शब्द हो सकते हैं उन सभी का संग्रह रहता है। ऐसे ग्रन्थों में 'अनेकार्थ समुच्चय' प्रसिद्ध है। संस्कृत के कोश, आधुनिक कोशों की भाँति, अकारादि क्रम से नहीं लिखे गये हैं। अतः उनमें किसी शब्द विशेष का अर्थ खोज निकालने में बड़ी कठिनता होती है। परन्तु इस विषय में इन कोशों का दोष नहीं है। ये ग्रन्थ कण्ठस्थ करने के लिए पद्यबद्ध लिखे गये थे और कण्ठस्थ करने में तभी सुविधा हो सकती थी जब सभी पर्यायवाची या अनेकार्थवाची शब्द एक साथ ही रक्खे गये हों। अतः अकारादि क्रम से इन कोशों का निर्माण सुविधाजनक न होता। इन कोशों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें शब्दों के लिंग और

वचन भी दे दिये हैं जिससे पाठकों का बड़ा लाभ होता है। यदि इन कोशों में लिंग-निर्देश न होता तो संस्कृत के पाठकों को लिंग निर्णय में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता।

ये कोश संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं के पाये जाते हैं। हेमचन्द्र ने अपने 'देशी नाम माला' में देशी शब्दों का संग्रह किया है। हमारी कोश सम्पत्ति भी बृहत् है जिसका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

१ अमरकोश

संस्कृत के कोश साहित्य में अमरकोश का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ है। संस्कृत का विद्यार्थी सर्वप्रथम इसी कोश को कण्ठस्थ कर अपने संस्कृत-ज्ञान की नींव डालता है। प्राचीन समय में अमरकोश और अष्टाध्यायी ही विद्यार्थी को सब से पहले पढ़ाये जाते थे। यह प्रथा अब तक चल रही है। अमर सिंह ने 'नाम लिंगानुशासन' नामक ग्रन्थ लिखा था जो अपने रचयिता के नाम से 'अमरकोश' के नाम से विख्यात है। अमरसिंह कवि भी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में बुद्ध को "सर्वज्ञ" लिखा है। इससे जान पड़ता है कि ये बौद्ध मतानुयायी थे और महायान सम्प्रदाय से पूर्ण परिचित थे। जिनेन्द्र बुद्धि (७०० ई०) के न्यास में इनका उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु भारत में बौद्ध-धर्म का जो ह्रास हुआ इससे इनका समय ८०० ई० के बाद नहीं माना जा सकता। ये विक्रम की सभा के नवरत्न माने जाते हैं अतः इनका समय ६ठी शताब्दी मानना न्याय संगत प्रतीत होता है।

इनका कोश पर्यायवाची है। इसमें एक शब्द के समस्त पर्यायवाची शब्दों का एकत्र संकलन किया गया है। अनुक्रमणी रूप में अनेकार्थ शब्दों की सूची भी दी गई है। यह ग्रन्थ अनेक वर्गों में विभक्त है। इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमें क्षीरस्वामी—जिनका समय ११वीं शताब्दी है—का भाष्य नितान्त प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। सर्वानन्द तथा रायमुकुटमणि ने भी इस पर टीकाएँ लिखी हैं।

२ पुरुषोत्तमदेव

इनका 'त्रिकाण्ड शेष' कोश ग्रन्थ है जिसमें विशिष्ट शब्दों का संग्रह है। इन्होंने 'हारावली' नामक दूसरा कोश लिखा है जो पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्दों का संग्रह है।

३ शाश्वत

शाश्वत भी अमरसिंह के समान ही प्राचीन कोशकार हैं। इनका 'अनेकार्थ समुच्चय' कोश नानार्थवाची शब्दों का संग्रह है। यह ग्रन्थ अपने समय में बड़ा प्रसिद्ध था। मल्लिनाथ ने इस कोश का उल्लेख अपनी टीकाओं में 'इति शाश्वतः' के नाम से अनेक बार किया है। अनेकार्थवाची कोशों में शाश्वत का ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है।

४ हलायुध

हलायुध का समय ९५० ई० के लगभग है। इनका 'अभिधान रत्नमाला' एक सुन्दर कोश है। ये कवि होने के अतिरिक्त वैयाकरण भी थे। इनके एक शताब्दी पश्चात् यादवप्रकाश ने 'वैजयन्ती' की रचना की। यह ग्रन्थ परिमाण में बृहत् है। इसमें शब्दों की योजना बड़े वैज्ञानिक ढंग से की गई है।

५ हेमचन्द्र

ये सुप्रसिद्ध जैनाचार्य थे जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन्होंने 'अभिधान-चिन्तामणि' नामक कोश लिखा है। यह कोश छः परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें जैन देवताओं का वर्णन प्रथम पाया जाता है। इस ग्रन्थ के अन्त में 'निघण्टु शेष' के नाम से वनस्पति शास्त्र के शब्दों का भी संग्रह है। इन्होंने 'देशी नाममाला' नामक एक अन्य कोश भी लिखा है जिसमें तत्सम और तद्भव से भिन्न शुद्ध देशी शब्दों का संग्रह है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है।

एक दूसरे जैन लेखक धनञ्जय ने सन् ११२३ से ११४० ई० के बीच में 'नाममाला' कोश का निर्माण किया। महेश्वर का 'विश्व प्रकाश' सन् ११११ ई० में लिखा गया। मंख ने अपने 'अनेकार्थ कोश' की रचना कुछ समय पश्चात् की। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अमरसिंह, शाश्वत तथा हलायुध के ग्रन्थों का उपयोग किया है। केशव स्वामिन् का 'नानार्थार्णव संक्षेप' १२०० ई० की रचना है।

इस समय के बाद भी अनेक कोशों की रचना होती रही जिनमें मेदिनी का 'अनेकार्थ शब्दकोश' प्रसिद्ध है। एकाक्षरकोश तथा द्विदय कोशों का भी निर्माण हुआ। बौद्धों ने निघण्टु पद्धति पर 'महाव्युत्पत्ति' नामक एक कोश लिखा।

उपर्युक्त संस्कृत के कोशों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में भी कोशों की रचना हुई। सन् ९७२ ई० में धनपाल ने अपनी बहन सुन्दरी के लिए 'पाइय-लच्छी' (प्राकृत लक्ष्मी) 'नाममाला' नामक कोश की रचना की। यह प्राकृत कोश बड़ा सुन्दर है। हेमचन्द्र ने अपने कोश में इसका बड़ा उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्राकृत कोश हेमचन्द्र का 'देशीनाममाला' है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

इन कोशों का महत्त्व भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक है। शब्दों की जीवनी जानने के लिए भी ये अत्यन्त उपयोगी हैं। पद्यमय होने के कारण इनको कण्ठस्थ करना सरल है। इस प्रकार कंठस्थ होने के कारण ये विस्मृति के गर्त में गिरने से बचाये जा सके हैं।

छन्द

छन्दःशास्त्र वेदों का अंग समझा जाता है। वेदांगों में छन्द का प्रधान स्थान है। अतः अत्यन्त प्राचीन काल से इसकी मीमांसा हमारे यहाँ होती चली आई है। शाङ्ख्यायन श्रौतसूत्र, निदान सूत्र, रिक् प्रातिशाख्य और कात्यायन की अनुक्रमणी में छन्दों का वर्णन मिलता है। छन्दःशास्त्र के सब से प्रथम आचार्य पिंगल समझे जाते हैं जिनका पिंगल सूत्र इस शास्त्र का सब से प्रधान ग्रन्थ है। पिंगल ने प्राकृत के छन्दों के ऊपर भी कोई पुस्तक लिखी थी। पिंगल के छन्दःसूत्र का प्रभाव अग्नि-पुराण पर भी पड़ा है। वहाँ जो छन्दों का वर्णन मिलता है वह इस सूत्र के अनुसार ही है। श्रुतबोध छन्दः-शास्त्र को समझाने वाला सब से सरल, सीधा तथा जनप्रिय ग्रन्थ है। प्रारम्भ में संस्कृत के विद्यार्थी इसी ग्रन्थ को पढ़कर छन्दःशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ग्रन्थ के रचयिता कालिदास माने जाते हैं परन्तु इन्हें शकुन्तला के कर्त्ता सुप्रसिद्ध महाकवि कहना कठिन है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक श्लोक में छन्द का लक्षण तथा उदाहरण दोनों साथ ही दिये गये हैं। वराह मिहिर की बृहत्संहिता में भी छन्द का विवरण उपलब्ध है। क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्त तिलक' इस विषय का प्रधान ग्रन्थ है जो तीन खण्डों में है। प्रथम भाग में छन्दों के लक्षण तथा उनके स्वरचित उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय में छन्द दोष का वर्णन है तथा तृतीय भाग में कविता, भाव, रस, समय तथा प्रसंग के अनुसार अनुकूल छन्दों के विधान का विवरण दिया गया है। कौन कवि किस छन्द के लिखने में विशेषता रखता है—जैसे पाणिनि की

उपजाति, कालिदास का मन्दाक्रान्ता और भवभूति की शिखरिणी आदि—तथा किस छन्द का किस प्रसंग में प्रयोग करता है, इसका भी मार्मिक विवेचन किया गया है। हेमचन्द्र ने 'छन्दोनुशासन' नामक ग्रन्थ की रचना की है। दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण' सुन्दर ग्रन्थ है। गंगादास की छन्दोमञ्जरी भी प्रसिद्ध है। केदार भट्ट ने 'वृत्त रत्नाकर' की रचना की। यह ग्रन्थ श्रुतबोध से बड़ा तथा पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें १३६ छन्दों का वर्णन है। श्रुतबोध के बाद इसी ग्रन्थ का प्रचार पाया जाता है। यह ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और सरल है।

व्याकरण

संस्कृत साहित्य में व्याकरण-शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है कि व्याकरण को बिना अच्छी तरह से जाने कोई संस्कृत का प्रगाढ़ विद्वान् हो ही नहीं सकता। वेदांगों में व्याकरण प्रधान माना जाता है जैसा कि "मुखं व्याकरणं स्मृतम्" इस सुभाषित से प्रसिद्ध है। यह सकल शास्त्रों में नेत्र के समान है जिससे किसी शास्त्र का तत्त्वदर्शन किया जा सकता है। व्याकरण के पठन पाठन की परम्परा हमारे यहाँ चिरकाल से चली आती है। वेदों के समय में भी उनके उच्चारण में स्वर ज्ञान के लिए व्याकरण की आवश्यकता पड़ती थी। यास्क ने अपने निरुक्त में नामन्, सर्वनामन्, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग तथा निपात का उल्लेख किया है। यास्क का यह सिद्धान्त था कि जितने शब्द हैं उनकी उत्पत्ति क्रियाओं से हुई है। परन्तु संस्कृत व्याकरण को सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय महर्षि पाणिनि को है जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध अष्टाध्यायी की रचना करके संस्कृत व्याकरण को इतना दृढ़मूल बना दिया कि आज अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों बना हुआ है। अष्टाध्यायी से पता चलता है कि पाणिनि ने जिस संस्कृत भाषा का व्याकरण बनाया था वह लोक व्यवहार की भाषा थी। पाणिनि के अनेक शताब्दियों के बाद संस्कृत भाषा में कुछ नये शब्दों की उत्पत्ति हुई तथा कुछ पुराने शब्दों का प्रयोग व्यवहार से उठ गया था। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए आचार्य कात्यायन ने—जो वररुचि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं—वार्तिकों की रचना की जिनमें उन्होंने पाणिनि के सूत्रों से न सिद्ध होने वाले प्रयोगों की सिद्धि बतलाई। समय के प्रभाव से भिन्न-भिन्न देशों में एक ही शब्द का जो भिन्न भिन्न प्रयोग होता था उसे भी कात्यायन ने

दर्शाया है। इस प्रकार भाषा के प्रयोग तथा उसके व्याकरण में जो अन्तर पड़ गया था उसे दूर किया। कात्यायन के कुछ समय—लगभग १५० वर्ष—पश्चात् महर्षि पतञ्जलि ने अपने सुप्रसिद्ध महाभाष्य की रचना की जो विद्वत्ता और प्रामाणिकता में अद्वितीय माना जाता है। इन्होंने पाणिनि व्याकरण पर होने वाले आक्षेपों का उत्तर देकर तथा परस्पर विरोधी नियमों की ठीक व्यवस्था कर पाणिनीय व्याकरण की प्रतिष्ठा की। इनका ग्रन्थ इतना प्रामाणिक माना जाता है कि यदि इनसे किसी आचार्य का विरोध भी हो तो वही प्रमाणभूत माने जाते हैं। संस्कृत व्याकरण में ये तीनों आचार्य—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि, मुनित्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। संस्कृत व्याकरण की आजकल जो कुछ रूपरेखा दिखाई पड़ती है उसके निर्माणकर्ता ये ही 'मुनित्रय' हैं।

भर्तृहरि की मृत्यु ६५१ ई० के आसपास हुई थी। उन्होंने पतञ्जलि के महाभाष्य पर टीका लिखी थी। परन्तु इस टीका का अब पता नहीं चलता। इनका 'वाक्यपदीय' व्याकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें शब्द के ऊपर दार्शनिक विचार किया गया है। यह विद्वत्तापूर्ण तथा कठिन ग्रन्थ है। काश्मीरी विद्वान् कैयट ने १२वीं शताब्दी में महाभाष्य पर 'प्रदीप' नामक टीका लिखी थी। महाभाष्य की यही एक टीका आजकल उपलब्ध होती है। इन्होंने महाभाष्य के गूढ़ार्थ को समझाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। कैयट ने अपनी टीका में भर्तृहरि से बहुत कुछ सामग्री ली है। नागोजी भट्ट ने १७०० ई० के लगभग 'प्रदीप' के ऊपर टीका लिखी थी।

पाणिनि के सूत्रों पर लिखी गई दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'काशिका वृत्ति' है। इसके लेखक जयादित्य और वामन हैं जिन्होंने ६६२ ई० के आसपास इस ग्रन्थ की रचना की। यह उत्तम तथा उपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की भाषा स्वच्छ तथा शैली रोचक है। इत्सिंग जब भारतवर्ष में आया था तब उसने चीन देशीय विद्यार्थियों को यह ग्रन्थ पढ़ते पाया था। उसने लिखा है कि संस्कृत व्याकरण की जानकारी के लिए प्रत्येक छात्र पाँच वर्ष तक इस ग्रन्थ को पढ़ता था। सन् ७०० ई० के लगभग बौद्ध पण्डित जिनेन्द्र बुद्धि ने 'काशिका वृत्ति' की टीका लिखी जो 'न्यास' के नाम से प्रसिद्ध है। महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपालबध' में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है[1]। एक

---

१. शिशुपालवध, सर्ग २

दूसरे बौद्ध विद्वान् शरणदेव ने सर्वरक्षित की अध्यक्षता में सन् ११७२ ई० में 'दुर्घट वृत्ति' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में—जैसा कि नाम से ही विदित है—कठिन शब्दों की सिद्धि की गई है। इस ग्रन्थ में पाणिनि के 'जाम्बवती विजय' काव्य से तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ऊपर जिन ग्रन्थों का वर्णन किया गया है वे मौलिक रचनाएँ हैं जो विद्वानों के लिए ही उपयोगी हैं। अब ऐसे ग्रन्थों की भी आवश्यकता थी जिन्हें सर्व-साधारण पढ़ सकें। इस कमी को भट्टोजी दीक्षित ने अपनी प्रसिद्ध 'सिद्धान्त-कौमुदी' लिखकर दूर किया। इसके पहले रामचन्द्र ने सन् १४०० ई० के लगभग 'प्रक्रिया कौमुदी' का निर्माण किया था। भट्टोजी दीक्षित ने 'सिद्धान्त-कौमुदी' की टीका भी लिखी जो प्रौढ़ मनोरमा के नाम से प्रसिद्ध है। वरद-राजाचार्य ने 'मध्यसिद्धान्त कौमुदी' तथा लघु सिद्धान्तकौमुदी' लिखकर संस्कृत व्याकरण को लोकप्रिय बनाया। ये दोनों व्याकरण संस्कृत के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए लिखे गये हैं। आजकल पाठशालाओं में ये ही ग्रन्थ सर्वप्रथम संस्कृत छात्रों को पढ़ाये जाते हैं।

पहले पाणिनीय व्याकरण का संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है। इस निर्दिष्ट काल में व्याकरण में पाणिनीय सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्र-दायों का भी उदय हुआ तथा इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने नवीन व्याकरण की रचना कर एक नया मार्ग चलाया। ऐसे व्याकरणों में 'कातन्त्र' सब से प्राचीन है। इसे कौमार या कालाप भी कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि इसके रचयिता शर्व वर्मन् ने शिव के प्रसाद से इस ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का काश्मीर तथा बंगाल में बड़ा प्रचार था। कच्चायन के पाली व्याकरण पर इसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। दुर्गसिंह ने इस पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के अतिरिक्त उग्रहभूति ने सन् १००० ई० के आसपास 'शिष्यहितान्यास' नामक एक टीका लिखी थी। 'कातन्त्र' का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया गया था।

चन्द्रगोमिन् ने ६०० ई० के लगभग 'चान्द्र व्याकरण' लिखा। यह व्याकरण बौद्ध देशों में अधिक प्रचलित था। चन्द्रगोमिन् ने इस व्याकरण की एक टीका स्वयं लिखी थी। सन् १२०० ई० के लगभग बौद्ध भिक्षु काश्यप ने 'बालावबोधन' नामक ग्रन्थ लिखा था जो लंका में अधिक प्रसिद्ध हुआ।

जैनों ने भी इस काल में व्याकरण लिखे जिनमें जिनेन्द्र लिखित 'जिनेन्द्र व्याकरण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तव में इस ग्रन्थ की रचना पूज्यपाद

देवस्वामिन् ने ६७८ ई० के लगभग की थी। शाकटायन ने अमोघवर्ष (८१४-७७ ई०) के राज्यकाल में शाकटायन व्याकरण लिखा । इस ग्रन्थ में पाणिनि, चन्द्रगोमिन् तथा जिनेन्द्र के व्याकरणों से अधिक सहायता ली गई है। सन् ११५० ई० में क्रमदीश्वर ने 'संक्षिप्तसार' की रचना की। बोपदेव का 'मुग्धबोध' व्याकरण बंगाल में बहुत प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। यह सन् १२५० में लिखा गया था । सचमुच यह ग्रन्थ विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ाने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। विहार तथा काशी में 'सारस्वती प्रक्रिया' का कभी प्रचार था जिसकी टीका अनुभूतिस्वरूप ने लिखी है।

इन संस्कृत व्याकरणों के अतिरिक्त इस काल में प्राकृतभाषा के भी अनेक व्याकरण लिखे गये। वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' इस काल के बहुत पहले लिखा जा चुका था। चण्ड का 'प्राकृत लक्षण' भी सुन्दर व्याकरण ग्रन्थ है। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने 'उणादि सूत्र वृत्ति', धातुपाठ, धातुपारायण तथा 'शब्दानुशासन' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। लक्ष्मीधर ने 'शम्भु-रहस्य' का निर्माण किया था। इस काल के पश्चात् राम तर्कवागीश ने (१७वीं शताब्दी में) प्राकृत कल्पतरु लिखा। इसी शताब्दी में मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' लिखा जिसका आधार यही कल्पतरु था। इस प्रकार इस काल के बाद भी प्राकृत व्याकरण की रचना होती रही[1]।

आयुर्वेद

आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त प्राचीन है । यह भी अन्य वेदांगों के समान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है । जैसा कि इसके नाम से ही विदित है। आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसमें आयु अर्थात् जीवन रक्षा का विधान किया गया है। आयुर्वेद का उल्लेख वेदों में भी पाया जाता है । अथर्ववेद में प्रेतबाधाओं तथा रोगों से पीड़ित मनुष्यों के लिए अनेक ओषधियों का वर्णन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (१०।५।४।१८ तथा १२।३।२।३) में शरीर विद्या (एनाटोमी) का उल्लेख है । धन्वन्तरि इस विद्या के आदि आचार्य तथा

---

१. इस विषय के विशेष वर्णन के लिए देखिए—
(क) डा० कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४२२-४३६
(ख) डा० बेलवेलकर—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर ।
(ग) डा० ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ६६-६७

सर्वश्रेष्ठ वैद्य समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्राचीन ऋषि आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश और भेड़ आदि भी इस शास्त्र के पारदर्शी विद्वान् हैं। कहा जाता है कि महाभाष्य के सुप्रसिद्ध रचयिता पतञ्जलि ने भी इस शास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था परन्तु उनका ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

आयुर्वेद के इतिहास में तीन आचार्यों का नाम बहुत ही प्रसिद्ध है। ये आचार्य चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट हैं जिनके ग्रन्थ 'बृहत्त्रयी' के नाम से विख्यात हैं। इस त्रयी में चरकाचार्य सब से प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं। ये सुप्रसिद्ध कुशानवंशी नरेश कनिष्क के राजवैद्य थे। इन्होंने अपने अलौकिक चमत्कार से उसकी स्त्री को नीरोग किया था। 'चरक संहिता' बड़ी प्रामाणिक तथा मौलिक पुस्तक समझी जाती है। इस ग्रन्थ का फारसी भाषा में अनुवाद बहुत पहले किया गया था। सन् ८०० ई० के लगभग इसका अनुवाद अरबी भाषा में भी हुआ। विद्वानों का मत है कि काश्मीर के निवासी दृढ़बल ने इस ग्रन्थ का संशोधन ८वीं अथवा नवीं शताब्दी में किया था।

सुश्रुत इस शास्त्र के दूसरे महान् आचार्य हैं। ये भी चरक के समान ही विख्यात हैं। इनकी 'सुश्रुत संहिता' पुस्तक बड़ी महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में ये विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। इस ग्रन्थ में शल्यशास्त्र (सर्जरी) का बड़ा विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन मिलता है। अत्यन्त प्राचीन काल में भी हमारे यहाँ शल्य चिकित्सा की अधिक उन्नति हुई थी। सुश्रुत संहिता का प्रचार चरक की भाँति इस देश के बाहर भी हुआ। नवीं शताब्दी में इनके ग्रन्थ की प्रसिद्धि पूर्व में कम्बोडिया से लेकर पश्चिम में अरब देश तक फैली हुई थी। ११वीं शताब्दी में चक्रपाणि दत्त ने इस ग्रन्थ की टीका लिखी। जैयट ने भी इसकी कोई व्याख्या लिखी थी।

वाग्भट इस त्रयी के तीसरे आचार्य हैं। इस नाम के दो आचार्य पाये जाते हैं जिनमें एक का नाम है वृद्ध वाग्भट और दूसरे का वाग्भट। वृद्ध वाग्भट ने दो ग्रन्थों की रचना की है जिनके नाम 'अष्टांगहृदय' और 'अष्टांगहृदय संहिता' हैं। इनके पिता का नाम सिंहगुप्त और गुरु का नाम अवलोकित था जो बौद्ध थे। इत्सिंग ने इनके ग्रन्थ का उल्लेख अपने यात्राविवरण में किया है[1]। डा० गौरीशंकर ओझा के मतानुसार वृद्ध वाग्भट ने अपने ग्रन्थों की रचना सातवीं शताब्दी में की। वाग्भट का समय

१. हार्नेली—ज० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ४१३—आग

८०० ई० के आस-पास हैं। ये वृद्ध वाग्भट से नितान्त भिन्न हैं। संभव है कि ये उन्हीं के वंशजों में से हों परन्तु इसके लिए दृढ़ प्रमाण नहीं हैं[1]।

आठवीं अथवा नवीं शताब्दी में इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ 'माधव निदान' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इसमें निदान का बड़ा विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण वर्णन किया गया है। आजकल वैद्य इसी ग्रन्थ से निदान का अध्ययन किया करते हैं क्योंकि यह निदान का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। वृन्द ने 'सिद्धियोग' अथवा 'वृन्द माधव' की रचना की जिसमें ज्वर से लेकर विष प्रयोग तक जितने रोग हो सकते हैं, उनकी औषधि बतलाई गई है। 'रुग्विनिश्चिय' में जिस क्रम से रोगों का उल्लेख है उसी क्रम से इस ग्रन्थ में औषधियों का विधान बतलाया गया है।

सन् १०६० ई० के लगभग बंगाल के निवासी चक्रपाणि दत्त ने 'चरक' और 'सुश्रुत' पर टीका लिखने के अतिरिक्त 'चिकित्सासार-संग्रह' नामक मौलिक ग्रन्थ की भी रचना की। यह ग्रन्थ वृन्द के 'सिद्धियोग' के आधार पर लिखा गया है। ११वीं या १२वीं शताब्दी में होने वाले, गदाधर के पुत्र, वंगसेन ने भी 'चिकित्सासार संग्रह' ग्रन्थ लिखा जिसमें सुश्रुत और माधव का आधार लिया गया है। सन् १२२४ ई० में सिल्हण ने दिल्ली में 'चिकित्सामृत' नामक बृहत्काय ग्रन्थ लिखा जिसमें २५०० श्लोक थे। १२००वीं के आसपास शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधर संहिता' लिखी। यह ग्रन्थ आजकल बहुत ही लोकप्रिय है। यह ग्रन्थ वैद्यक सीखने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसकी टीका वोपदेव ने लिखी है। वोपदेव के पिता का नाम केशव था जो वैद्य थे और हेमाद्रि (१३००) के आश्रय में रहते थे। इन्होंने 'शतश्लोकी' लिखी थी। 'शार्ङ्गधर संहिता' में अफीम और पारे आदि के अतिरिक्त नाड़ीविज्ञान के भी नियम दिये गये हैं।

इस काल के पश्चात् भी वैद्यक-ग्रन्थों की रचना होती रही जिनमें तिशत की 'चिकित्सा कलिका' (१४वीं शताब्दी), भाव मिश्र का 'भाव प्रकाश' (१६वीं शताब्दी), लोलिम्बराज का 'वैद्य जीवन' (१७वीं श०) और सूर्यपाल का 'वृक्षायुर्वेद' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

हमारे निर्दिष्ट काल में पारे से भस्म बनाने की प्रक्रिया की बड़ी प्रथा

---

१. ओझा—म० भा० सं०, पृ० ९५

थी। कहते हैं, यदि पारे का उचित विधि से भस्म तैयार हो जाय तो उससे कुधातु तो सुवर्ण हो ही जाता है, मनुष्य भी उस औषध से दीर्घजीवी बनाया जा सकता है और सदा के लिए युवा हो सकता है। डा० पी० सी० राय ने नागार्जुन के द्वारा रचित 'रस रत्नाकर' का उल्लेख किया है तथा इसे ७वीं या ८ वीं शताब्दी की रचना माना है। अल बेरूनी ने भी (१०३० ई०) भारतीय वैद्यों के द्वारा इसके प्रयोग के विधान का वर्णन किया है। सन् १२०० ई० के लगभग 'रसार्णव' की रचना हुई। कुछ ग्रन्थों में वाग्भट के 'रसरत्न समुच्चय' का उल्लेख मिलता है। नित्यनाथ ने 'रसरत्नाकर' लिखा तथा रामचन्द्र ने 'रसेन्द्र चिन्तामणि'। इसी समय कुछ निघण्टु भी लिखे गये। सन् १०७५ ई० में सुरेश्वर ने बंगाल के राजा भीमपाल के लिए 'शब्द प्रदीप' लिखा तथा नरहरि ने १२४० ई० के लगभग 'राज निघण्टु' की रचना की। मदनपाल ने 'मदन विनोद निघण्टु' बनाया। भोजन शास्त्र तथा पथ्य के ऊपर 'पथ्यापथ्य' निघण्टु' लिखा गया।

हमारे आयुर्वेद के आचार्यों ने रोगों की चिकित्सा के लिए केवल ग्रंथों का निर्माण ही नहीं किया बल्कि उन्होंने ऐसे नवीन तथा मौलिक सिद्धान्तों का अनुसन्धान किया जो वैद्यक के क्षेत्र में अत्यन्त अद्भुत है। अन्य क्षेत्रों के समान ही वे इस क्षेत्र में भी सब से बढ़े चढ़े थे और इन्होंने विश्व को अनेक देन दी है। हमारे आचार्यों की चार देन प्रसिद्ध हैं—(१) त्रिदोष सिद्धान्त, (२) नाड़ी-विज्ञान, (३) शल्य-चिकित्सा और (४) रसेश्वर। त्रिदोष का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। वात, पित्त और कफ को त्रिदोष कहते हैं। हमारे वैद्यों का कहना है कि संसार में जितने भी रोग हैं वे वात, पित्त अथवा कफ इन तीनों में से किसी एक के कुपित अथवा दूषित हो जाने से ही होते हैं। अतः वैद्य का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह रोग के मूल कारण का पता लगावें और इन तीनों में से जो दूषित हो उसे ठीक करें। संसार के सारे रोगों को इन्हीं तीन श्रेणियों के अन्तर्भुक्त करना हमारे वैद्यक शास्त्र की महती विशेषता है।

नाड़ी विज्ञान आयुर्वेद की एक विशिष्टता है। अरब देश के लोगों को छोड़कर संभवतः संसार के किसी भी देश के वैद्यक शास्त्र में यह नाड़ी-विज्ञान नहीं पाया जाता। अरबों ने भी इस विज्ञान को भारत से सीखा है। किसी मनुष्य की नाड़ी को देखकर उसकी बीमारी का पूर्व इतिहास, उसकी वर्तमान

अवस्था तथा उसके भीतरी कष्टों को जान लेना भारतीय वैद्यों का ही काम है। यह विज्ञान हमारे यहाँ कभी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था।

सुश्रुत में शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ में ऐसे ऐसे यन्त्रों का उल्लेख है जिन्हें सुनकर आज भी आश्चर्य होता है। व्रणवस्ति, वस्तियन्त्र, पुष्पनेत्र (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिए), शलाका यन्त्र, नखाकृति, गर्भ शंकु, प्रजनन शंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिए), सर्पमुख (सीने के लिए) आदि बहुत से यन्त्रों का उल्लेख सुश्रुत में पाया जाता है। गति व्रण (साइनस) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में सूचियों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है[१]। कहा जा चुका है कि हमारे आचार्यों को पारा-भस्म बनाने की प्रक्रिया (आलकेमी) मालूम थी। इसके द्वारा मनुष्य को सहस्रायु बनाया जा सकता है तथा बूढ़ा भी युवा हो सकता है। अरब लोगों ने इस पद्धति को हमारे यहाँ से सीखा था। भारतीय आयुर्वेद का प्रभाव यूनानी वैद्यक शास्त्र पर बहुत अधिक पड़ा है[२]। इस प्रकार संसार इस शास्त्र में भी भारत का बहुत ऋणी है।

कामशास्त्र

पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि भारतीय लोग दर्शन शास्त्र के अध्ययन में निमग्न रहा करते थे और उन्हें सांसारिक विषयों का तनिक भी ज्ञान नहीं था। परन्तु उनका यह कथन सर्वथा मिथ्या है। हमारे यहाँ कामशास्त्र का अध्ययन अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है जिससे पता चलता है कि हम आध्यात्मिक क्षेत्र के समान इस लौकिक क्षेत्र में भी किसी से कम नहीं थे।

महर्षि वात्स्यायन का कामसूत्र इस विषय का अद्वितीय मौलिक ग्रन्थ है। यह उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन है। वात्स्यायन के पहले भी इस विषय के अनेक आचार्य हो चुके थे जिनमें से कुछ के नाम ये हैं:—औद्दालकि, श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, दत्तक, सुवर्णनाभ, घोटकमुख और कुचमार आदि। इन आचार्यों का उल्लेख वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ में योग्य;

१. डा० ओझा—म० भा० सं० पृ० ९६–९८; ना० प्र० प०, भाग ८ अंक १, २ में 'प्राचीन शल्य तंत्र' लेख।

२. डा० कीथ—हि० सं० लि०, पृ० ५१३–५१५

अयोग्य स्त्री का निर्णय, स्त्री-पुरुषों के विशेष भेद, रतावस्थापन तथा रति को उत्पन्न और स्थिर करने के उपाय बतलाये गये हैं। इसमें रज और वीर्य का भी वैज्ञानिक विवेचन है। संसार की स्थिति का परिचय कराने के लिए पारदारिक, वैशिक और औपरिष्टक प्रकरण लिखे गये हैं। इस वर्णन से यह पता चलता है कि हमारे यहाँ प्राचीन समय में कामशास्त्र कितना विकसित, उन्नत तथा वैज्ञानिक था। वात्स्यायन के काल के विषय में बड़ा मतभेद है परन्तु स्थूल रूप से इनका समय तृतीय शताब्दी माना जाता है।

हमारे समय में भी इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। करनाटक के राजा नरसिंह के समकालीन ज्योतिरीश्वर ने 'पंचसायक' लिखा। सन् १८०० ई० के पहले कक्कोक (कोका पण्डित) ने 'रतिरहस्य' ग्रन्थ की रचना की। आजकल के हिन्दी के 'कोक शास्त्र' इसी 'कोका पण्डित' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नन्दिकेश्वर गणिका पुत्र तथा वात्स्यायन के ग्रन्थों से सहायता लेने का उल्लेख किया है। दामोदर गुप्त का 'कुट्टनीमत' कुटनी स्त्रियों के व्यवहार को बतलाने वाला बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। जयदेव की 'रति-मञ्जरी'—जो गीतगोविन्द के कर्त्ता जयदेव से भिन्न हैं—और कल्याण-मल्ल का 'अनंग रग' उपयोगी पुस्तकें हैं। विसलदेव (१२४३–६१) के राज्यकाल में यशोधर ने कामसूत्र के रहस्यों को समझाने वाली 'जय मंगला' नामक टीका लिखी। नागार्जुन के नाम से 'रति शास्त्र' नामक पुस्तक प्रसिद्ध है। ये सुप्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन से नितान्त भिन्न हैं। इस प्रकार काम-शास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी गई थीं।

संगीत

भारतीय संगीत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। पुराकाल में सामवेद गाया जाता था अतः संगीत की उत्पत्ति यहीं से माननी चाहिए। हमारे देवता भी संगीत विद्या के बड़े प्रेमी थे। सरस्वती तथा नारद की वीणा प्रसिद्ध है। शिव भी ताण्डव नृत्य के समय डमरू बजाते हैं। वैदिक यज्ञों में, समय-समय पर, सामगायन का विधान पाया जाता है। इससे पता चलता है कि संगीत का प्रचार यहां बहुत दिनों से था। प्राचीन समय के अनेक संगीताचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं जिनमें से कुछ ये हैं—सदाशिव, भरत, कश्यप, मतंग, तुम्बुरु, विशाखिल और क्षेत्रराज। भरत का नाट्यशास्त्र संगीतशास्त्र का आदि ग्रन्थ है जिसमें इसके सिद्धान्तों

का प्रतिपादन बड़ी सूक्ष्म रीति से किया गया है। इस ग्रन्थ में संगीत के तीनों भेदों—नृत्य, वाद्य और गायन का बड़ा प्रामाणिक वर्णन पाया जाता है।

हमारे समय में शाङ्गंदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत-रत्नाकर' की रचना की। ये देवगिरि के यादव राजा सिंघण—जिसका राज्याभिषेक सन् १२०७ ई० में हुआ था—के यहाँ गायनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित थे। संगीत विद्या की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। इसमें शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यादि के चार भेद, स्वरों की श्रुति और जाति, ग्राम, मूर्च्छना, प्रस्तार, राग, ताल, नर्तन तथा वाद्यों के नाम का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है जिससे समय के संगीत की उन्नत अवस्था का परिचय मिलता है। इस पुस्तक में नान्यदेव (१०९६ ई०), राजा भोज (११वीं शताब्दी), सोमेश (११३० ई०) और जगदेकमल्ल (११३८ ई०) आदि अनेक संगीताचार्यों का नामोल्लेख मिलता है परन्तु खेद है कि इन लोगों की कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। दामोदर गुप्त ने 'संगीतदर्पण' की रचना की जिसमें इन्होंने संगीत विद्या संबंधी बहुमूल्य सामग्री उपस्थित की है। इस काल के पश्चात् सोमनाथ ने 'रागविबोध' का निर्माण किया जिसमें उन्होंने रागों का विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार संगीत विद्या की परम्परा प्राचीनकाल से अविछिन्न चली आ रही है। खेद है कि कराल काल के कारण इस शास्त्र की अनेक पुस्तकें नष्ट हो गईं जिससे हम उसके पूर्ण साहित्य से वंचित हो गये।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र

भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्राचीन काल में 'वार्ता' के नाम से प्रसिद्ध था और चार प्रधान विद्याओं में इसकी गणना थी। हमारे यहां मानवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य जो चार पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—हैं उनमें इसका प्रथम स्थान है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने धर्म और मोक्ष की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए अर्थ के महत्त्व को भुलाया नहीं है। महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में अर्थशास्त्र का वर्णन पाया जाता है। परन्तु इस विषय का सब से प्रामाणिक ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र है जो हमारे समय से बहुत पहले रचा गया था। कामन्दकी ने अपने 'नीतिसार' की रचना की, जिसमें अर्थशास्त्र का

बहुत कुछ उपयोग किया गया है। सोमदेव सूरि ने दसवीं शताब्दी में 'नीतिवाक्यामृत' नामक उत्तम ग्रन्थ की रचना की। इसमें राजा को किस प्रकार शासन करना चाहिए, प्रजा के साथ उसका वर्त्ताव कैसा हो आदि विषयों का वर्णन है। हेमचन्द्र (१०८८ ई०—११७२ ई०) ने 'लघु अर्हन् नीति' नाम से राजनीति पर एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में युद्ध, दण्ड, व्यवहार और प्रायश्चित्त का विधान पाया जाता है। हेमचन्द्र ने इसमें युद्ध की निन्दा की है और क्रूर शस्त्रों के प्रयोग को निषिद्ध बतलाया है। महाराज भोज का 'युक्तिकल्पतरु' और चण्डेश्वर का 'नीतिरत्नाकर' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'नीतिप्रकाशिका' और 'शुक्रनीति' बाद के ग्रन्थ हैं। 'शुक्रनीति' शुक्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु इसके रचयिता शुक्र कौन थे और उनका आविर्भाव कब हुआ, यह कहना नितान्त कठिन है। इस ग्रन्थ में दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाले सुन्दर नीति के वचन हैं।

उपर्युक्त मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों में भी अर्थशास्त्र, राजनीति और नीतिशास्त्र की बहुमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। माघ और किरातार्जुनीय में राजनीति का जैसा सुन्दर वर्णन है वैसा अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। मुद्राराक्षस में कूटनीति का अच्छा प्रदर्शन हुआ है। 'दशकुमार चरित' में राजकुमारों की शिक्षा के लिए अमूल्य सामग्री विद्यमान है।

पशुशास्त्र

पशुशास्त्र के विषय में भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। हमारे आचार्यों को संसार के जड़ और चेतन, चर और अचर सभी जीवों से प्रेम था। मानव-जीवन के साथ ही उन्होंने पशुओं के जीवन तथा स्वभाव का भी गहरा अध्ययन किया था। उनकी चिकित्सा-पद्धति को भी वे जानते थे और इस विषय पर अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी।

हाथियों की चिकित्सा के आचार्य पालकाप्य माने जाते हैं जिनका ग्रन्थ 'हस्त्यायुर्वेद' या 'गजायुर्वेद' अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ संवाद रूप में लिखा गया है जो अंग के राजा रोमपाद और महर्षि पालकाप्य में हुआ था। हेमाद्रि ने इनके द्वारा लिखे गये 'गजचिकित्सा', 'गज दर्पण' और 'गज परीक्षा' ग्रन्थों का उल्लेख किया है। 'गज परीक्षा' के नाम से ही पता चलता है कि इस ग्रन्थ में हाथियों के भेद, उनके गुण-दोष आदि का वर्णन होगा। नारायण की लिखी 'मातंगलीला' सुन्दर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पालकाप्य से सहायता

लेना स्वीकार किया गया है। बृहस्पति ने 'गजलक्षण' और 'गोवैद्य शास्त्र' की रचना की थी।

अश्व-विज्ञान के आचार्य, शालिहोत्र माने जाते हैं। इन्होंने 'शालिहोत्र शास्त्र' ग्रन्थ तथा 'अश्वतन्त्र' की रचना की है। इन ग्रन्थों में अश्वों की चिकित्सा, भेद, पहचान तथा उनके गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त गणरचित 'अश्वायुर्वेद'; जयदत्त रचित 'अश्व-वैद्यक' वर्धमान की 'योग मञ्जरी' और नकुल की 'अश्व-चिकित्सा' भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। भोज ने भी कोई शालिहोत्र लिखा था जिसमें घोड़ों की बीमारी और उनकी रक्षा का वर्णन है। मल्लिनाथ ने 'हय लीलावती' ग्रन्थ का उल्लेख किया है। अधिकांश में उपर्युक्त सभी ग्रन्थों की रचना हमारे समय में ही हुई थी। तेरहवीं शताब्दी में पशुचिकित्सा संबंधी एक संस्कृत ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें घोड़े का वर्णन ही प्रधान है। इसमें निम्नलिखित ११ अध्याय हैं जिनमें घोड़े के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है[1]:—(१) घोड़ों की विभिन्न जातियाँ, (२) उनकी उत्पत्ति और सवारी, (३) अस्तबल का प्रबन्ध, (४) घोड़ों के रंग और भेद, (५) दोष, (६) विभिन्न अंगों का वर्णन, (७) बीमारी और चिकित्सा, (८) उनका दूषित रक्त निकालना, (९) भोजन, (१०) बाजीकरण और (११) दाँतों से आयु जानना।

पशुचिकित्सा के साथ साथ पशुविज्ञान और कृमिशास्त्र भी अत्यन्त उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओं के स्वभाव और प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के शरीरविज्ञान (एनाटमी) को भी वे भली भाँति जानते थे। सर्पों की भिन्न भिन्न जातियाँ उन्हें मालूम थीं। भविष्य पुराण से पता चलता है कि सर्प वर्षा ऋतु के पूर्व संग करते हैं और छः मास के बाद सर्पिणी सैकड़ों अण्डे देती है। बहुत से अण्डों को तो माता-पिता स्वयं खा जाते हैं परन्तु बचे हुए अण्डों से दो मास में बच्चे निकल आते हैं। तीन सप्ताह में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है और छः मास में वे केंचुल उतारते हैं। उनकी त्वचा पर २४० सन्धियाँ होती हैं। उडल्लसा ने सुश्रुत की टीका करते हुए लाट्यायन का उद्धरण देकर लिखा है कि वह कृमियों और सरी-

---

१. हरविलास शारदा—हिन्दूसुपिरियारिटी, पृ० २५६–५७

सृपों (रेंगने वाले जन्तुओं) के विषय में प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियों के भिन्न भिन्न अंगों पर विचार किया है [1]।

हमारे निर्दिष्ट समय के आसपास जैन पण्डित हंसदेव का लिखा हुआ 'मृगपक्षि शास्त्र' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें सिंहों के छः भेद—सिंह, मृगेन्द्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि—बताकर उनकी विशेषताएँ बतलाई गई हैं। सिंह की आकृति और स्वभाव का भी वर्णन किया गया है जिससे पता चलता है कि वह भूख लगने पर अत्यन्त भयंकर और यौवनकाल में विशेष कामुक होता है। वह गुफाओं में रहता है और प्रसन्न होने पर पूंछ हिलाता है। शेरनी के विषय में, उसके गर्भ, गर्भकाल और स्वभाव आदि पर भी उक्त ग्रन्थ में विशेष प्रकाश डाला गया है।

सिंह और शेर के वर्णन के अनन्तर हंसदेव ने व्याघ्र, भालू, गैंड़ा, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा, गाय, बैल, गरुड़, हंस, बाज, गिद्ध, सारस, कौआ आदि नाना पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है जिसमें उनके भेद, वर्ण, युवाकाल, संयोग-समय, गर्भकाल, प्रकृति, जाति, आयु, भोजन तथा निवास का वैज्ञानिक वर्णन पाया जाता है। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने 'श्येनशास्त्र' नामक ग्रन्थ का पता लगाया है जिसमें बाज के द्वारा चिड़ियों के शिकार का बड़ा रोचक वर्णन पाया जाता है। 'मृगयाशास्त्र' पर भी हमारे यहाँ पुस्तकें थीं जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं हैं। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि हमारे आचार्यों ने पशु शास्त्र के ऊपर विचार कर कितनी साहित्य-सृष्टि की थी।

विविध शास्त्र

उपर्युक्त शास्त्रों के अतिरिक्त रत्नशास्त्र तथा चौर्यशास्त्र पर भी पुस्तकें पाई जाती हैं। प्राचीन भारत में हीरा, जवाहर, मोती, पन्ना आदि रत्नों का बड़ा महत्त्व था तथा राजा लोग इनका अधिक प्रयोग करते थे। अतः इनको पहचानना तथा इनकी परीक्षा करना स्वाभाविक था। इसी कारण रत्न शास्त्र की उत्पत्ति हुई। वराह मिहिर ने रत्नों की परीक्षा का सुन्दर वर्णन किया है। बुद्धभट्ट की 'रत्नपरीक्षा' तथा नारायण पण्डित की 'नवरत्न-

---

१. डा० वि० कु० सरकार—हिन्दू एचीवमेन्ट्स इन एक्जैक्ट साइंसेज़, पृ० ७१–७५

परीक्षा' इस विषय के सुन्दर ग्रन्थ हैं जिनमें नवरत्नों की परीक्षा, उनके गुण-दोष का विवेचन तथा उनके धारण करने से मनुष्य के जीवन पर प्रभाव आदि का मार्मिक वर्णन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मणि परीक्षा', 'ज्ञान-रत्नकोष', 'रत्नदीपिका' और 'रत्नमाला' आदि इस विषय के मुख्य ग्रन्थ हैं[1]। पूर्व मध्य कालीन राजा विजयसेन की देवपारा प्रशस्ति में ऐसा ही उल्लेख आता है। ब्राह्मण को दान में अनेक बहुमूल्य रत्न दिए गए थे परन्तु ग्रामीण स्त्रियाँ उसे पहचान न सकीं। रत्नों की पहचान के लिए नागरिक रमणियों की सहायता ली गई थी। अतएव यह कहा जा सकता है कि नगरों में रत्नों के जानकार रहते थे और स्त्रियाँ तक उन्हें पहचान सकती थीं। लोगों में इसका समुचित ज्ञान था[2]।

धातु-विज्ञान (मेटलर्जी) की भी हमारे यहाँ बड़ी उन्नति हुई थी। इस विषय पर भी कुछ ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें 'लोह-रत्नाकर', 'लोहार्णव' और 'लोहशास्त्र' आदि प्रसिद्ध हैं[3]। हमारे आचार्यों को लोहा बनाने की ऐसी प्रक्रिया मालूम थी जिससे उसमें पानी लगने पर भी मुर्चा (जंग) नहीं लगता था।

भवन-निर्माण शास्त्र तथा शिल्पशास्त्र पर अनेक सुन्दर पुस्तकें उपलब्ध होती हैं जिनमें ये प्रसिद्ध हैं:—वास्तुसौख्य, वास्तुशास्त्र, प्रासादानुकीर्तन, चक्रशास्त्र, चित्रपट, पक्षि मनुष्यालय लक्षण, रथ लक्षण, विश्वकर्मीय, कौतुक लक्षण, सारस्वतीय 'शिल्पशास्त्र', विश्वविद्याभरण और विश्वकर्म प्रकाश आदि। भवननिर्माण शास्त्र के ऊपर सबसे सुन्दर पुस्तक 'मानसार' है जिसे डा० पी० के० आचार्य ने बड़े परिश्रम तथा विद्वत्ता के साथ संपादित कर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है। इस पुस्तक में विभिन्न प्रकार के भवनों की नाप, उनके निर्माण का प्रकार तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से पता चलता है कि वास्तुकला की कितनी उन्नति हुई थी। डा० आचार्य ने बड़े परिश्रम से 'मानसार' में वर्णित भवनों के कुछ चित्र भी तैयार किये हैं, जो प्राचीन वास्तुकला को जानने में बड़े उपयोगी हैं[4]।

---

१. डा० कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४६५
२. एपि० इंडिका, भा० १
३. डा० ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १०७
४. डा० आचार्य—मानसार (आ० यू० प्रे०)
पृ० १८

यह आश्चर्य की बात है कि मध्यकालीन भारत में हमारे आचार्यों को विमान बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। राजा भोज ने 'समरांगण सूत्रधार' नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है जिसमें विमान के विभिन्न अंगों का वर्णन, उनके बनाने की विधि तथा विमान को आकाश में उड़ाने के लिए अनेक उपायों का विवरण दिया गया है। परन्तु उनके सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता कि उनके रूप कैसे होते थे। इसके अतिरिक्त 'विमान विद्या' तथा 'विमानलक्षण' दो अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

मूर्ति बनाने की कला हमारे देश में अतिप्राचीन काल से चली आई है। ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध, देवताओं की जो अनेक मुख और हाथों वाली मूर्तियाँ मन्दिरों में उपलब्ध होती हैं उनका निर्माण तालमान के अनुसार किया जाता था। वे मनमाने ढंग से नहीं गढ़ ली जातीं। 'विश्वकर्मीय शिल्प' में मन्दिरों, भिन्न भिन्न मूर्तियों तथा उनके आभूषणों आदि पर विचार किया गया है। शिल्परत्न, वैखानस आगम, पाँचरात्र आगम, बृहत्संहिता और वाराहपुराण आदि में मन्दिर तथा प्रतिमानिर्माण का विशद वर्णन किया गया है[1]।

नौ-निर्माण की कला भी हमें ज्ञात थी। इस विषय का 'नौ-शास्त्र' ग्रन्थ उपलब्ध होता है। डा० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक में इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है[2]।

किम्बहुना किसी वस्तु को चुराना भी हमारे यहाँ विज्ञान समझा जाता था और इस 'चौर्यविज्ञान' के ऊपर भी ग्रन्थों की रचना हुई थी। 'मृच्छकटिक' से पता चलता है 'स्तेयशास्त्र' अथवा चौर्यशास्त्र पर भी कोई पुस्तक थी जो चोरों के लिए 'मार्ग दर्शक' का काम देती और उन्हें चौर्यकला का व्यावहारिक ज्ञान कराती थी। इस शास्त्र पर 'षण्मुखकल्प' नामक पुस्तक उपलब्ध है जिसमें चोरों के लिए जादू का जानना आवश्यक बताया गया है[3]।

१—टी० गोपीनाथ राव—एलिमेण्ट्स आफ इण्डियन आइकोनोग्राफी, भाग १—२

२—डा० रा० कु० मुकर्जी—मेरिटाइम एक्टिविटीज़ आफ एंशेण्ट हिन्दूज़

३—डा० हरप्रसाद शास्त्री—रिपोर्ट १, पृ० ८

ऊपर लिखित वर्णन से पता चलता है कि हमारे समय में मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं था जिसका निर्माण इस काल में न हुआ हो।

ज्योतिष शास्त्र

प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भारत में ज्योतिष-शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई थी। 'वेदांग ज्योतिष' में इस शास्त्र के बड़े गूढ़ सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। प्राचीन काल में जो यज्ञ-याग आदि किये जाते थे उनमें उचित काल तथा उचित प्रहर का बड़ा विचार किया जाता था। कौन यज्ञ, उत्सव या शुभ कार्य किस मुहूर्त में करने पर सकुशल तथा निर्विघ्न समाप्त होगा तथा फलदायक होगा इस बात पर विशेष जोर दिया जाता था। इसीलिए ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति हुई। 'वेदांग ज्योतिष' में हमें अत्यन्त प्राचीन भारतीय ज्योतिष का रूप देखने को मिलता है। ईसा से भी पूर्व 'वृद्ध-गर्ग-संहिता' और जैनियों की 'सुरीय पन्नति' आदि ज्योतिष के ग्रन्थ बन चुके थे। अश्वालायन गृह्यसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र और महाभारत आदि ग्रन्थों में ज्योतिष की बहुत सी बातें उद्धरण रूप में आती हैं। ईसा के बाद का सब से प्रथम और पूर्णग्रन्थ 'सूर्य-सिद्धान्त' था जो अब उपलब्ध नहीं है।

वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन भागों में विभक्त किया है—(१) तन्त्र, (२) होरा और (३) संहिता। तन्त्र ज्योतिष को सिद्धान्त ज्योतिष भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध गणित ज्योतिष से है जिसमें ग्रहों की चाल, पृथ्वी का घूमना तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन है। होरा का सम्बन्ध फलित ज्योतिष से है जिसमें जन्मकुण्डली को देखकर फलाफल का विचार होता है तथा विभिन्न ग्रहों का मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसका विवेचन रहता है। संहिता में धूम्रकेतु, उल्कापात, शकुन और मुहूर्त्त आदि का वर्णन रहता है। हमारे इस काल में ज्योतिष शास्त्र की इन तीनों शाखाओं की उन्नति हुई और इन पर बहुमूल्य तथा प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे गये। सच तो यह है कि इस शास्त्र के जितने धुरन्धर विद्वान् हुए वे सभी इसी काल में हुए। यही क्यों, इस शास्त्र का प्रचार विदेशों में भी पूर्व मध्य काल में हुआ। आगे के वर्णन से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस शास्त्र की कितनी समुन्नति हुई थी और यह सचमुच अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

हमारे निर्दिष्ट काल के कुछ समय पहले आर्यभट नाम का अत्यन्त विद्वान् तथा प्रसिद्ध ज्योतिषी ४७६ ई० में पैदा हुआ जो कुसुमपुर का निवासी था। इसका ग्रन्थ आर्य भटीय जिसकी रचना ४९९ ई० में हुई थी—सुप्रसिद्ध है। इसने दशगीति सूत्र तथा 'आर्याष्टशत' दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे जिनमें गणित ज्योतिष का वर्णन है। इसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन किया है। इसने सूर्य और चन्द्रग्रहणों के वैज्ञानिक कारणों की भी व्याख्या की है। इसके बाद एक दूसरा आर्यभट भी हुआ जिसने 'आर्य-सिद्धांत' लिखा। इसका उल्लेख भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में किया है।

वराहमिहिर

वराहमिहिर का नाम ज्योतिष शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। वेदान्त शास्त्र में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है वही ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर को प्राप्त है। वास्तव में इनके समान प्रकाण्ड विद्वान् तथा बहुमुखी लेखक दूसरा नहीं है। इन्होंने ज्योतिष के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना की। इनका जन्म ५०५ ई० के आसपास हुआ था। इन्होंने 'पंचसिद्धान्तिका' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें प्राचीन प्रचलित पाँच सिद्धान्तों—पुलिश, रोमक, वशिष्ठ, सूर्य और पितामह—का वर्णन है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी आदि पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' है जिसे 'विश्वकोश' कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस ग्रन्थ में भारतीय प्राचीन भूगोल का बड़ा अच्छा तथा रोचक वर्णन किया गया है जिससे पता चलता है भारत में उस समय कितने प्रान्त थे, कौन कहाँ बसते थे और उनका भोजन क्या था। इसके अतिरिक्त वास्तुविद्या, मूर्तिकला, पशुपक्षि विद्या, ऋतुशास्त्र तथा अनेक उत्सवों और संस्कारों—विवाह आदि—का इसमें बड़ा विस्तृत तथा सुन्दर विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ पर अनुसन्धान की बड़ी आवश्यकता है परन्तु खेद है कि अभी किसी अधिकारी विद्वान् का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'बृहज्जातक' है जिसमें जन्मकुण्डली के फलाफल का बड़ा विस्तृत विचार किया गया है। वराहमिहिर की कविता सरस तथा रमणीय है[1]।

१. डा० कीथ—हिस्ट्री आफ सं० लि०, पृ० ५२१

२ ब्रह्मगुप्त

वाराहमिहिर के पश्चात् ज्योतिष का प्रधान विद्वान् ब्रह्मगुप्त हुआ। इसने ६२८ ई० के आसपास 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' की रचना की। इसका जन्म सन् ५९४ ई० में हुआ था। यह जिष्णु का पुत्र और मुल्तान के पास भील्ल-मल्ल का निवासी था। सन् ६६५ ई० में इसने 'खण्डखाद्यक' का निर्माण किया। यह करण ग्रन्थ है जिसमें गणित ज्योतिष का वर्णन किया गया है। इसकी प्रतिपादन शैली अधिक विस्तृत और विधियुक्त है। इसने आर्यभट की बड़ी आलोचना की है। ब्रह्मगुप्त की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसने उस प्राचीनकाल में पृथ्वी के घूमने के सिद्धान्त का वर्णन किया है। इस सिद्धान्त को यूरोपीय विद्वानों ने बहुत बाद में निकाला। ब्रह्मगुप्त का यह ग्रन्थ अनेक कारणों से अत्यन्त प्रसिद्ध है।

३ लल्ला

ब्रह्मगुप्त के कुछ समय पश्चात् आचार्य लल्ला की उत्पत्ति हुई। इन्होंने ६५० ई० के लगभग 'लल्ल-सिद्धान्त' ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में इन्होंने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मगुप्त के भूभ्रमण के सिद्धान्त का विरोध करते हुए लिखा है कि यदि पृथ्वी घूमती होती तो वृक्ष पर से उड़ा हुआ पक्षी अपने घोंसले में फिर न जा सकता। परन्तु लल्ल को क्या मालूम था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर अपने को घेरे हुए वातावरण के साथ घूमती है। यदि उसे यह ज्ञात होता तो वह भूभ्रमण के सिद्धान्त को दूषित न बतलाता। इसका दूसरा ग्रन्थ 'शिष्यधी वृद्धितन्त्र' है जिसमें शिष्यों की बुद्धि बढ़ाने का वर्णन किया गया है। इसकी टीका भास्कराचार्य ने लिखी थी।

४ पृथूदकस्वामी तथा भोज

लल्ला के पश्चात् सन् ९०८ ई० के आसपास चतुर्वेद पृथुछक स्वामी ने ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' की टीका लिखी। सन् १०३८ ई० के लगभग श्रीपति ने 'सिद्धान्त शेखर' और 'धीकोटिद' और वरुण ने ब्रह्मगुप्त के 'खण्डखाद्यक' पर टीका लिखी। धारानरेश भोज (१०५० ई०) ने 'राजमृगांग', ग्रन्थ लिखा। यह एक करण ग्रन्थ है। इसी समय शतानन्द ने 'भास्वती' तथा ब्रह्मदेव ने 'करण-प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा।

६ भास्कराचार्य

हमारे निर्दिष्ट काल के अन्त में भास्कराचार्य नामक प्रकाण्ड पण्डित

उत्पन्न हुए जिसका नाम ज्योतिष शास्त्र में अजर अमर रहेगा। ये चोटी के गणितज्ञ थे। इनके ग्रन्थ आज भी प्रमाण कोटि में माने जाते हैं। इन्होंने सिद्धान्त शिरोमणि, करण कुतूहल, करणकेशरी, ग्रहगणित, ग्रह लाघव, ज्ञानभास्कर, सूर्य सिद्धान्त व्याख्या और भास्कर दीक्षितीय नामक ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु इनका सब से प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' है। प्रामाणिकता में सूर्य सिद्धान्त के बाद इसी ग्रन्थ का नाम आता है। इस ग्रन्थ में चार भाग हैं—(१) लीलावती, (२) बीज गणित, (३) ग्रहगणिताध्याय और (४) गोलाध्याय। इसके पहले दो भाग गणित-संबंधी हैं और पिछले दो भाग फलित ज्योतिष से सम्बन्ध रखते हैं। भास्कराचार्य ने इस ग्रन्थ में पृथ्वी के गोल होने और उसमें आकर्षण-शक्ति होने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी सुन्दर रीति से किया है[1]।

यूरोप में पृथ्वी में आकर्षण शक्ति का पता लगाने वाला सब से पहला विद्वान् न्यूटन समझा जाता है। परन्तु न्यूटन से अनेक शताब्दियों पूर्व में भास्कराचार्य ने इस सिद्धान्त का आविष्कार भारतवर्ष में किया था।

भास्कराचार्य का आविर्भावकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके 'करण कुतूहल' की रचना सन् ११७८ ई० में हुई थी। भास्कराचार्य का मत 'सूर्य सिद्धान्त' तथा ब्रह्मगुप्त से अधिक मिलता जुलता है। इनकी लेखन-शैली स्पष्ट परन्तु संक्षिप्त है।

ऊपर जिन आचार्यों का वर्णन किया गया है उनके ग्रन्थ प्रधानतया गणित ज्योतिष से सम्बन्ध रखते हैं। इस काल में कुछ आचार्यों ने फलित ज्योतिष पर भी ग्रन्थ-रचना की जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

फलित ज्योतिष

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास रहा है। ब्राह्मणों तथा धर्मसूत्रों में भी कहीं कहीं इसका उल्लेख पाया जाता है। इस विषय के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। बहुत संभव है, वे नष्ट हो गये हों। 'वृद्ध-गर्ग संहिता' में इसका कुछ उल्लेख मिलता है। मनुष्य के जीवन पर विभिन्न ग्रहों का क्या प्रभाव पड़ता है, दुष्ट ग्रहों को प्रसन्न कर उनसे मानव को कैसे बचाया जा सकता है तथा किसी भावी विपत्ति

१. डा० कीथ—हि० सं० लि०, पृ० ५२३

का कैसे पता लगाया जा सकता है इन सब विषयों का वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अन्वेषण करना भारतीयों की विश्व को देन है संभवतः संसार की किसी भी जाति को इस विज्ञान का पता नहीं था। आज कल इस शास्त्र में भले ही कुछ त्रुटियाँ आ गई हों परन्तु इसकी सचाई तथा वैज्ञानिकता में तनिक भी सन्देह नहीं।

गणित ज्योतिष के प्रसंग में वराहमिहिर का वर्णन किया जा चुका है। उन्होंने फलित ज्योतिष के ऊपर भी दो बहुमूल्य ग्रन्थों का निर्माण किया जिनके नाम बृहत्संहिता और बृहज्जातक हैं। ६०० ई० के आसपास इनके पुत्र पृथुयशा ने 'होराषट्पंचाशिका' नामक फलित ज्योतिष संबंधी एक पुस्तक लिखी। दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने 'होराषट् पंचाशिका' तथा वराहमिहिर के ग्रन्थों पर बहुत उत्तम तथा विस्तृत टीकाएँ लिखीं। श्रीपति (१०३९ ई०) ने भी इस संबंध में 'रत्नमाला' और 'जातकपद्धति' नामक ग्रन्थों की रचना की।

इस समय के पश्चात् भी गणित ज्योतिष तथा फलित ज्योतिष पर ग्रन्थों की रचना होती रही। सन् १४७८ में मकरन्द ने अपना ग्रन्थ बनाया तथा केशव के पुत्र गणेश ने सन् १५८० ई० में अपना लोक-प्रिय ग्रन्थ 'ग्रहलाघव' लिखा। फलित ज्योतिष में भी जातकालंकार आदि ग्रन्थों की रचना होती रही।

गणित

ज्योतिष शास्त्र के विकास के साथ ही भारतीय गणित का विकास होना आवश्यक था। हमारे काल में भारतीय गणित अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और इसका प्रभाव पाश्चात्य देशों के गणित शास्त्र पर भी पड़ा। गणित के क्षेत्र में सब से बड़ी देन जो भारतीयों ने संसार को दी वह अंक-क्रम का विकास है। प्राचीन काल में संसार के अन्य देशों में विभिन्न संख्याओं को लिखने के लिए विभिन्न ग थे। जैसे दस लिखना हुआ तो १ के साथ शून्य (०) नहीं लगाया जाता था बल्कि इसके लिए एक अलग चिह्न था। इसी प्रकार १०० और १००० के लिए भी पृथक् चिह्न थे। इससे लिखने में बड़ी कठिनाई पड़ती और चिह्नों की अनेकता के कारण गणित में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। यह भारतीयों की तीक्ष्ण बुद्धि का प्रसाद है कि उन्होंने शून्य का आविष्कार कर, उसके मूल्य का निर्धारण कर, बड़ी

से भी बड़ी संख्या को लिखने की युक्ति संसार को बतलाई। इसे दशमलव पद्धति या गणना कहते हैं। यदि भारतीयों ने यह आविष्कार न किया होता तो आज संसार के गणित का इतिहास कुछ दूसरा ही होता।

अङ्कगणित—गणित शास्त्र के अनेक विभाग हैं—जैसे अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति। वराहमिहिर, श्रीधराचार्य तथा भास्कराचार्य के ग्रन्थों के अनुशीलन करने से पता चलता है कि इन लोगों ने इन विषयों में पराकाष्ठा दिखलाई है। 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' में गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय तथा सिद्धान्त शिरोमणि में लीलावती नामक भाग का अंकगणित से संबंध है। इन ग्रन्थों में सरल गणित के आठों नियमों—योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल—का पूर्ण वर्णन मिलता है। इसके बाद भिन्नसंबंधी, शून्यसंबंधी, क्षेत्रफल, त्रैराशिक, श्रेढ़ी, कुट्टक तथा अनन्त राशियों के मान संबंधी और व्याज संबंधी नियमों का भी वर्णन मिलता है।

बीजगणित—अंकगणित के अतिरिक्त ज्योतिष में बीजगणित का भी उपयोग किया जाता था। इसका भी पूर्ण विकास हमारे यहाँ हुआ था। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ विद्वान् काजोरी ने लिखा है कि "बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् डायोफैण्ट ने भी भारत से ही इस संबंध में पहले पहल ज्ञान प्राप्त किया। भारत ने बीज गणित को यूनान से सीखा, यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे आचार्यगण १२वीं सदी में ही उन सिद्धान्तों को जानते थे जिनका प्रचार यूरोप में १७वीं और १८वीं शताब्दी में हुआ।

रेखागणित—भारत में प्राचीनतम रेखागणित का रूप बौधायन तथा आपस्तम्ब के शुल्वसूत्रों में पाया जाता है। यज्ञ में वेदी का निर्माण तथा उसकी ठीक ठीक माप के लिए रेखागणित का प्रयोग किया जाता था। यज्ञ तथा विभिन्न संस्कारों को कराने वाले पुरोहित इस बात को जानते थे कि आयत का क्षेत्रफल वर्ग में और वर्ग का क्षेत्रफल वृत्त में किस तरह से लाया जाता है। रेखागणित का एक प्रसिद्ध प्रयोग—अर्थात् समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं के वर्गों का योग कर्ण के वर्ग के बराबर होता है—जो यूरोप में पाइथोगोरस के नाम से प्रसिद्ध है—हमारे देश में बहुत पहले से ज्ञात था और हमारे आचार्यों ने इसकी सिद्धि पाइथोगोरस से अनेक शताब्दी पूर्व में ही ढूंढ़ निकाली थी।

त्रिकोणमिति—प्राचीन भारतीय त्रिकोणमिति से भी परिचित थे। उन्होंने ज्या (साइन) और उत्क्रम ज्या (वर्स्ड साइन) की सारणियाँ बना ली थीं। वाचस्पति ने चापीय घनक्षेत्र निकालने का साधन बिल्कुल मौलिक रीति से दिया है। इसी प्रकार न्यूटन से पांच शताब्दी पूर्व चलन गणित का आविष्कार कर भास्कराचार्य ने उसे ज्योतिष में प्रयुक्त किया था। भारतीय, भूगोल तथा ग्रहमण्डल सम्बन्धी गतिशास्त्र से भी परिचित थे। स्थितिशास्त्र (स्टैटिक्स) तथा गतिशास्त्र (डायनमिक्स) से भी उनका पूर्ण परिचय था[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गणित शास्त्र के प्रत्येक विभाग पर इस काल में ग्रन्थरचना हुई। वस्तुतः यह काल भारतीय ज्योतिष शास्त्र का सुवर्णकाल था जिसमें मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

धार्मिक साहित्य

धर्मशास्त्र के इतिहास को तीन प्रधान कालों में विभक्त किया जा सकता है। यद्यपि इनके विभाजन की कोई निश्चित काल-रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि एक काल दूसरे में संक्रमण करता है फिर भी साधारणरूप से इनके काल-विभाजन में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। ये प्रधान काल निम्नांकित हैं :—

(१) प्रथम काल—प्राचीन धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति (ई० पू० ६०० से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी)

(२) द्वितीय काल—स्मृति काल (१०० ई० से ८०० ई०)

(३) तृतीय काल—व्याख्या तथा निबन्ध काल (७०० ई० से १८०० ई०)

---

१. भारतीय गणित के विशेष तथा प्रामाणिक वर्णन के लिए देखिए—

(अ) डा० कीथ—हि० सं० लि०, पृ० ५१६–५३५

(ब) डा० सरकार—हिन्दू एचीवमैण्ट्स इन एक्जैक्ट साइन्सेज, पृ० १६–१९

(स) डा० काजोरी—हिस्ट्री आफ मैथमेटिक्स

(द) डा० ए० एन० सिंह—हिस्ट्री आफ हिन्दू मैथमेटिक्स, भाग १–३.

(य) म० म० सुधाकर द्विवेदी—गणकतरंगिणी।

धर्मशास्त्र के इतिहास में प्रथम काल उन धर्मसूत्रों का है जो धर्मशास्त्र के मूल-ग्रन्थ माने जाते हैं। इस काल में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, विष्णु, वशिष्ठ, हिरण्यकेशी आदि धर्मसूत्रों की रचना हुई। अतः यह काल प्राचीन धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति का काल है। द्वितीय काल स्मृतियों का है जिसमें प्रधान प्रधान स्मृतियों का निर्माण हुआ। इसी काल में याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद, बृहस्पति, कात्यायन, अंगिरा तथा हारीत आदि स्मृतियों की रचना हुई। इस समय में धर्मशास्त्र की मूलभूत उन स्मृतियों का निर्माण हुआ जिनसे हमारा धर्मशास्त्र गौरवान्वित है। यही इस काल का महत्त्व है। इसके बाद के तीसरे काल में इन्हीं स्मृतियों के ऊपर टीका, टिप्पणियां तथा भाष्य लिखे गये जिसे निबन्ध काल कहते हैं। अतः यह काल धर्मशास्त्र की रीढ़ है। सुविधा के लिए, मोटे तौर पर, हम इस काल के दो भाग कर सकते हैं। ७००–१२०० का समय व्याख्या काल कहा जा सकता है और १२०० से १८०० ई० तक निबन्ध काल है। इस काल के प्रथम युग (७००–१२०० ई०) में स्मृतिग्रन्थों पर प्रसिद्ध भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गई। इसी काल में मनुस्मृति के प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के विख्यात टीकाकार विज्ञानेश्वर आविर्भूत हुए जिनकी व्याख्याएँ आज भी प्रामाणिक मानी जाती हैं। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा तो 'हिन्दू कानून' का आधार ग्रन्थ है। दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन इसी काल में उत्पन्न हुए थे जिनका ग्रन्थ बंगाल के न्यायालयों में व्यवहृत होता है। असहाय, विश्वरूप, धारेश्वर, भावदेव भट्ट, देवनभट्ट तथा हेमाद्रि जैसे प्रकाण्ड व्याख्याकार हुए जिनके ग्रन्थ पीछे के निबन्धकारों के लिए आधार हुए। डा० काने का मत है कि धर्मशास्त्र के व्याख्याकारों के इतिहास में यह काल सुवर्ण युग है। सच तो यह है कि आजकल के 'हिन्दू ला' का निर्माण करने वाले व्याख्याकार इसी काल में हुए। इन धुरन्धर टीकाकारों ने स्मृतियों की प्रामाणिक व्याख्या लिख कर धर्मशास्त्र का विशद स्वरूप जनता के सामने उपस्थित किया तथा आगे के निबन्धकारों के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी। परन्तु यह न समझना चाहिए कि इस काल (७००–१८०० ई०) के बाद स्मृतियों पर व्याख्याएँ लिखनी बन्द हो गईं। यह क्रम तो इस काल के उत्तरार्द्ध के अन्त तक चलता रहा। नन्द पण्डित ने विष्णु धर्मसूत्र के ऊपर अपनी 'वैजयन्ती' टीका की रचना १७वीं शताब्दी में की।

इस काल के उत्तरार्द्ध या द्वितीय भाग में (१२००–१८०० ई०) निबन्ध ग्रन्थ लिखे गये। निबन्ध उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें किसी एक विषय —जैसे विवाह, उत्तराधिकार, दत्तक, सम्पत्ति विभाजन, श्राद्ध, अशौच तथा आश्रम धर्म—को लेकर उसकी सम्पूर्ण सामग्री तथा प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन के साथ संग्रह किया गया हो। इस प्रकार के ग्रन्थ कल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका, चतुर्वर्ग चिन्तामणि तथा चण्डेश्वर के अनेक रत्नाकार हैं। इसी काल में देवणभट्ट तथा हेमाद्रि जैसे प्रचण्ड निबन्धकार हुए जिन्होंने क्रमशः स्मृतिचन्द्रिका तथा चतुर्वर्ग चिन्तामणि नामक अपने बृहत् ग्रन्थों में धर्मशास्त्र सम्बन्धी अपार ज्ञानराशि एकत्र की है। सच तो यह है कि ये ग्रन्थ धर्मशास्त्र के विश्वकोश हैं। धर्मशास्त्र संबंधी जितनी ज्ञातव्य बातें हो सकती हैं उन सबका इन ग्रन्थों में एकत्र संकलन है। यही इन ग्रन्थों की विशेषता है। आजकल जो हमारे धार्मिक संस्कार होते हैं, वे इन ग्रन्थकारों-के निबन्ध ग्रन्थों के अनुसार ही होते हैं।

हमारा निर्दिष्ट काल ६०० से १२०० ई० है। इसमें स्मृतिकार, व्याख्याकार तथा निबन्धकार सभी प्रादुर्भूत हुए। यदि पितामह, पुलस्त्य और हारीत जैसे स्मृतिकारों ने इस काल को महत्त्व प्रदान किया तो मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, गोविन्दराज और धारेश्वर ने अपने विद्वत्तापूर्ण टीकाग्रन्थों से इस काल को धर्मशास्त्र का सुवर्णयुग बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया। इसी काल में देवनभट्ट और हेमाद्रि ने अपने विशाल निबन्ध ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार यह निर्दिष्टकाल धर्मशास्त्र का सुवर्णकाल है।

अगले पृष्ठों में इन स्मृतिकारों तथा व्याख्याकारों और निबन्ध प्रणेताओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। व्याख्याकारों तथा निबन्धप्रणेताओं का समय एक दूसरे में अतिक्रमण करता है। अतः उनका पृथक् पृथक् विभाजन संभव नहीं। इससे उनका वर्णन एक ही साथ किया गया है।

व्याख्याकार

(१) असहाय

धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों पर भाष्य लिखने वालों में असहाय का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने गौतम धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा नारद स्मृति पर भाष्य लिखा है। स्मृतिचन्द्रिका में असहाय के नाम का उल्लेख है। इससे ज्ञात

होता है कि इन्होंने मनुस्मृति पर भाष्य लिखा था। बंगाल के राजा बल्लालसेन के गुरु अनिरुद्ध थे। उनके 'हारलता' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उन्होंने गौतम धर्मसूत्र की भी टीका की थी। मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि ने असहाय के मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। 'सरस्वती-विलास' में भी इनके नाम का निर्देश मिलता है। विश्वरूप और मेधातिथि दोनों ने असहाय का उल्लेख किया है इससे इनके आविर्भावकाल की अन्तिम अवधि ७५० ई० है। इससे कितने पहले ये उत्पन्न हुए थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; परन्तु ये छठीं शताब्दी के पूर्व नहीं हो सकते।

(२) भर्तृयज्ञ

ये एक प्राचीन टीकाकार हैं। मेधातिथि ने मनु (८–३) के ऊपर भाष्य में लिखा है कि "अन्य व्याख्याएँ भर्तृयज्ञ के ग्रन्थ से भली भाँति जानी जा सकती हैं।" त्रिकाण्ड मण्डन ११०० ई० के पूर्व में आविर्भूत थे। उन्होंने 'आपस्तम्ब सूत्र ध्वनितार्थ कारिका' में भर्तृयज्ञ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन्हें वैदिक संहिता कण्ठस्थ थी। अनन्त के भाष्य से पता चलता है कि इन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र के ऊपर भी एक टीका लिखी थी जिसका पता अनन्त के समय में नहीं था। पारस्कर गृह्यसूत्र पर गदाधर की टीका से पता चलता है कि भर्तृयज्ञ ने भी इसकी टीका लिखी थी। चण्डेश्वर के 'गृहस्थ रत्नाकर' में गौतम धर्मसूत्र में आये हुए 'संविभाग' शब्द की, भर्तृयज्ञ के द्वारा की गई, व्याख्या का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि असहाय ही की भाँति भर्तृयज्ञ भी गौतमधर्मसूत्र के प्राचीन टीकाकार थे। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भर्तृयज्ञ 'पारस्कर गृह्यसूत्र' के सब से प्राचीन टीकाकार हैं।

मेधातिथि ने असहाय के साथ ही भर्तृयज्ञ का भी नामोल्लेख किया है, परन्तु विश्वरूप का नहीं। इससे पता चलता है कि ये ८०० ई० के पहले ही आविर्भूत थे तथा संभवत: ये असहाय के समकालीन थे।

(३) विश्वरूप

विश्वरूप मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीड़ा नामक टीका लिखी है जो म० म० टी० गणपति शास्त्री के

द्वारा त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में, दो भागों में, प्रकाशित हुई है। मिताक्षरा के प्रारम्भिक श्लोकों से पता चलता है कि याज्ञवल्क्य के सिद्धान्तों का विस्तार विश्वरूप ने अपनी विकट व्याख्याओं के द्वारा किया था। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहार अध्याय पर विश्वरूप की जो टीका प्राप्त है वह थोड़ी और संक्षिप्त है। उसको देखकर उसको 'विकट' विशेषण देना समुचित नहीं प्रतीत होता; परन्तु आचार तथा प्रायश्चित्त अध्यायों पर इनकी टीका सचमुच बड़ी विस्तृत है और उसकी तुलना मिताक्षरा से की जा सकती है। विश्वरूप की शैली सीधी परन्तु बड़ी जोरदार है और शंकराचार्य की शैली से टक्कर लेती है। इन्होंने वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के बहुत से उद्धरण अपनी टीका में दिये हैं और अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है। इन्होंने पारस्कर, भारद्वाज और आश्वलायन गृह्यसूत्रों से भी उद्धरण लिये हैं। इससे इनकी अगाध विद्वत्ता का स्पष्ट पता चलता है।

विश्वरूप का ग्रन्थ 'बालक्रीड़ा' पूर्वमीमांसा शास्त्र से ओतप्रोत है। इन्होंने जैमिनि का नामोल्लेख कर उनके ग्रन्थ से उद्धरण दिये हैं। यह आश्चर्य की बात है कि इन्होंने मीमांसा शास्त्र के लिए 'न्याय' शब्द का व्यवहार किया है और प्रसिद्ध मीमांसक शबर को नैयायिक कहा है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोकों में कुमारिल के श्लोकवार्तिक से उद्धरण लिया है। अपने समस्त ग्रन्थ में इन्होंने मीमांसा की शास्त्रार्थ अथवा व्याख्या पद्धति का प्रयोग किया है। संभवतः इन्हीं कारणों से नैषधकार श्री हर्ष ने इनकी तुलना जैमिनि मुनि से की है[1]। यद्यपि विश्वरूप पूर्वमीमांसा के प्रकाण्ड विद्वान् थे परन्तु इनका दार्शनिक मत जैमिनि की अपेक्षा शंकराचार्य से अधिक समानता रखता है।

विश्वरूप ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक का उद्धरण दिया है और स्वयं इनका नाम मिताक्षरा में एक प्रामाणिक टीकाकार के रूप में उल्लिखित है। इससे पता चलता है कि इनका समय कुमारिल के बाद और विज्ञानेश्वर के पहले होगा। अर्थात् इनका आविर्भावकाल ७५० ई० से १००० ई० बीच में है। परन्तु इनके काल का निर्णय निश्चित रूप से तभी हो सकता है जब सुरेश्वर और विश्वरूप की एकता स्थिर की जा सके। सुरेश्वर ने अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक आदि ग्रन्थों में अपने

---

१. विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमदीये। नैषध

को शंकराचार्य (७८८–८२० ई०) का शिष्य लिखा है। यह परम्परा से प्रसिद्ध ही है कि सुरेश्वर शंकराचार्य के चार प्रधान शिष्यों—सुरेश्वर, पद्मपाद, तोटक और हस्तामलक—में एक थे। कितने ही ग्रन्थों में सुरेश्वर के नाम के स्थान पर विश्वरूप का नाम पाया जाता है। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थों में सुरेश्वराचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से उद्धरण लेते हुए उन्हें विश्वरूप का लिखा है। 'पुरुषार्थ प्रबोध' के कर्ता ब्रह्मानन्द भारती ने नैष्कर्म्य सिद्धि को (जो सुरेश्वर की रचना है) विश्वरूप की कृति लिखा है। रामतीर्थ ने अपने मानसोल्लास-वृत्तान्तविलास में स्पष्ट लिखा है कि सुरेश्वर विश्वरूप का ही दूसरा नाम है जो शंकर के शिष्य थे। 'गुरुवंश काव्य' में सुरेश्वर और विश्वरूप एक ही व्यक्ति माने गये हैं (२. ५९)। इन प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्वरूप और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। शंकराचार्य के पट्ट शिष्य होने के कारण सुरेश्वर का समय नवीं शताब्दी का प्रथमार्ध है अतः विश्वरूप का आविर्भाव काल यही समझना चाहिए[१]।

(४) भारुचि

भारुचि का समय १०५० ई० के पूर्व में था, क्योंकि मिताक्षरा में इनका उल्लेख आया है। रामानुजाचार्य ने अपने 'वेदान्त-संग्रह' में अपने पूर्वकाल में होने वाले छः आचार्यों का उल्लेख किया है जिन्होंने विशिष्टाद्वैत वेदान्त की व्याख्या की थी। उन छः आचार्यों में 'भारुचि' का भी नाम है। इसी प्रकार श्री निवासदास की 'यतीन्द्रमत दीपिका' में रामानुजाचार्य से पूर्व होने वाले विशिष्टाद्वैत के व्याख्याता आचार्यों का नामोल्लेख है। इनमें व्यास, बौधायन, नाथमुनि तथा टंक आदि के साथ भारुचि का भी नाम पाया जाता है। ये नाम काल-क्रम के अनुसार लिये गये हैं। भारुचि का नाम नाथमुनि के पहले आता है। नाथमुनि यामुन मुनि—जिनका जन्म सन् ९१६ ई० के आसपास है—के पितामह थे। भारुचि नाथमुनि के भी पहले हुए थे। अतः इनका समय ९वीं शताब्दी के प्रथमार्ध के बाद कदापि नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र के व्याख्याता भारुचि भी १०५० ई० के पूर्व हुए थे। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि एक ही नाम के दो प्रसिद्ध लेखक एक ही समय में हुए हों। संभवतः

१—विश्वरूप तथा सुरेश्वराचार्य के विशेष विवरण के लिए देखिए—डा० काणे—'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', भाग १, पृ० २५२–२६४

दर्शनकार भारुचि और धर्मशास्त्री भारुचि दोनों एक ही व्यक्ति थे। यदि दोनों को हम एक मान लें तो धर्मशास्त्री भारुचि का समय विश्वरूप के समकालीन ही समझना चाहिए।

'सरस्वती विलास' के उल्लेखों से पता चलता है कि भारुचि ने विष्णु-धर्मसूत्र पर कोई टीका लिखी थी। यदि हम दार्शनिक और धर्मशास्त्री भारुचि को एक ही व्यक्ति मान लेते हैं तो यह बात न्यायसंगत प्रतीत होती है। विष्णुधर्मसूत्र में विशिष्टाद्वैत की बहुत-सी बातें समान मिलती हैं, जैसे नारायण या वासुदेव की पूजा और वासुदेव के चार व्यूह आदि। यदि भारुचि विशिष्टाद्वैतवादी थे तो उनका विष्णु के सूत्रों की व्याख्या लिखना स्वाभाविक ही था।

(५) मेधातिथि

मनुस्मृति के विद्वान् व्याख्याता के रूप में मेधातिथि का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने मनुस्मृति के ऊपर बड़ा गम्भीरतापूर्ण भाष्य लिखा है जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका भाष्य बड़ा प्रामाणिक माना जाता है। म० म० डा० गंगानाथ झा ने मेधातिथि के भाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद किया जो कलकत्ता विश्वविद्यालय से कई भागों में प्रकाशित हुआ है। इस भाष्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियों के कई अध्यायों के अन्त में एक श्लोक लिखा मिलता है जिससे जान पड़ता है कि इस भाष्य की पुस्तक को दूसरे देश से मँगाकर सहारण के पुत्र मदन नामक किसी राजा ने इसका जीर्णोद्धार किया[१]।

डा० जोली ने इस आधार पर कि इनके भाष्य का प्रचार दक्षिण देश में अधिक है, तथा दाक्षिणात्य लेखकों ने इस भाष्य पर विशेष ध्यान दिया है, इनको दाक्षिणात्य बतलाया है[२]। उनके अनुसार इनके दाक्षिणात्य होने का दूसरा प्रमाण यह है कि इनके पिता का नाम वीरस्वामी था और स्वामी शब्द

१—मान्या कापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः
सा लुप्तैव विधेर्वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न यत्पुस्तकम्।
क्षोणीन्द्रो मदनः सहारणसुतो देशान्तरादाहृतैः
जीर्णोद्धारमचीकरत्तत इतस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥

२—टैगोर-ला लेक्चर, पृ० ६

विशेष कर दाक्षिणात्य लोगों के नाम के आगे ही जोड़ा हुआ पाया जाता है। परन्तु डा० जोली की यह धारणा नितान्त निर्मूल है। राजतरंगिणी में अनेक कवियों तथा लेखकों का नाम पाया जाता है जिनके अन्त में 'स्वामिन्' शब्द है। अमरकोष के सुप्रसिद्ध टीकाकार क्षीर स्वामी काश्मीरी थे। डा० ब्यूलर के अनुसार मेधातिथि काश्मीर के रहने वाले थे। क्योंकि मनुस्मृति (७–३२, ८–४२) में 'स्वराष्ट्रे' और 'जनपदः' शब्दों की व्याख्या में इन्होंने काश्मीर का नाम लिया है। इन्होंने हाथी की विक्री का सर्वाधिकार काश्मीर के राजा की विशिष्टता बतलाई है तथा वहाँ केसर की प्रचुर उत्पत्ति का भी उल्लेख किया है[1]। इन्होंने लिखा है कि इन्द्रधनुष को काश्मीर में 'बिज्ञान छाया' कहते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत के लोगों का इन्होंने अनेक स्थलों पर निर्देश किया है। ये प्रमाण मेधातिथि को काश्मीरी सिद्ध करते हैं।

मेधातिथि ने अपने विस्तृत भाष्य में गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वशिष्ट, मनु, याज्ञवल्क्य आदि अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती मनु के व्याख्याताओं से उद्धरण भी दिया है जिनके ग्रन्थ इस समय नहीं मिलते। ये पूर्व मीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका भाष्य 'विधि' तथा 'अर्थवाद' आदि मीमांसा शास्त्र के शब्दों से परिपूर्ण है। इन्होंने जैमिनि के सूत्रों का बहुशः उद्धरण दिया है तथा स्मृति वाक्यों की व्याख्या करने में उनका प्रयोग किया है। इन्होंने शबर भाष्य से भी अवतरण लिये हैं और कुमारिल का उल्लेख कहीं उनके नाम से और कहीं भट्टपाद की संज्ञा से किया है।

मेधातिथि की दूसरी रचना 'स्मृति-विवेक' है जिससे अनेक उद्धरण इन्होंने लिये हैं (मनु० २।६ पर भाष्य देखिए)। पराशर माधव में यतियों के कर्म के प्रसंग में अनेक श्लोक 'स्मृति-विवेक' से लिये गये हैं तथा उसी ग्रन्थ में मेधातिथि के भी अनेक श्लोक उद्धृत हैं। अतः जान पड़ता है कि स्मृतिविवेक मेधातिथि ही की रचना है।

मेधातिथि ने असहाय और कुमारिल का नामोल्लेख किया है और संभवतः शंकराचार्य के मत का हवाला दिया है। अतः इनका काल ८२० ई०

१—सैं० बु० इ० (सं० २५) पृ० १२३

२. मनु स्मृ० ८।४० के ऊपर भाष्य देखिये।

के बाद है। 'मिताक्षरा' ने एक प्रामाणिक लेखक के रूप में इनका नाम ग्रहण किया है अतः ये १०५० ई० के पहले हुए होंगे। कुल्लूक ने (मनु० ३।१२७ की टीका) लिखा है कि मेधातिथि गोविन्दराज—जिनका समय १०५०-११०० ई० है—से बहुत पहले हुए थे। मेधातिथि ने (मनु० १२।११८ के भाष्य में) अपने भाष्य में 'मिश्र' का उल्लेख किया है। यदि मिश्र से उनका तात्पर्य वाचस्पति मिश्र—जो भामती के प्रसिद्ध लेखक हैं—से है तो इनका आविर्भाव काल ८५० ई० के बाद समझना चाहिए।

(६) धारेश्वर भोजदेव

धारा के राजा भोजदेव का नाम संस्कृत-साहित्य में अमर है। ये केवल विद्वानों के आश्रयदाता ही नहीं थे बल्कि स्वयं भी अच्छे विद्वान् तथा प्रतिभाशाली लेखक थे। साहित्यशास्त्र पर इनके लिखे दो ग्रन्थ 'शृंगार प्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' सुप्रसिद्ध हैं। इन्होंने साहित्य के अतिरिक्त ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र पर भी ग्रन्थ-रचना की थी। ज्योतिष पर लिखे गये इनके ग्रन्थ का नाम राजमृगांक है तथा धर्मशास्त्र पर इनकी अनमोल कृति 'राजमार्तण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है। धारेश्वर और भोजदेव दोनों एक ही व्यक्ति थे या नहीं इसमें बड़ा विवाद है। दायभाग में धारेश्वर और भोजदेव का उल्लेख बिना किसी भेदभाव के किया गया है। कमलाकर ने अपने विवादताण्डव में जिस मत का उल्लेख भोजदेव के नाम से किया है, ठीक उसी मत का निर्देश मिताक्षरा में धारेश्वर के नाम से है। इससे ज्ञात होता है कि धारेश्वर और भोजदेव दोनों एक ही थे। भोजदेव ने राजमार्तण्ड के अतिरिक्त धर्मशास्त्र पर कोई अन्य ग्रन्थ भी लिखा था, यह कहना कठिन है परन्तु दायभाग, हारलता आदि के उद्धरणों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। 'भोजप्रबन्ध' के अनुसार भोज ने ५५ वर्ष तक राज्य किया। उनके एक दानपत्र की तिथि १०२१ ई० है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख १०५६ ई० का मिला है। इससे ज्ञात होता है कि भोजदेव ने १०००–१०५० ई० के भीतर राज्य किया होगा।

(७) विज्ञानेश्वर

धर्मशास्त्र के इतिहास में विज्ञानेश्वर का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जो स्थान व्याकरण के इतिहास में पतञ्जलि के महाभाष्य को और साहित्य संसार में काव्यप्रकाश को प्राप्त है वही स्थान धर्मशास्त्र वाङ्मय में विज्ञा-

नेश्वर की **मिताक्षरा** का है। सच तो यह है कि इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संभवतः दूसरा नहीं है। इस ग्रन्थ में लगभग दो हजार वर्षों से चली आती हुई धर्मशास्त्र संबंधी गवेषण का सारांश हमें उपलब्ध होता है तथा यह बाद में होने वाले व्याख्या-ग्रन्थों तथा निबन्धों का मूल स्रोत है। मिताक्षरा का सबसे अधिक महत्त्व इस विषय में है कि भारत की कचहरियों में हिन्दू कानून सम्बन्धी सभी विषयों में इसी को प्रमाण माना जाता है।

मिताक्षरा वास्तव में याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका है परन्तु लेखक ने अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा समन्वय बुद्धि के द्वारा इसमें इतनी नई सामग्री एकत्र कर दी है कि इसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का महत्त्व प्राप्त है। अनेक हस्तलिखित प्रतियों की पुस्पिका में यह ऋजु मिताक्षरा, प्रमिताक्षरा अथवा केवल मिताक्षरा के नाम से निर्दिष्ट है[1]। इसका यह नाम इसकी संक्षिप्त शैली को देखते हुए नितान्त उपयुक्त ज्ञात होता है। मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति की केवल टीका ही नहीं है बल्कि यह धर्मशास्त्र संबंधी सामग्री का नूतन मौलिक ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में विभिन्न स्मृतियों के अवतरणों का संकलन किया है। परस्पर विरोधी स्मृतिवचनों की व्याख्या पूर्वमीमांसा शास्त्र के व्याख्या नियमों के अनुसार करके इन्होंने उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है और विभिन्न स्मृति वचनों की उचित विषय-व्यवस्था की है।

मिताक्षरा के लेखक ने अपनी टीका के अन्तिम श्लोकों में अपने को विज्ञान योगिन् लिखा है। इस कारण इनके बाद के लेखकों ने प्रायः इसी नाम से इनका उल्लेख किया है। ये पद्मनाभ भट्ट के पुत्र थे और उत्तम नामक गुरु के शिष्य थे। इनके लेख से पता चलता है कि जब इन्होंने मिताक्षरा लिखी उस समय कल्याण नगरी में विक्रमार्क या विक्रमादित्य नामक राजा राज्य करता था[2]।

१—इति याज्ञवल्क्यमुनि शास्त्रगता, विवृतिर्न कस्य विहिता विदुषः।
प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती परिषिञ्चति श्रवणयोरमृतम्॥
गम्भीराभिः प्रसन्नाभिः वाग्भिर्न्यस्ता **मिताक्षरा**।
अनल्पार्थाभिरल्पाभिः विवृतिर्विहिता मया॥

२—नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याण कल्पं पुरं।
नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितिपतिः श्री विक्रमार्कोपमः।

विज्ञानेश्वर पूर्वमीमांसा शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अपने ग्रन्थ में इन्होंने सर्वत्र पूर्णमीमांसा के न्यायों का प्रयोग धर्मशास्त्र की विभिन्न ग्रन्थियों के सुलझाने में किया है। जैसा कि नाम से ही विदित है, इस ग्रन्थ की शैली अत्यन्त संक्षिप्त तथा ठोस है। परन्तु समास शैली के अवलम्बन के कारण लेखक ने अपने विचारों को विस्तृत रूप से समझाने में कहीं संकोच नहीं किया है। इसलिए कहीं कहीं केवल एक श्लोक की व्याख्या अनेक पृष्ठों में की गई है। विज्ञानेश्वर ने अपने पूर्ववर्ती छः आचार्यों तथा अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है।

मिताक्षरों में विश्वरूप, मेधातिथि और धारेश्वर का नाम निर्दिष्ट है। इससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना १०५० ई० के पश्चात् की गई होगी देवनभट्ट की स्मृतिचन्द्रिका (रचनाकाल १२०० ई०) में मिताक्षरा के मतों का खण्डन मिलता है। लक्ष्मीधर के 'कल्पतरु' (रचनाकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) में विज्ञानेश्वर का नामोल्लेख है। इससे पता चलता है कि मिताक्षरा की रचना ११५० ई० के० पूर्व की गई होगी। कल्याण के चालुक्य-वंशी राजाओं में विक्रमार्क नामक राजा विक्रमादित्य षष्ठ है जिसने १०७६ ई० से ११२७ तक राज्य किया। इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मिताक्षरा की रचना १०७० ई० से ११०० ई० के बीच में हुई होगी।

मिताक्षरा विद्वत्तापूर्ण तथा मौलिक होने के कारण इतनी प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध थी कि इसके ऊपर अनेक टीकायें लिखी गई जिनमें विश्वेश्वर, नन्दपण्डित तथा बालमभट्ट की व्याख्याएं अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। डा० आफ्रेक्ट ने अपने महान् सूचीपत्र में 'आशौचदशक' नामक ग्रन्थ पर विज्ञानेश्वर की टीका का उल्लेख किया है परन्तु पता नहीं, उनका यह कथन कहाँ तक प्रामाणिक है। डा० आफ्रेक्ट ने त्रिंशत्श्लोकी—जो आशौच के ऊपर ३० स्रुग्धरा छन्दों में एक ग्रन्थ है—पर भी विज्ञानेश्वर द्वारा भाष्य लिखे जाने का वर्णन किया है। परन्तु इस मत में भी सन्देह ज्ञात होता है।

विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किञ्चान्यदन्योपमः
चाकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतत्त्रयम्॥
(मिताक्षरा के अन्त का चौथा श्लोक)

इस ग्रन्थ में विज्ञानेश्वर तथा मिताक्षरा का नाम निर्देश है। यदि यह विज्ञानेश्वर की कृति होती तो संभवतः ऐसा निर्देश न होता।

जो हो, विज्ञानेश्वर की केवल एक ही कृति **'मिताक्षरा'** इनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए पर्याप्त है। जब तक धर्मशास्त्र का पठनपाठन रहेगा तब तक 'मिताक्षरा' का नाम अमिट रहेगा। इस ग्रन्थरत्न के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अंग्रेजी में इसका अनुवाद भी किया गया है।

(८) हलायुध

लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ कल्पतरु के व्यवहाराध्याय में धर्माचार्य हलायुध का उद्धरण अनेक बार किया है। चण्डेश्वर के 'विवादरत्नाकर' में भी हलायुध का नामोल्लेख है। हरिनाथ के 'स्मृतिसार' में हलायुध निबन्ध से कई अवतरण लिये गये हैं। रघुनन्दन तथा 'वीरमित्रोदय' के लेखक ने भी इनके मत को उद्धृत किया है। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हलायुध का ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक था। कल्पतरु ने—जिसकी रचना ११२५ ई० से ११५० ई० के बीच हुई—हलायुध को प्रमाण माना है। अतः इनका आविर्भाव काल ११०० ई० के पहले होना चाहिए। मेधातिथि तथा विज्ञानेश्वर ने हलायुध का कहीं भी उल्लेख नहीं किया और इनका मत धारेश्वर तथा जितेन्द्रिय से बहुत कुछ मिलता है अतः इनका समय १००० ई० से पहले नहीं हो सकता। इस प्रकार से इनका काल १०००-११०० तक समझना चाहिए। हलायुध संभवतः मिथिला के रहनेवाले थे। यह बड़े खेद की बात है कि अभी तक इनके ग्रन्थ-रत्न का पता नहीं चला है। इनके ग्रन्थ की सत्ता केवल उद्धरणों से ही ज्ञात होती है।

हलायुध नाम के अनेक व्यक्ति उपलब्ध हैं जिन्होंने भिन्न:भिन्न समय में ग्रन्थ-रचना की। 'अभिधानरत्नमाला' के लेखक का नाम हलायुध पाया जाता है। इसी प्रकार 'ब्राह्मण-सर्वस्व' के कर्त्ता भी हलायुध हैं। परन्तु हमारे चरित-नायक हलायुध इन सबसे भिन्न हैं।

(९) भवदेव भट्ट

भवदेव भट्ट धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। रघुनन्दन के 'व्यवहारतत्त्व' तथा 'वीरमित्रोदय' से पता चलता है कि इन्होंने धर्मशास्त्रों के ऊपर 'व्यवहार-तिलक' नामक ग्रन्थ न्याय-विधान के ऊपर लिखा था। परन्तु खेद है कि इस ग्रन्थ-रत्न का पता अभी तक नहीं लगा है। डेकेन कालेज की हस्तलिखित

ग्रन्थों के संग्रह में इनके द्वारा लिखे गए 'दशकर्मपद्धति' या 'दशकर्मदीपिका' ग्रन्थ मिलता है। इस ग्रन्थ में सामवेद के अध्येता ब्राह्मण के द्वारा किये जाने वाले दस प्रधान संस्कारों तथा रीतियों का उल्लेख है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'प्रायश्चित्तनिरूपण' है जिसमें इनको 'बालवलभी भुजंग कहा गया है। इनका तीसरा ग्रन्थ 'तौतातित मततिलक' है जिसकी हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस में विद्यमान है। इस ग्रन्थ में पूर्वमीमांसा शास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या कुमारिल भट्ट के दृष्टिकोण से की गई है। हेमाद्रि, हरिनाथ तथा 'विवादचन्द्र' के लेखक ने इनके मत का उल्लेख किया है अतः इनका काल ११०० ई० के लगभग समझना चाहिए। पुरी जिले के भुवनेश्वर नामक स्थान में प्राप्त एक शिलालेख से इनके जीवन के ऊपर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि ये सामवेद की कौथुमी शाखा के थे तथा इनका गोत्र सावर्ण था। ये बंगाल के निवासी बड़े प्रतिभासम्पन्न पुरुष थे। इन्होंने होरा, स्मृति तथा मीमांसा शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे थे।

(१०) गोविन्दराज

मनुस्मृति के टीकाकारों में मेधातिथि के बाद गोविन्दराज का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इनकी टीका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। मनुस्मृति ३।२४७ की व्याख्या में इन्होंने लिखा है कि "इस विषय का विशेष वर्णन मैंने अपने अन्य ग्रन्थ 'स्मृति मञ्जरी' में किया है। कुल्लूकभट्ट ने मनु (४।२१२) की टीका में गोविन्दराज की अन्य कृति मञ्जरी का उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि इन्होंने मनुटीका के अतिरिक्त स्मृतिमञ्जरी भी लिखी थी। इस ग्रन्थ की केवल एक भाग की हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस, लण्डन में विद्यमान है।

मनु की टीका की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि गोविन्दराज के पिता का नाम भट्ट माधव था[१]। 'स्मृतिमञ्जरी' के प्रथम श्लोक तथा अन्तिम श्लोक से यह पता चलता है कि ये माधव के पुत्र और नारायण के पौत्र थे[२]।

१—मनुटीका–पुष्पिका

२—स्मृतिविरचितैस्तैस्तैर्वाक्यैर्द्विशक्ति पराङ्मुखी–
मखिलकललव्यालुप्तार्थामतो बत संहृतिम्।
अलिखदखिलां गोविन्दाख्यश्चिरं गुरुसंश्रया–
दुपचिततनुर्ज्ञानाबोधः स माधवनन्दनः। स्मृति म० प्रथम श्लोक

ये गङ्गा के किनारे रहने वाले थे। मनु की टीका के प्रथम श्लोक में इन्होंने शिव की स्तुति करते हुए लिखा है कि मैंने मनुशास्त्र को अविच्छिन्न गुरुपरम्परा से प्राप्त किया है तथा इस ग्रन्थ की अनेक पूर्वकालीन टीकाओं का अध्ययन किया है[1]। जैसा कि पहले लिखा गया है, इनके ग्रन्थ स्मृतिमञ्जरी की केवल एक ही हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है जो इण्डिया आफिस में सुरक्षित है। इस प्रति के अन्त में ग्रन्थ की समस्त विषयसूची दी गई है जिससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में धर्मशास्त्र संबंधी सभी प्रधान विषयों का वर्णन था। इस ग्रन्थ का जो अंश उपलब्ध हुआ है उससे जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बड़ा विस्तृत था।

इन दोनों ग्रन्थों में गोविन्दराज ने अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पुराणों तथा गृह्यसूत्रों से भी अनेक उद्धरण दिये गये हैं। मेधातिथि के भाष्य की तुलना में इनकी टीका संक्षिप्त है। कुल्लूकभट्ट ने अपनी मनु-टीका में गोविन्दराज का सैकड़ों बार नामोल्लेख किया है और इनके मत की आलोचना की है।

डा० जोली और डा० व्यूलर ने गोविन्दराज का समय १२वीं अथवा १३वीं शताब्दी निश्चित किया है। परन्तु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। कुल्लूक ने लिखा है कि गोविन्दराज मेधातिथि के बहुत पहले हुए थे। यद्यपि गोविन्दराज ने कहीं मेधातिथि का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु अनेक स्थानों पर इनके मत का खण्डन किया है। दूसरी विशेष बात यह है कि यद्यपि मिताक्षरा में मेधातिथि और भोजदेव का प्रमाणरूप में उल्लेख किया गया है परन्तु गोविन्दराज का कहीं निर्देश नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि गोविन्दराज भोजदेव से पहले आविर्भूत नहीं हुए थे। अर्थात् १०५० ई० के पूर्व इनका समय नहीं हो सकता। अनिरुद्ध की हारलता में—जिसकी रचना ११६० ई० में हुई थी—गोविन्दराज से अनेक उद्धरण दिये गये हैं तथा इनको

१—स्ववाहिनी पुलिन लाञ्छनलब्ध कीर्तिः,
नारायणस्य तनुजात्मज उच्चिकाय।
वाक्यावलीमखिलसज्जनकरणावतंसाद्
गोविन्दराज इह माधव इह भूमिः॥ स्मृ० मं० फोलियो १५०

विश्वरूप और भोजदेव के समान प्रमाण माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये ११०० ई० या ११२५ ई० के बाद नहीं हो सकते। हेमाद्रि ने लिखा है कि पण्डितपरितोष नामक ग्रन्थ के लेखक ने गोविन्दराज के मत का खण्डन किया है। हेमाद्रि का रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः गोविन्दराज इनसे एक शताब्दी पूर्व हुए होंगे। इन सब प्रमाणों से प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि गोविन्दराज का आविर्भाव काल १०५० ई० से ११०० या ११५० ई० के बीच में है।

(११) लक्ष्मीधर

इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'कल्पतरु' था जिसका प्रभाव मिथिला, बङ्गाल तथा उत्तरी भारत के पूर्वकालीन स्मृतिलेखकों के ऊपर प्रचुर मात्रा में पड़ा था। यह ग्रन्थ बहुत ही विस्तृत था परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अभी तक इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई है और न इस ग्रन्थ का कोई भाग प्रकाशित ही हुआ है। इसकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रति के देखने से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के अनेक काण्ड थे। इस ग्रन्थ का नाम कृत्यकल्पतरु भी लिखा मिलता है। इस ग्रन्थ की सबसे पूर्ण हस्तलिखित प्रति उदयपुर के महाराणा के पुस्तकालय में है।

इस प्रति की पुष्पिका तथा प्रारम्भिक श्लोकों से ज्ञात होता है कि इसके लेखक का नाम लक्ष्मीधर था जो भट्ट हृदयधर का पुत्र था। लक्ष्मीधर कन्नौज के प्रसिद्ध गहड़वाला राजा गोविन्दचन्द्र के सान्धिविग्रहिक थे। 'कल्पतरु' के राजधर्मकाण्ड के प्रारम्भिक श्लोक से मालूम पड़ता है कि लक्ष्मीधर की चतुरता तथा कूटनीति के कारण ही गोविन्दचन्द्र अपने विरोधियों को परास्त कर सका था[1]। इसी ग्रन्थ के व्यवहारकाण्ड की पुष्पिका से यह सूचना मिलती है कि गोविन्दचन्द्र की आज्ञा से ही लक्ष्मीधर ने इस ग्रन्थ का

१—न्याय्ये वर्त्मनि यज्जगद्गुणवतां गेहेषु यद्दन्तिनो,
राज्ञां मूर्धनि यत्पदं व्यरचयत् गोविन्दचन्द्रो नृपः।
तत्सर्वं खलु यस्य मन्त्र महिमाश्चर्यं स लक्ष्मीधरः,
काण्डे शंसति राजधर्मनिचयानेकादशे पुण्यधीः॥

निर्माण किया था"[1]। यद्यपि 'कल्पतरु' परिमाण में मिताक्षरा से भी बड़ा है परन्तु वर्णन शैली, विद्वत्ता तथा व्याख्या पद्धति में यह उससे घटकर है। चूंकि ये गोविन्दचन्द्र के मन्त्री थे और गोविन्दचन्द्र का समय प्रायः निश्चित है (क्योंकि इसने ११**१४** से ११५६ ई० तक राज्य किया) अतः इनका समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझना चाहिये।

(१२) जीमूतवाहन

जीमूतवाहन का नाम धर्मशास्त्र के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। जो स्थान विज्ञानेश्वर को भारत के अन्य प्रान्तों में प्राप्त है वही स्थान जीमूतवाहन का बंगाल में है। इनके महत्त्व का सबसे बड़ा कारण यह है कि बङ्गाल के न्यायालयों में हिन्दूकानून के विषय में इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दायभाग' प्रमाण माना जाता है। इसके अतिरिक्त बंगाली धर्मशास्त्रियों की सुप्रसिद्ध त्रयी में इनका स्थान सर्वप्रथम है। इस त्रयी के दो अन्य रत्न शूलपाणि और रघुनन्दन हैं। जीमूतवाहन का प्रभाव बंगाल के स्मृतिलेखकों पर बहुत पड़ा है जिसका प्रमाण इनके परवर्ती लेखकों का इनके ग्रन्थों के उद्धरण हैं।

इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की थी जो सौभाग्य से सभी प्रकाशित हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) दायभाग, (२) कालविवेक और (३) व्यवहार मातृका। 'दायभाग' सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक माना जाता है। इनके 'कालविवेक' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि ये तीनों ग्रन्थ धर्मशास्त्र के ऊपर लिखे गये इनके बहुत बड़े तथा विस्तृत ग्रन्थ 'धर्मरत्न' के अंग थे जिसका पता इस समय नहीं चलता। कालविवेक जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है—काल या समय के ऊपर ग्रन्थ है जिसमें धार्मिक कृत्यों, यज्ञों तथा संस्कारों के लिए उपयुक्त तथा उचित समय का निरूपण किया गया है। अर्थात् कौन संस्कार किस मास में करना चाहिए, वेदाध्ययन के लिये कौनसा समय उचित है तथा मलमास आदि कब लगता है—इन विषयों का वर्णन इसमें पाया जाता है। इस ग्रन्थ के

१—इति महाराजाधिराज गोविन्दचन्द्रदेवादिष्टेन महासान्धिविग्रहिकेण भट्ट हृदयधरात्मज श्री लक्ष्मीधरेण विरचितं कृत्य कल्पतरौ व्यवहार काण्डमिदं समाप्तम्। —इसी काण्ड की पुष्पिका।

निर्माण का उद्देश्य बतलाते हुए लेखक ने लिखा है कि "काल के विषय को बहुत से लेखकों ने नहीं समझा है और बहुतों ने इसे संक्षेप में लिखा है अतः साधारण लोगों के लिए मैंने सरल रीति से इस विषय को समझाकर लिखा है[1]"। व्यवहार मातृका में व्यवहार के विभिन्न विषयों का वर्णन विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में इसका नाम व्यवहार मातृका मिलता है[2]। परन्तु अन्तिम श्लोक में इसका उल्लेख न्यायमातृका के नाम से किया गया है[3]। इस ग्रन्थ में अनेकों स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया गया है। कात्यायन, वृहस्पति तथा नारद इन तीन स्मृतिकारों का नाम बार बार लिया गया है और इस पुस्तक के लगभग दो तिहाई उद्धरण इन्हीं स्मृतिकारों के ग्रन्थों से लिये गये हैं। निबन्धकारों में जितेन्द्रिय, भोजदेव तथा विश्वरूप का नाम अनेक बार आया है जिससे जान पड़ता है कि इनका अध्ययन कितना गहरा था।

जीमूतवाहन का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दायभाग' है। यह हिन्दू कानून से संपत्ति का उत्तराधिकार, उसके विभाजन, स्त्रीधन आदि विषयों के ऊपर अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ बंगाल के न्यायालयों में माना जाता है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि इसके ऊपर एक दर्जन से भी अधिक टीका तथा व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये हैं। कोलब्रुक ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में किया है। 'दायभाग' में उत्तराधिकार संबंधी सभी विषयों का विस्तृत रूप से वर्णन पाया जाता है। इसमें कुछ ऐसे विशिष्ट मतों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख है जो 'मिताक्षरा' से इसे स्पष्ट

१—कालः कैश्चिदबुद्धः, कैश्चित्संक्षिप्तश्च वचननिबद्धः।
इति मन्दमतीनामपि सुबोधकरणो मया क्रियते॥
—का० वि०, श्लोक २

करतलगतामलकमिव कालं बालोपि वीक्षते येन।
जीमूतवाहनकृतः कालविवेकः परं जयति॥ पृ० ३८०

२—व्यवहारमातृकैषा सकल विवादेषु धर्मबाधार्थम्।
लोकहितेऽपि रक्षति सुतमिव शुश्रूषया माता॥

३—पारिभद्रकुलोद्भूतः श्रीमान् जीमूतवाहनः।
विदुषां परितोषाय निर्ममे न्यायमातृकाम्॥

ही पृथक् करते हैं—जैसे पुत्र का पैत्रिक सम्पत्ति में जन्म से अधिकार न होना, पिता के अधिकार के नष्ट हो जाने पर ही पुत्रों के द्वारा सम्पत्ति का विभाजन आदि। अनेक स्मृतिकारों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में महाभारत तथा मार्कण्डेय का उल्लेख किया गया है।

इनके ग्रन्थों की पुष्पिका में इन्हें पारिभाद्रीय महामहोपाध्याय कहा गया है। व्यवहारमातृका के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि ये परिभाद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। कहा जाता है कि बंगाल के राढ़ीय ब्राह्मणों में यह कुल अभी तक विद्यमान है। इंदु मिश्र की कुलकारिका से पता चलता है कि जीमूतवाहन बंगाल के राजा विश्वक्सेन के राज्य में प्रधान न्यायाधीश थे। यह उल्लेख कहाँ तक सत्य है, यह कहना कठिन है परन्तु इतना निश्चित है कि ये राढ़ के निवासी थे। इनके आविर्भाव काल के विषय में बड़ा विवाद है। इनका समय ११वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी तक बतलाया गया है। जीमूतवाहन ने धारेश्वर भोजदेव और गोबिन्दराज का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पहले कदापि नहीं हो सकता। शूलपाणि, वाचस्पति मिश्र तथा रघुनन्दन ने अपने ग्रन्थों में इनका उल्लेख किया है, अतः इनका समय १५वीं शताब्दी के मध्यकाल के पश्चात् नहीं हो सकता। इन्होंने अपने ग्रन्थ कालविवेक में अपने पूर्ववर्ती अन्धुक के द्वारा ९५२ शक (१०३० ई०) में किसी ज्योतिष-संबंधी घटना के निर्देश का उल्लेख किया है। इसी प्रकार इन्होंने कालविवेक में ज्योतिष संबंधी अनेक सूक्ष्म घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया है जो सन् १०९१ और १०९२ में घटी थी। यदि इनका आविर्भाव इस समय के कई शताब्दी बाद हुआ होता तो ये ऐसी सूक्ष्म घटनाओं का उल्लेख न कर सकते थे अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कालविवेक की रचना १०९१ ई० के पश्चात् शीघ्र ही हुई होगी। उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि जीमूतवाहन का रचनाकाल १०९० ई० से ११५० ई० के बीच में है[1]।

१—इस विषय के विशेष वर्णन के लिये देखिए—

(क) डा० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ३१८—३२७

(ख) एम० एम० चक्रवर्ती—जे० ए० एस० बी० १९१५, पृ० ३२१—२७

(ग) पञ्चानन घोष—कलकत्ता ला जर्नल।

(१३) अपरार्क

याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकारों में अपरार्क का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने इस स्मृति की 'अपरार्क-याज्ञवल्कीय-धर्मशास्त्रनिबन्ध' नामक बड़ी विस्तृत टीका लिखी है जो आनन्दाश्रम-संस्कृत सीरीज, पूना से दो भागों में प्रकाशित हुई है। इस टीका के अन्त के एक श्लोक में तथा पुष्पिका में इनका नाम अपरादित्य लिखा है। इस पुष्पिका से यह भी पता चलता है कि ये विद्याधर जाति के जीमूतवाहन परिवार में उत्पन्न हुए थे तथा शिलाहार राजा थे[1]। इस टीका के प्रारम्भ के पाँचवें श्लोक में ये जीमूतवंश के भूषण बतलाये गये हैं तथा परम शैव होने के कारण इनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। इससे यह भी पता चलता है कि ये विद्या में वाचस्पति के समान और क्षमा में पृथ्वी को भी लज्जित करते थे[2]।

अपरार्क का ग्रन्थ यद्यपि मिताक्षरा की भांति याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका है परन्तु वास्तव में यह एक मौलिक निबन्ध ग्रन्थ है। यह परिमाण में मिताक्षरा से अत्यन्त अधिक है। इस टीका में गृह्य तथा धर्मसूत्रों और स्मृतियों से अनेक उद्धरण लिये गये हैं। मिताक्षरा और इस ग्रन्थ में अनेक बातों में अन्तर है। जहाँ मिताक्षरा पुराणों से उद्धरण लेने में बहुत संकोच करती है वहाँ इस ग्रन्थ में अनेक पुराणों से लम्बे लम्बे उद्धरण लिये गये हैं। दूसरी बात जो मिताक्षरा में नहीं पाई जाती वह यह है कि अपरार्क ने धर्मसूत्रों से लम्बे उद्धरण लेकर उनकी बड़े विस्तार से व्याख्या की है।

१—राष्ट्रं यस्य निरंकुशा वसुमती कोशः समृद्धः सुहृद्—
शक्तो दुर्गमनागमं क्षतपरा सेना हिता मन्त्रिणः।
शास्त्रार्थामृत चर्वणार्पितमतिर्विश्वैकनाथोप्यसो
शौर्यौदार्ययशोधनोमुमपरादित्यो निबन्धं व्यधात् ॥
इति विद्याधरवंश प्रभव श्री शिलाहार नरेन्द्रजीमूतवाहनान्वयप्रसूत श्रीमदपरादित्यदेव विरचिते याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्र निबन्धेऽपरार्के प्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

२—भक्त्या यस्य सविस्मयः स्मररिपुर्बुद्धया च वाचस्पतिः
विक्रान्त्या द्विषतां गणः सुचितया भास्वान् क्षमितवेन भूः।
जीमूतान्वयभूषणं स विपुलां श्रीमीश्वरेणोदिते,
शास्त्रे वाक्यनया नुमां वितनुते व्याख्यां सतां संमताम् ॥

एक विशेष बात यह है कि विज्ञानेश्वर ने अपने पूर्ववर्ती छः प्रधान निबन्धकारों–असहाय, विश्वरूप आदि–का नामोल्लेख किया है परन्तु अपरार्क इस विषय में मौन हैं। अपरार्क याज्ञवल्क स्मृति की प्रसिद्ध टीका मिताक्षरों को जानते थे कि नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। डा० काणे का मत है कि अपरार्क मिताक्षरा से परिचित थे। कुछ विद्वानों का मत है कि अपरार्क ने मिताक्षरा का यत्र-तत्र खण्डन किया है परन्तु किसी कारणवश स्पष्टतः नामोल्लेख नहीं किया। अपरार्क के ग्रन्थ के गम्भीर अनुशीलन से इस प्रमाण की पुष्टि होती है[1]।

अपरार्क का काल निश्चित रूप से निरूपित किया जा सकता है। स्मृतिचन्द्रिका ने अनेक स्थानों पर अपरार्क के मत को उद्धृत किया है और कहीं कहीं पर मिताक्षरा से इनके विरोध का प्रदर्शन भी किया है। स्मृतिचन्द्रिका की रचना १२०० ई० के लगभग हुई थी। अपरार्क मिताक्षरा से परिचित थे और स्थान स्थान पर उसके सिद्धान्तों की उन्होंने आलोचना की है। यदि यह मत ठीक माना जाय—जिसको असत्य मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं मिलता—तो अपरार्क का आविर्भाव काल ११०० ई० से १२०० ई० के बीच समझना चाहिए।

(१४) अनिरुद्ध

बंगाल के धर्मशास्त्रियों में अनिरुद्ध का नाम सुप्रसिद्ध है। इनकी अमूल्य कृति 'हारलता' बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन बिब्लोकिका इण्डिका में (१९०९) हुआ था। इन्होंने एक दूसरे ग्रन्थ पितृदयिता या कर्मोपदेशिनी पद्धति की भी रचना की थी। हारलता निबन्ध ग्रन्थ है जिसका विषय जीवन, मरण, शौचाशौच, दाह संस्कार, पिण्डदान और जलाञ्जलि देना आदि है। इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक से ज्ञात होता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ को लिखने के पहले मनुस्मृति की टीकाओं तथा अन्य स्मृतियों का अनुशीलन किया था[2]। इस ग्रन्थ में मनु, याज्ञवल्क्य और नारद आदि प्रसिद्ध स्मृतिकारों के उल्लेख के अतिरिक्त असहाय, गोविन्दराज और भोजदेव के ग्रन्थों का भी निर्देश है।

१—डा० काणे-हि० ध० लि०, भाग १, पृ० ३३२

२—प्रणम्य पुण्डरीकाक्षं पूर्वाचार्यप्रवर्तिताः।
व्याख्या मन्वादिशास्त्राणां समालोच्य विविच्यते॥

पितृदयिता से ज्ञात होता है कि वह ग्रन्थ स्मृति, पुराण, गोभिलगृह्यसूत्र तथा छान्दोग्य परिशिष्ट का अनुशीलन कर रचा गया था[1]।

'हारलता' के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि अनिरुद्ध गंगा के तीर पर विहारयाटक नामक स्थान के निवासी थे तथा कुमारिल भट्ट के मत के ज्ञाता थे। हारलता पुष्पिका से पता चलता है कि ये धर्माध्यक्ष थे और बंगाल के वारेन्द्र ब्राह्मणों के चम्पाहट्टीय कुल में उत्पन्न हुए थे[2]। बंगाल के राजा बल्लालसेन के ग्रन्थ दानसागर से पता चलता है कि अनिरुद्ध बल्लालसेन के गुरु थे और इस ग्रन्थ की रचना में उन्होंने राजा को बड़ी सहायता पहुँचायी थी। दानसागर का रचनाकाल १०९१ शाके (११६९ ई०) है[3]। इस प्रकार अनिरुद्ध का रचना काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध समझना चाहिए।

(१५) बल्लाल सेन

बंगाल के राजाओं में बल्लालसेन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह साहित्य और कला का संरक्षक ही नहीं था बल्कि स्वयं एक सुन्दर लेखक था। इसने धर्मशास्त्र के ऊपर कम से कम चार ग्रन्थों की रचना की है, जिनके अन्त में सागर शब्द आया है। वेदाचार्य ने अपने 'स्मृति रत्नाकर' में इसके आचारसागर का उल्लेख किया है। इस राजा ने 'प्रतिष्ठा सागर' की भी रचना की थी। परन्तु 'दानसागर' इसका सबसे बड़ा ग्रन्थ है जिसमें षोडश महादानों तथा अन्य लघुदानों का वर्णन किया गया है। इसमें दान संबंधी जितने विषय हो सकते हैं—दान का पात्र या अधिकारी, देयवस्तु, दाता, ग्रहीता, दान का माहात्म्य, दान का समय आदि—उन सबका विस्तार के साथ वर्णन है। दानसागर में महाभारत तथा पुराणों के विषय में बहुत सी

१—गोभिल गृह्यसूत्रं दृष्ट्वा छन्दोगपरिशिष्टम्।
दृष्ट्वा स्मृतीश्च बहुशः परिसंख्यानं पुराणव्याख्यानि।।
रचिता पद्धतिरेषा सम्यक् कर्मोपदेशिनी—रुचिरा।

२—सुरापगातीरविहारपाटके निवासिना भट्टनयार्थवेदिना।
कृतानिरुद्धेन सतामुरःस्थले विराजतां हारलतेयमर्पिता।।

३—निखिल भूय चक्रतिलक श्रीमद्वल्लालसेन देवेन।
पूर्णे शशिनवदशमित शक वर्षे दान सागरो रचितः।।
—दान सागर का अन्तिम श्लोक

जानकारी की अमूल्य सूचनाएँ मिलती हैं जिनसे पुराणों के विषय-निर्धारण में हमें सहायता मिलती है। उदाहरण के लिये दानसागर में यह लिखा है कि भागवत, ब्रह्माण्ड और नारदीय पुराण में दानविधि का वर्णन नहीं है अतः इन ग्रन्थों से इसमें सहायता नहीं ली गई। दूसरे स्थान में लिखा है कि देवीपुराण नास्तिक मत-सम्मत है अतः इसकी गणना पुराणों अथवा उपपुराणों में नहीं की गई है। इसी प्रकार अन्य गम्भीर बातें भी हमें इस ग्रन्थ में मिलती हैं। इनका चौथा ग्रन्थ 'अद्भुतसागर' है जो प्रकाशित हो चुका है।

बल्लालसेन ने अपने ग्रन्थ दानसागर की रचना १०९१ शाके में की थी। अतः इनका रचनाकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध समझना चाहिए। रघुनन्दन का यह विश्वास है कि दानसागर अनिरुद्धभट्ट की रचना है। दानसागर में स्पष्ट ही इस बात का उल्लेख है कि यह ग्रन्थ गुरु-अनिरुद्ध की आज्ञा से लिखा गया है[1]। अतः इसमें सन्देह नहीं कि 'दानसागर' बल्लालसेन की ही रचना है।

(१६) देवणभट्ट

देवर्णभट्ट की सुप्रसिद्ध कृति का नाम 'स्मृतिचन्द्रिका' है जो धर्मशास्त्र के ऊपर सुन्दर प्रामाणिक एवं प्रसिद्ध निबन्धग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के दायभाग वाले प्रकरण का अंग्रेजी में अनुवाद कर टी० कृष्णस्वामी ऐयर ने मद्रास से सन् १८६७ ई० में प्रकाशित किया था। 'स्मृतिचन्द्रिका' अत्यन्त विस्तृत निबन्ध ग्रन्थ है। इसकी विशेषता यह है कि अबतक जितने निबन्धग्रन्थों का पता चला है उनमें यह सबसे प्राचीन है। यह ग्रन्थ अनेक काण्डों में विभक्त है जैसे—संस्कारकाण्ड, आह्निक काण्ड, व्यवहार काण्ड, श्राद्धकाण्ड और आशौचकाण्ड। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रायश्चित्त पर भी कोई काण्ड अवश्य लिखा होगा। इस ग्रन्थ

१—अधिगत सकल पुराणस्मृतिसारः श्रद्धया गुरोरस्मात्।
कलिकल्मषावसादं दाननिबन्धं विधत्तेनु ॥
श्री वल्लालनरेश्वरो विरचयत्येतं गुरोः शिक्षया,
स्वप्रज्ञावधि दानसागरमयं श्रद्धावतां श्रेयसे॥
—दानसागर का ६ और ७ श्लोक।

की हस्तलिखित प्रति की पुस्तिका में ग्रन्थकर्त्ता का नाम देवण्ण, देवण, देवनन्द या देवगण आदि रूपों में मिलता है। इसी पुष्पिका में इनके पिता का नाम केशवादित्य भट्ट लिखा है।

'स्मृतिचन्द्रिका' में अनेक स्मृतिकारों के उद्धरण विपुल मात्रा में दिये गये हैं जिसमें हमें विभिन्न स्मृतियों के पुनर्निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरण के लिये इस ग्रन्थ में केवल कात्यायन स्मृति से ६०० श्लोक उद्धृत किये गये हैं और बृहस्पति से उद्धृत श्लोकों की संख्या भी प्रायः इतनी ही है। इसमें अनेक स्मृति तथा व्याख्याकारों का उल्लेख है तथा यत्र-तत्र उनके मत का खण्डन भी किया गया है। देवणभट्ट दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। इनका ग्रन्थ दक्षिण भारत में बड़ा प्रामाणिक माना जाता है। परन्तु वहां भी यह 'मिताक्षरा' का स्थान नहीं ले सका है।

स्मृति चन्द्रिका को यदि धर्मशास्त्र का विश्वकोश कहें तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि धर्मशास्त्र संबंधी जितनी भी ज्ञातव्य बातें हो सकती हैं उन सब का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। विद्वान लेखक ने किसी विषय को अछूता नहीं छोड़ा। स्मृतिचन्द्रिका में वर्णित विषयों में से कुछ ये हैं:— वर्ण, आश्रम, संस्कार, धर्माचार, ब्रह्मचारी के धर्म, अवकाश दैनिक कर्म, गृहस्थधर्म, पञ्चमहायज्ञ, व्यवहार, साक्षी, उत्तराधिकार विभाजन और श्राद्धकर्म आदि। इन विषयों के अवलोकन से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र संबंधी सभी ज्ञातव्य वस्तुओं का आगार है।

स्मृतिचन्द्रिका में विज्ञानेश्वर नाम बड़े आदर से उल्लिखित है; फिर भी अनेक स्थानों पर मिताक्षरा के मतों का खण्डन किया गया है। इससे ग्रन्थकर्त्ता की मौलिकता का पता चलता है। चूंकि स्मृतिचन्द्रिका में मिताक्षरा, अपरार्क तथा स्मृत्यर्थसार का उल्लेख पाया जाता है अतः इसका रचनाकाल ११५० ई० से पूर्व नहीं हो सकता। हेमाद्रि ने अपने ग्रन्थ में अन्य निबन्धकारों की अपेक्षा स्मृतिचन्द्रिका का अधिक उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण हेमाद्रि से कम से कम ५० वर्ष पहले अवश्य हुआ होगा। हेमाद्रि का समय १२२५ ई० के लगभग है। अतः देवणभट्ट का आविर्भाव काल ११५० ई०–१२०० ई० के भीतर समझना चाहिए।

मल्लिनाथ की भाँति देवणभट्ट की भी यह प्रतिज्ञा है कि उन्होंने अपने

ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा प्रामाणिक है अतः निर्भय होकर उसको ग्रहण करना चाहिये। उसमें कोई भी वस्तु काल्पनिक, निर्मूल अथवा प्रमाण-रहित नहीं है[1]।

(१७) हरदत्त

हरदत्त की कीर्ति एक प्रसिद्ध व्याख्याकार के रूप में है। इनके समान धुरन्धर टीकाकार बहुत कम हुए हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की टीका लिखी है और ये टीकायें प्रमाणभूत मानी जाती हैं। अनेक उद्धरणों से पता चलता है कि हरदत्त दक्षिण भारत के निवासी थे अथवा कम से कम वहां के आचार-व्यवहार से पूर्ण परिचित थे। गौतम धर्मसूत्र की टीका (११।२०) में चोल लोगों की अनेक रीतियों का उल्लेख इन्होंने किया है। गौतम (१५।१८) की टीका में इन्होंने लिखा है, किलास नामक चर्मरोग द्राविड़ देश में 'वलली' के नाम प्रसिद्ध है। इसी प्रकार से दक्षिण भारत की अनेक रीतियों का इन्होंने निर्देश किया है।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं, उनके नाम तथा उनके ऊपर लिखी गई इनकी टीका निम्नांकित है—

ग्रन्थ का नाम	टीका का नाम
(१) आपस्तम्बगृह्यसूत्र	अनाकुला
(२) आपस्तम्बीय मन्त्र-पाठ	अज्ञात नाम
(३) आश्वलायनगृह्य-सूत्र	अनाविला
(४) गौतमधर्मसूत्र	मिताक्षरा
(५) आपस्तम्बधर्मसूत्र	उज्ज्वला

ये सभी टीकायें बड़ी सुन्दर हैं तथा आदर्श टीका के लिये नमूना हैं। गौतमधर्मसूत्र के ऊपर लिखी गई इनकी टीका आस्तम्बधर्मसूत्र की टीका की अपेक्षा बड़ी संक्षिप्त है तथा समास शैली में लिखी गई है। इन्होंने धर्मसूत्रों की टीका में स्मृतिकारों तथा पुराणों का अनेक बार निर्देश किया है परन्तु शायद ही किसी टीकाकार या निबन्धकार का उल्लेख किया हो।

१—सर्वलोकहितार्थाय क्रियते स्मृतिचन्द्रिका॥
स्वाभिप्रायेण हि मया न किञ्चिदिह लिख्यते।
किंतु वाचनिकं सर्वमतो ग्राह्यहैव निर्भयैः॥
—प्रारम्भिक श्लोक।

हरदत्त शिव के परम भक्त थे। इन्होंने अपनी टीकाओं में रुद्र की प्रार्थना की है तथा महादेव की भी स्तुति की है। इन्होंने अपनी टीकाओं में कुछ बड़ी मनोरंजन वस्तुओं का उल्लेख किया है—जैसे इन्होंने लिखा है कि 'हींग वृक्ष के काटने से पैदा होती है अतः उसे खाना चाहिए या नहीं, यह विचारणीय है परन्तु सभी शिष्टलोग इसे खाते हैं[1]।' दूसरे स्थान पर इन्होंने लिखा है कि ब्राह्म विवाह से प्राजापत्य की यह विशेषता है कि इसमें पति को अन्य आश्रम न ग्रहण करने तथा दूसरी स्त्री से विवाह न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है[2]।

हरदत्त का समय-निर्णय करना बड़ा विवादग्रस्त है। डा० काणे ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय ११०० से १३०० के भीतर माना है। इनका मत है कि हरदत्त ११०० ई० के थोड़े ही पश्चात् आविर्भूत हुए होंगे[3]।

(१८) हेमाद्रि

दाक्षिणात्य धर्मशास्त्र लेखकों में हेमाद्रि और माधव अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हेमाद्रि प्रतिभासम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' है जो धार्मिक संस्कारों और विधानों का विश्वकोश है। यह विपुलकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं जिनमें से ६ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। इन छपे हुए पृष्ठों की संख्या ६००० से अधिक है। फिर भी यह ग्रन्थ अभी पूरा नहीं छपा है। इसीसे इसके विस्तार का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ग्रन्थ में लिखित उल्लेख से ज्ञात होता है कि लेखक ने 'धर्मशास्त्र' के विषय को पाँच खण्डों में लिखने का निश्चय किया था जिनके नाम—व्रत, दान, तीर्थ, मोक्ष और परिशेष थे। परिशेष खण्ड चार भागों—देवता, काल निर्णय, कर्मविपाक और लक्षण-समुच्चय—में विभक्त था। इनमें से तीर्थ और मोक्ष खण्डों का अभी

१—हिङ्गस्तु निर्यासः प्रश्चनप्रभवो न वेति चिन्त्यम्।
सर्वथा शिष्टा अपि भक्षयन्ति।

२—नाश्रमान्तर प्रवेष्टव्यं नापि स्त्र्यन्तरमुपयन्तव्यमिति मन्त्रेण समर्थः क्रियते। एष ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्यविशेषः।

३—काणे—हि० ध० लि०, भाग० १, पृ० ३५०

तक पता नहीं चला है। लेखक ने अपनी विस्तृत योजना को कार्यान्वित किया या नहीं, इसमें सन्देह है।

हेमाद्रि का यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इन्होंने स्मृति और पुराणों से अनेक उद्धरण लिये हैं तथा अन्य अनेक लेखकों का भी उल्लेख किया है। ये पूर्वमीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में काल और श्राद्ध को व्याख्या में पूर्वमीमांसा के न्यायों का प्रचुर प्रयोग किया है जिनको मीमांसा की गहरी जानकारी के बिना समझना टेढ़ी खीर है। यह प्रसन्नता की बात है कि इन्होंने अपने ग्रन्थों में थोड़ा-सा अपना परिचय भी दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये वत्सगोत्र में उत्पन्न हुए थे[1]। इनके पिता का नाम कामदेव और पितामह का वासुदेव था। इनके ग्रन्थ के विभिन्नकाण्डों के प्रारम्भ में हेमाद्रि की बड़ी प्रशंसा की गई है। एक श्लोक से पता चलता है कि इन्होंने निर्धन मनुष्यों को प्रचुर धन देकर ब्रह्मा के द्वारा उनके भाग्य में लिखी लिपि को (कि यह दरिद्र होगा) नष्ट कर दिया[2]। दूसरे श्लोक में लिखा है कि हेमाद्रि के समान न कोई हुआ, न है और न होगा[3]। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ये महादेव नामक राजा के करणाधीश्वर (राजकीय लेखों के संरक्षक) थे और राजा इन्हें भली भाँति अत्यन्त आदर देता था[4]।

यह महादेव देवगिरि (दौलताबाद) का सुप्रसिद्ध यादव नरेश था।

१—तेषामेव शिरोमणिर्विजयते वत्साभिधानो मुनिः॥
गोत्रे यस्य बभूव निर्मलगुणश्रेणीभृतामग्रणीः।
विद्याचार विवेक विक्रमनिधिः श्रीवासुदेवःकृती॥भाग ३, खण्ड १, श्लो० १,२

२—लिपिं विधात्रा लिखता जनस्य, भाले विभूत्यापरिमृज्य दुष्टाम्।
कल्याणिनीमेष लिखत्यथैनां चित्रं प्रमाणी कुरुते विधिश्च॥
भाग १, श्लोक १५

३—नैवासीन्न वर्तते न भविता हेमाद्रिसूरेः परः॥ भाग १, श्लो० २०

४—अस्ति शस्तगुणस्तोमः सोमवंशविभूषणः।
महादेव इति ख्यातो राज राजैव भूतले॥
तस्यास्ति नाम हेमाद्रिः सर्वं श्रीकरण प्रभुः।
निजोदारतयायश्च सर्वश्रीकरण प्रभुः॥ भाग १, श्लो० ६ और १३

हेमाद्रि ने व्रतकाण्ड के प्रारम्भ में यादव-नरेशों की विस्तृत वंशावली दी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। यद्यपि यादव-नरेशों के प्राप्त शिलालेखों तथा दानपत्रों में उल्लिखित वंशावली से इस वंशावली में कुछ अन्तर है, फिर भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। यादव-नरेश महादेव ने १२६० ई० से १२७१ ई० तक राज्य किया। 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में हेमाद्रि ने लिखा है कि वे महादेव के करणीश्वर थे, अतः उक्त ग्रन्थ की रचना १२६० से १२७१ ई० के भीतर हुई होगी। इस प्रमाण की पुष्टि तत्कालीन शिलालेखों से भी होती है।

हेमाद्रि ने उपर्युक्त विपुलकाय ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की रचना की थी। संभवतः इन्होंने 'शौनकप्रणवकल्प' की टीका भी लिखी थी। ये श्राद्ध-कल्प के भी रचयिता माने जाते हैं। हेमाद्रि ने वोपदेव के मुक्ताफल के ऊपर कैवल्यदीपिका नामक टीका लिखी थी[1]। वोपदेव हेमाद्रि के मित्र थे। इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों की रचना हेमाद्रि के उत्साह प्रदान के कारण ही की थी। इन्होंने लिखा है कि मैंने हरिलीला—जो भागवत की अनुक्रमणी है, की रचना मन्त्री हेमाद्रि के प्रसन्नतार्थ की है ।

हेमाद्रि का प्रभाव दक्षिण भारत में बहुत पाया जाता है। इनकी ग्रन्थ-रचना के कुछ ही दिनों बाद इनका दान और व्रतखण्ड समस्त दक्षिणी भारत में प्रमाण माना जाने लगा। भास्कर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने हेमाद्रि के लेखानुसार बहुत दान दिया है[3]। इससे हेमाद्रि की प्रमाणिकता और प्रभाव का कुछ अनुमान किया जा सकता है। सचमुच हेमाद्रि के समान प्रकाण्ड विद्वान, प्रतिभाशील तथा विपुलकाय ग्रन्थों का लेखक और उन्नतिशील व्यक्तित्व सम्पन्न धर्मशास्त्री दक्षिणभारत में शायद ही कोई दूसरा हो।

१—टीकां मुक्ताफलस्येमां नाम्ना कैवल्यदीपिकाम्।
हेमाद्रिः कटके चक्रे कामराजस्य वेश्मनि॥

२—श्रीमद् भागवतस्कन्धाध्यायार्थादि निरूप्यते।
विदुषा बोपदेवेन मन्त्रि हेमाद्रितुष्टये॥

३—हेमाद्रिकृतमार्गेण कुर्वन्दातान्यनेकशः।
ए० इ०, भाग १५, पृ० १०२

स्मृतिकार

(१) पितामह

पितामह प्राचीन स्मृतिकार थे। विश्वरूप ने वृद्ध याज्ञवल्क्य का एक उद्धरण दिया है जिसमें पितामह की गणना धर्मशास्त्र के लेखकों में की गई है। पितामह स्मृति में विशेषतया व्यवहार का वर्णन पाया जाता है। विश्वरूप ने अपने ग्रन्थ में शौच के ऊपर इनके एक श्लोक का उद्धरण दिया है। मिताक्षरा तथा अपरार्क में पितामह स्मृति के व्यवहार भाग से अनेक उद्धरण दिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका में भी इनके अनेक उद्धरण पाये जाते हैं। पितामह के मत से वेद, वेदाङ्ग, मीमांसा, स्मृति, पुराण और न्याय ये सभी धर्मशास्त्र हैं[१]। वृहस्पति के समान पितामह ने भी नव प्रकार की परीक्षा (दिव्य) बतलाई है[२]। स्मृतिचन्द्रिका में लिखा है कि पितामह के अनुसार १८ प्रकार की प्रकृति होती है। इसी ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि पितामह ने न्यायालय में निम्नांकित आठ वस्तुओं की उपस्थिति आवश्यक बतलाई है[३] लेखक, गणक, शास्त्र, सान्ध्यपाल, सभासद सोना, अग्नि और जल। यह कहना कठिन है कि पितामह ने सोना को क्यों आवश्यक बतलाया है। पितामह ने वृहस्पति का उद्धरण देते हुए लिखा है कि एक ही गाँव, पुर, श्रेणी तथा सेना के लोगों में विवाद होने पर उसका निर्णय उनकी प्रथा के अनुसार करना चाहिए[४]। इसके उद्धरण से ज्ञात होता है कि पितामह का आविर्भाव वृहस्पति के पश्चात् हुआ था। अतः इनका काल ४०० से ७०० ई० के भीतर समझना चाहिए।

१—वेदाः साङ्गास्तु चत्वारो मीमांसा स्मृतयस्तथा।
एतानि धर्मशास्त्राणि पुराणं न्यायदर्शनम्।। अपरार्क, पृ० ६०१

२—अष्टमं कालमित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत्।
दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयंभुवा।। अपरार्क, पृ० ६९४

३—लेखको गणकः शास्त्रं सान्ध्यपालः सभासदः।
हिरण्यमग्निरुदकं अष्टाङ्गकरणं स्मृतम्।। स्मृ० च०,प्रारम्भ श्लो० १५

४—ग्रामगोष्ठपुरश्रेणिसार्थसेनानिवासिनाम्।
व्यवहारश्चरित्रेण निर्णतको वृहस्पतिः।।

(२) पुलस्त्य

वृद्ध याज्ञवल्क्य ने पुलस्त्य की गणना धर्मशास्त्रियों में की है। विश्वरूप ने शारीरशौच के संबंध में इनका एक श्लोक उद्धृत किया है। विज्ञानेश्वर ने इनका श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार ब्राह्मण को श्राद्ध में मुनि अन्न, क्षत्रिय और वैश्य को मांस तथा शूद्र को मधु खाने का विधान है। अपरार्क ने सन्ध्या, श्राद्ध, अशौच, प्रायश्चित्त तथा यतिधर्म संबंधी अनेक श्लोकों का पुलस्त्य से उद्धरण दिया है। स्मृतिचन्द्रिका में आह्निक तथा श्राद्ध संबंधी इनके अनेक श्लोक पाये जाते हैं। चण्डेश्वर के दानरत्नाकर में मृगचर्म के दान के संबंध में इनका एक उद्धरण मिलता है। पुलस्त्य-स्मृति की रचना ४०० ई० से ७०० ई० के बीच हुई होगी।

(३) हारीत

स्मृतिकारों में हारीत का नाम आदर से लिया जाता है। इसका कारण संभवतः इनके कुछ स्वतन्त्रमत थे जिनका उद्‌घाटन इन्होंने अपनी स्मृति में किया है। इन्होंने व्यवहार की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि जहाँ अपने धन की प्राप्ति एवं दूसरे धर्म का वर्जन न्यायपूर्वक किया जाय उसे व्यवहार कहते हैं[1]। इनके मत से वही व्यवहार (न्यायविधान) उचित है जो धर्म-शास्त्र और अर्थशास्त्र में वर्णित हो, शिष्टाचार के ऊपर अवलम्बित हो और छल से रहित हो[2]। इन्होंने राजा के लिये शास्त्र और वर्णों के धर्म को जानना आवश्यक बतलाया है[3]। इन्होंने सम्पत्ति के विक्रय के समय उसे दस्तावेज के रूप में लिख लेने पर बड़ा जोर दिया है और लिखा है कि बहुत समय बीत जाने पर भी जिसके पास लिखित प्रमाण है उसीका धन माना जाय[4]। इन्होंने दान, धन का उत्तराधिकार तथा धर्म में स्त्री को

१—स्वधनस्य यथाप्राप्तिः परधर्मस्य वर्जनम्॥
न्यायेन यत्र क्रियते, व्यवहारः स उच्यते॥ स्मृ० च०

२—धर्मशास्त्रार्थशास्त्रोक्तः शिष्टाचाराविलक्षणः।
छलेन च व्यपेतो यः व्यवहारः स धार्मिकः॥ "

३—शास्त्राणि सर्वधर्मांस्तु प्रकृतीनाञ्च भूपतिः
व्यवहारस्वरूपं च ज्ञात्वा तत्सर्वमाचरेत्॥ "

४—सुदीर्घेणापि कालेन लिखितः सिद्धिमाप्नुयात्।
लब्धं यस्य भवेद्धस्ते भोगं तस्य विनिर्दिशेत्॥ अपरार्क।

सदा परतन्त्र बतलाया है तथा कुलटा विधवा के लिए केवल उसके भोजन की व्यवस्था का विधान बतलाया है[१]। यदि स्त्री व्यभिचारिणी हो तो उसे इनके मत से छोड़ना ठीक नहीं। उसके भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध कर देना चाहिए[२]।

इन सब उद्धरणों से प्रमाणित होता है कि हारीत ४००–७०० ई० के बीच हुए होंगे।

जिन स्मृतिकारों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है इनके अतिरिक्त और भी स्मृतिलेखक हुए हैं जिनमें प्राचेतस्, प्रजापति, मरीचि, यम, लौगाक्षि, विश्वामित्र, व्यास और संवर्त आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनके विषय में कठिनाई यह है कि इनका ठीक-ठीक समय निरूपण करना कठिन क्या असंभव सा है। इनमें से कुछ स्मृतिकारों के ग्रन्थों का केवल उद्धरण मात्र मिलता है उनकी स्मृति का पता नहीं है। इन कारणों से मैंने इनका उल्लेख न करना ही उचित समझा। संभवतः इन स्मृतिकारों का आविर्भाव काल हमारी निर्दिष्ट अवधि के भीतर आता भी नहीं।

स्मृतियों में अधिकतर पूर्वगामी धर्मग्रंथ अथवा स्मृति ग्रंथ में से उद्धरण मिलता है। उस स्मृतिकार की कुछ पंक्तियाँ भी अन्त में जोड़ दी जाती हैं, परन्तु सर्वथा नवीनता का अभाव सा दिखलाई पड़ता है। एक ही नाम से विभिन्न काल में ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। उस सम्बन्ध में देवल का नाम लिया जा सकता है। देवल नामक पूर्व स्मृतिकार ने अन्य धर्म ग्रंथों के सदृश आचार, व्यवहार, श्राद्ध, प्रायश्चित्त तथा अन्य विषयों पर विचार प्रकट किया है किन्तु पिछले देवल का नाम शुद्धि संस्कार के सम्बन्ध में लिया जाता है। इस्लाम मतानुयायियों के दबाव के कारण हिन्दू जनता मुसलमान होती जा रही थी। विधर्मी स्त्रियों का भी हरण करने लग गये थे और उनके सतीत्व पर धब्बा

१—दानार्थे वा धनार्थे वा धर्मार्थे वा विशेषतः।
आदाने वा विसर्गे वा न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति॥ स्मृ० च०
विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा।
आयुषः क्षपणार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा॥ मिताक्षरा या० २।१३५

२—भार्यायाः व्यभिचारिण्याः परित्यागो न विद्यते।
दद्यात् पिण्डं कुचेलं च अधः शय्यां च शाययेत्॥ स्मृ० च०

लग रहा था। उसी समय देवल ने शुद्धि आन्दोलन का श्रीगणेश किया था और नर नारी को शुद्ध कर हिन्दू धर्म में लाने का उपाय बतलाया था। इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर भी व्यक्ति चांद्रायण तथा साधारण प्रायश्चित्त से शुद्ध कर लिए जाते और अपने वर्ग में लेलिये जाते रहे। स्मृतिकारों के नाम समता के कारण काल निर्णय करने में कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। निर्दिष्ट काल में स्मृतियों से अधिक निबन्ध लिखे गये थे जिनकी चर्चा की जा चुकी है। इस तरह धार्मिक साहित्य की श्रीवृद्धि इस युग में अधिक हुई।

शिक्षा की व्यवस्था

साहित्य की वृद्धि के साथ पूर्व-मध्य-काल में शिक्षा देने की समुचित व्यवस्था की गयी थी तथा इस युग में विशेष ढंग से शिक्षा कार्य का संगठन किया गया था। यह तो ऐतिहासिकों से छिपा नहीं है कि बौद्ध धर्म के अभ्युदय से शिक्षाक्रम में पर्याप्त परिवर्तन होता गया। ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने गुरुकुल की प्रधानता दी थी। विद्यार्थी एक निश्चित समय तक वहाँ रहकर विद्योपार्जन करता था। परन्तु बौद्धप्रणाली में मठ या विहार विद्या के केन्द्र हो गये। उपासक या नये भिक्षु को मठ में शिक्षा दी जाती रही। इस कारण क्रमशः शिक्षा केन्द्र एक संस्था के रूप में आ गये। मन्दिरों में शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की गयीं, जहाँ वैदिक ढंग से शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध के शिक्षा केन्द्र विशाल शिक्षा केन्द्र में परिणत हो गये। इस परिवर्तन का एक और कारण था। पुराने ढंग से अध्यापन कार्य में शिक्षाक्रम के कारण परिवर्तन हुए। इस युग में कण्ठगता विद्या से काम न चल सका और प्रत्येक शाखा में विशेषता लाना आवश्यक हो गया। हर एक मत के लोग विरोधी सम्प्रदाय के मत का खण्डन करने में गर्व का अनुभव करने लगे थे। बौद्ध भिक्षु के लिए त्रिपिटक के सिवाय ब्राह्मण ग्रंथों का पढ़ना आवश्यक था ताकि वह शास्त्रार्थ में विजयी हो सके। इन सब कारणों से शास्त्रों की प्रत्येक शाखा में विशेषता पैदा करना जरूरी हो गया।

वेद, वेदांग का अध्यापन तो पहले से होता ही रहा। बौद्ध त्रिपिटक तथा जैन आगमों का पठन-पाठन भी आरम्भ हो गया। तर्क को विशेष स्थान दिया गया, यही कारण है कि बौद्ध तथा जैन तर्कशास्त्रों (Logic) की रचना इसी युग में हुई थी। इस युग की एक विशेषता है कि इन शास्त्रों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि सांसारिक विषयों पर लोगों का

ध्यान गया और उनको जानने की उत्कंठा लोगों में हो गयी थी। पूर्वमध्य काल में प्रत्येक सम्प्रदाय वालों ने संस्कृत को ही अपनाया। सारी पुस्तकें इसी भाषा में लिखी गयीं। प्राकृत का नाम जाता रहा तथा पठन-पाठन का माध्यम संस्कृत ही था। इस युग में अनेक कवि तथा लेखक हुए जिनको शासकों ने आश्रय दिया और सैकड़ों ग्रंथों की रचना हुई।

प्राइमरी शिक्षा

बालकों की जो शिक्षा उपनयन के बाद आरम्भ की जाती थी वह अब अक्षरारम्भ संस्कार के बाद ही आरम्भ होने लगी। उपनयन की क्रिया गौड़ हो गयी। उससे शिक्षा के लिये जो उत्साह मिलता था वह भी जाता रहा। क्षत्रिय तथा वैश्यों में उपनयन बन्द सा हो गया। क्षत्रिय शासन में अधिक भाग लेने लगे और वैश्य बालक व्यापार में संलग्न हो गये। उनके लिये विशेष प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध था। प्राइमरी शिक्षा सब के लिये एक सी न रही। संस्कृत के स्थान पर बोल चाल की भाषा पुरानी हिन्दी आ गई। लिखना, पढ़ना तथा अंकगणित ही प्रधान विषय थे। संस्कृत में योग्यता पाने वालों के लिये अमरकोश तथा व्याकरण का पढ़ना नितान्त आवश्यक था। संस्कृत का प्रचलन बन्द हो जाने पर विद्यार्थियों के लिये हिन्दी का पढ़ना जरूरी हो गया। जनता की भाषा भी हिन्दी हो गई परन्तु संस्कृत को सर्वथा भुला नहीं दिया गया। पाठयक्रम में उसे स्थान मिल चुका था।

व्यावहारिक शिक्षा

इस युग की विशेषता यह थी कि उच्च शिक्षा के लिये अनेक महाविद्यालय खोले गए थे जहाँ पर दूर दूर से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आया करते थे। उन महाविद्यालयों का संक्षिप्त विवरण अगले पृष्ठों में दिया जायगा जिसमें अतिरिक्त विशिष्ट विषयों का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। आयुर्वेद की शिक्षा अध्यापकों द्वारा दी जाती थी जो विद्यार्थियों को विभिन्न शाखाओं में पूर्णता प्राप्त करने का अभ्यास कराते थे। भारतवर्ष तो पुराने समय से ही आयुर्वेद की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था। चरक का नाम सर्व प्रसिद्ध है। इस युग में मुसलमानों के सम्पर्क से खलीफा द्वारा भारतीय चिकित्सक अरब में निमंत्रित किये गए थे, जो वहाँ औषधालयों का निरीक्षण करते रहे। आयुर्वेद में चिकित्सा के अतिरिक्त चीर-फाड़ की भी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। इस विद्या की ख्याति इतनी अधिक हो

गयी थी कि खलीफा हारून ने बीस चिकित्सकों को बगदाद में बुला कर पुस्तकों का अरबी अनुवाद कराया था। चिकित्सा शास्त्र में बराबर उन्नति होती गयी और वैद्यों ने पारा, अफीम तथा रस का औषधियों में प्रयोग किया। उनका समाज में समुचित आदर था; यहाँ तक कि पूर्वमध्ययुग के लेखों में वैद्य (चिकित्सक) को राजकर्मचारियों में उल्लिखित किया गया है। सभी लेखों में चिकित्सक शब्द मिलता है। उस समय के ग्रंथों में मनुष्य चिकित्सा के अतिरिक्त पशु चिकित्सा का भी नाम मिलता है। इससे आयुर्वेद की शिक्षा-क्रम का अनुमान कर सकते हैं। अन्य शिक्षाओं में सैनिक शिक्षा की भी गणना की जाती थी। राजकुमारों को सैनिक शिक्षा समुचित रूप में दिये जाने का प्रबन्ध था। ईसवी सन् की प्रथम सहस्र शताब्दियों में प्रत्येक गाँव में किसी न किसी रूप में शिक्षालय वर्तमान थे। यद्यपि वहाँ नियमित रूप से सैनिक शिक्षा संस्था न थी तथापि राज्य में सभी सैनिक कौशल में दीक्षित किए जाते थे। व्यायामशाला तथा शिक्षा के लिये विशाल मैदान का प्रबन्ध रहता, जहाँ सैनिक शिक्षा और राजकुमारों को विभिन्न शस्त्र-अस्त्र चलाने का काम सिखलाया जाता था। इस रूप से जनता तथा राजकुमारों को युद्ध कला में निपुणता प्राप्त करने का अवसर दिया जाता था जिससे देश की रक्षा होती रहे।

जो लोग प्राचीन भारतीय इतिहास से परिचित हैं उन्हें ज्ञात है कि समाज में पुरुष तथा स्त्री को एक समान शिक्षा का अवसर दिया जाता था। पूर्व-मध्ययुग में स्थिति बदल गयी। लड़कियों का विवाह कम उम्र में होने लगा। इस कारण विवाह में वेदमंत्रों का उच्चारण असम्भव हो गया। इसलिए कालान्तर में लड़कियों के लिये वेदाध्ययन मना कर दिया गया। वेदों का पढ़ना उनके लिये व्यर्थ ही न समझा गया पर हानिकारक माना गया। समाज में स्त्रियों का सम्मान गिरता गया और बड़े घरों के अतिरिक्त साधारण लड़कियों का पढ़ना लिखना समाप्तप्राय हो गया। केवल राजघराने तथा धनी व्यक्तियों के गृहों में साहित्य तथा हस्तकला की शिक्षा लड़कियों को दी जाती रही।

पूर्व-मध्य-कालीन शिक्षा क्रम में लिपि का विशेष परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इस युग से पूर्व लेखों में गुप्त अक्षरों का प्रयोग किया जाता था जिसे "सिद्धमातृका" का नाम दिया गया है। इसमें अक्षरों की बनावट कोण युक्त हो रही थी

लिपि

तथा सिरे पर एक छोटी रेखा आ गयी थी। ७वीं सदी के पश्चात् इसी से नागरी लिपि का विकास हुआ और आठवीं शताब्दी से सारे उत्तरी भारत के लेख नागराक्षर में उत्कीर्ण किए जाने लगे। इस लिपि का नाम नागरी या देवनागरी क्यों पड़ा, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु उसके नामकरण से प्रकट होता है कि यह लिपि नगर के लोगों द्वारा प्रयुक्त होती रही, अतएव नागरी नाम से विख्यात हो गयी। देवनागरी से उसके महत्त्व की सूचना मिलती है जिसका भाव है, देवताओं की नागरी। इस लिपि का प्रयोग प्रशस्तियों तथा साहित्य ग्रंथों के लिए होने लगा। ८वीं सदी के लेखों के अतिरिक्त हस्तलिखित प्रतियों में भी देवनागरी का प्रयोग मिलता है। प्राय: पुरानी हिन्दी की पुस्तकें इसी लिपि में मिली हैं। आज की लिपि उसी का सुन्दर स्वरूप है। पूर्वमध्ययुग के शिक्षा क्रम में यह एक विशेष घटना थी जिससे वर्तमान शिक्षा पद्धति में लिपि का प्रश्न गहरे रूप में सम्बन्धित है।

शिक्षा संस्थाएँ

यह तो सब को विदित है कि बौद्धमत के कारण शिक्षा की दिनोदिन उन्नति होती गयी। उपनिषद काल में वेदों का पठन-पाठन जंगलों में होता रहा, पर बौद्ध लोगों ने भिक्षु अथवा उपासक को मठ में ही शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। उच्च शिक्षा के लिये महाविद्यालयों की स्थापना की गयी, जो आधुनिक विश्वविद्यालय के समान माने जा सकते हैं। उन विद्यालयों में भारत क्या, बाहरी देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आते रहे। उन विद्यालयों में हजारों विद्यार्थी पढ़ा करते थे जिनके भोजन तथा वस्त्र का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। शिक्षा में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेने के कारण चीन, तिब्बत तथा दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह से विद्यार्थी गण नालंदा तथा विक्रमशीला महाविद्यालयों में आते रहे। ये विश्वविद्यालय एक कुलपति यानी भिक्षु के देख रेख में काम करते थे। वर्तमान उपकुलपति की तरह भिक्षु का चुनाव संघ द्वारा किया जाता था। जो भिक्षु, सादा, आदर्शवादी, विद्वान तथा कार्यकुशल होता था वही उस महाविद्यालय का मुख्य चुना जाता था। कहा जाता है कि दूर का भिक्षु भी योग्य होने पर विहार में प्रमुख स्थान पर रक्खा जाता था और विश्वविद्यालय का आचार्य चुना जाता। उसकी सहायता के लिये दो समितियाँ थीं। एक महाविद्यालय का शासन प्रबन्ध करती और दूसरी

शिक्षा सम्बन्धी मामलों का देख-रेख करती थी। यही समिति विद्यार्थियों के चुनाव, पाठ्यक्रम तथा विभिन्न अध्यापकों के कार्यों का निर्णय करती रही। पिछले समय में विक्रमशीला महाविद्यालय में परीक्षा लेने का कार्य भी इसी समिति को सपुर्द किया गया था तथा लाइब्रेरी का प्रबन्ध इसी शिक्षा समिति को सौंपा गया था। ओदंतपुरी का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

शासन या व्यावहारिक प्रबन्ध के लिये नियुक्त समिति को अर्थ (आय तथा व्यय) का प्रबन्ध करना पड़ता था। भवन निर्माण, वस्त्र, भोजन, औषधि तथा छात्रावास की देखरेख इस समिति के मुख्य कार्य थे। नालंदा विश्वविद्यालय में सहस्रों विद्यार्थियों का प्रबन्ध कोई साधारण काम नहीं था। राजा, धनी मानी व्यक्ति महाविद्यालय को आर्थिक सहायता दिया करते थे। यहाँ तक कि जावा के राजा बालपुत्रदेव ने नालंदा में एक विहार बनवाया और अपने मित्र बंगाल के पाल नरेश देवपाल से सारे प्रबन्ध के लिए पाँच ग्राम दान में दिलवाया था।[1]

नालंदा तथा विक्रमशीला दो महाविद्यालय इस युग में शिक्षा-प्रसार में लगे थे। नालंदा की तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी इसलिये भारत के बाहर से विद्यार्थी अथवा भिक्षु वहाँ आकर रहा करते थे। नालंदा में लड़कों की संख्या कई सहस्र बतलाई जाती है। वहाँ पर आठ अध्यापन के लिये विशाल कमरे और तीन सौ छोटे कमरे थे। कालेज के विशाल तथा भव्य भवन कई मंजिल के थे जिनके भग्नावशेष आज भी पुकार पुकार कर कह रहे हैं। पाल युग में विक्रमशीला विश्वविद्यालय भी ख्याति प्राप्त कर चुका था। वहाँ पर भी अध्यापन के लिये सुन्दर भवन बने थे। उस तरह का प्रबन्ध अन्य स्थानों पर भी था। मन्दिरों में भी अध्यापन कार्य किया जाता था। इस प्रकार इस युग में उच्च शिक्षा के बिस्तार में महा बिहार हाथ बँटाया करते थे।

---

१ एपि० इं०, भा० १७, पृ० ३१०

पाँचवाँ अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन समाज

भारतीय संस्कृति में इस युग का समाज एक विशेष स्थान रखता है। उसी संस्कृति के ऊपर वर्तमान हिन्दू समाज का संगठन हुआ है। हिन्दू समाज सर्वदा से वर्णव्यवस्था की सुदृढ़ नीव पर खड़ा है किन्तु समय की गति के साथ सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। जो सामाजिक नियम-उपनियम पूर्वमध्यकाल में तैयार किए गए थे उसी के बल पर आधुनिक हिन्दू समाज का निर्माण किया गया है। तत्कालीन साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि हिन्दू समाज तथा धर्म के मूल स्रोत स्मृति ग्रंथों की रचना इसी काल में हुई थी। उन्हीं के अध्ययन से वर्तमान हिन्दू समाज की रूपरेखा समझ में आ जाती है। स्मृति ग्रंथों के अवलोकन से इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जाती है। जो निबन्ध लिखे गए उनमें समाज की स्थिति पूर्ण रूप से बतलायी गयी है। वहां जातियों में अनेक उप-जातियों की उत्पत्ति तथा प्रत्येक की सीमा का दिग्दर्शन कराया गया है। पूर्वमध्य युग के उत्कीर्ण लेखों में भी साहित्यिक उल्लेखों का साक्षात् उदाहरण उपस्थित किया गया है। इस तरह वर्णाश्रम धर्म की गति का एक चित्र हमें मिलता है। इतिहास के जानने वालों से यह बात छिपी नहीं है कि हर्ष के मृत्यु पश्चात् सातवीं सदी से भारत पर मुसलमानों का आक्रमण होने लगा था। परन्तु हिन्दू समाज पर उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ न सका। उस युग में समाज का संगठन दृढ़ होता गया और सीमित क्षेत्र में लोग रहने लगे। मुसलमानों के कारण समाज में संकीर्णता तथा जटिलता आती गयी। आधुनिक हिन्दू समाज पूर्व मध्यकालीन समाज का प्रतीक माना जा सकता है।

स्मृतिकारों ने वर्णव्यवस्था को वैज्ञानिक सिद्धान्त पर चार अंगों में विभाजित किया है। पूर्ण विकसित समाज में चार वर्णों की कल्पना की गयी है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। पूर्वमध्य युग में वर्गों की वह आदर्श

स्थिति नहीं पायी जाती । अरब लेखकों ने तो सात जातियों का वर्णन किया है जो सर्वथा हमारे वर्ण से भिन्न हैं। पूर्वमध्य युग के लेखों में राजाओं को वर्णाश्रम व्यवस्था का पृष्ठपोषक अथवा वर्णाश्रम धर्मपालक कहा गया है, यानी तत्कालीन राजाओं का ध्यान इस ओर था। यद्यपि हर्ष के बाद पाल युग तक बौद्धधर्म का प्रचार बना रहा, पर इसका प्रभाव हिन्दू समाज पर नहीं के बराबर था। जाति-भेद न मानने पर भी पाल नरेशों के शासनकाल में वर्णव्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रही। पाल लेखों में धर्मपाल तथा विग्रहपाल राजा जाति व्यवस्था के सुरक्षित करने वाले शासक कहे गये हैं। उड़ीसा प्रांत का राजा क्षेमांकरदेव "वर्णाश्रम परमोपासक" पदवी से विभूषित किया गया है। आश्चर्य तो यह है उत्तरी भारत में जहाँ बौद्ध धर्मानुयायी अधिक संख्या में बसते रहे, वहीं वर्णव्यवस्था अक्षुण्ण रूप से बनी रही। जहाँ वैष्णव या शैवमत का प्रचार था, वहां वर्ण विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था। प्रतिहार, परमार तथा चन्देल प्रशस्तियों में वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता; इससे प्रकट होता है कि दसवीं सदी तक उत्तरी भारत में हिन्दू समाज चार वर्णों में विभक्त था जिसकी स्थिति प्राचीन वर्णव्यवस्था से अभिन्न थी। दसवीं सदी के बाद इस व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। किसी को मूल सिद्धान्त मानने में आपत्ति नहीं थी परन्तु कार्यरूप में भेद उत्पन्न हो गया था। कितनी नई उपजातियाँ समाज में उत्पन्न हो गयीं। इस तरह समाज का रूप पूर्वमध्य युग में परिवर्तित हो गया।

उपजातियों की उत्पत्ति के कई कारण माने गये हैं। सब से पहला कारण जीविका सम्बन्धी है जिसके विभिन्न ढंगों ने जाति को उपजाति में विभाजित कर दिया। पैतृक कला को बालक सीखने लगे और भविष्य में उसी नाम से पुकारे गये। लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई, चर्म का काम करने वाला चर्मकार तथा लोहा से सामान तैयार करने वाला लोहकार विख्यात हुए। विवाह के कारण भी उपजातियाँ हो गयीं। अनुलोम तथा प्रतिलोम से कई वर्ण उत्पन्न हो गए। धर्म ने भी इस कार्य में हाथ बटाया था। भिक्षु मठाधीश संत हो गए और विहार की सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। शूद्र वर्ण भी सत-असत भाग में विभाजित होने के कारण अन्त्यज पंचम वर्ण के नाम से प्रसिद्ध हुए। ब्राह्मणों में संकीर्णता आ जाने पर गोत्र

तथा प्रवर के अनुसार उपजातियाँ हो गयीं। इस तरह पूर्वमध्य युग में अनेक उपजातियाँ पैदा हो गयीं जो आज भी हिन्दू समाज में वर्तमान हैं।

वर्णाश्रम धर्म में ब्राह्मण को सर्वप्रथम स्थान दिया गया था। मध्ययुग से पूर्व ब्राह्मण समाज में अग्रणी माना जाता था। परन्तु पूर्वमध्य काल में उनकी प्रधानता जाती रही। ब्राह्मणों में गोत्र, शाखा तथा प्रवर को लेकर उपजातियाँ बनने लगीं। एक वैदिक शाखा का ब्राह्मण दूसरी शाखा के ब्राह्मण से अपने को भिन्न समझने लगा। इस तरह की शाखा, गोत्र तथा प्रवर आदि का वर्णन तत्कालीन लेखों में भरा पड़ा है। स्थानान्तरित होने के कारण भी उनमें पृथकता आ गयी। इन सब कारणों से ब्राह्मण पंच गौड़ में विभाजित हो गए। अधुना पंचगौड़ से उत्तरी भारत के ब्राह्मणों का बोध होता है। इसके अन्तर्गत सरयूपारी, कान्यकुब्ज, सारस्वत, गौड़ तथा शाकद्वीपी कहे जाते हैं। गहड़वाल गोविन्दचन्द्र के लेख में सरूवार का नाम आता है। गोरखपुर जिले में सरयू नदी के किनारे रहने वाले ब्राह्मण सरयूपारी कहे गए हैं। उसी के एक लेख में ठक्कूर को काश्यपगोत्री सरयूपारी ब्राह्मण कहा गया है। सरस्वती नदी के किनारे बसने वाले सारस्वत कहलाए जिनका उल्लेख बल्लालसेन के दानसागर में आया है। सेन राजाओं ने बंगाल में कुलीन प्रथा का प्रचलन किया था। लक्ष्मणसेन के युग में इसमें कुछ दुर्व्यवस्था हो गयी थी। स्यात् पश्चिम से पूरब जाने पर भेद हो गया हो। इसका एक कारण और भी था कि पाल नरेश अब्राह्मण थे और उनके बाद सेन राजा ब्राह्मणों का उत्थान करना चाहते रहे। इसी कारण कुलीन प्रथा का श्रीगणेश हुआ था। बंगाल में सारस्वत के बसने के बाद कन्नौज के ब्राह्मण गौड़ देश में निवास करने के कारण गौड़ कहलाने लगे, जिससे कान्यकुब्जों से भिन्नता आ जाय। शाकद्वीपी ब्राह्मण शकद्वीप के निवासी माने जाते हैं। इनका सूर्यपूजा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। आज भी तांत्रिक पूजा में विशेष रूप से पटु समझे जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि बंगाल की ओर भी ये शशांक के निमंत्रण पर गए थे जहाँ तांत्रिक पूजा में लगे रहते थे। गोविन्दपुर के लेख से प्रकट होता है कि १२वीं सदी तक सिन्ध से शाकद्वीपी ब्राह्मण बंगाल (वर्तमान विहार) प्रांत में चले आए थे (ए० इ० २,३३०) पंचगौड़ों में कान्यकुब्ज ब्राह्मण भी प्रथम स्थान देते हैं। ऐतिहासिक विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि हर्ष के बाद से कई शताब्दियों तक कन्नौज उत्तर भारत का (पाटलिपुत्र की

तरह) प्रधान नगर बन गया था। अतएव स्थान के महत्त्व के कारण कन्नौज से ब्राह्मण अन्यत्र जाते तो गर्व से अपने को कान्यकुब्ज कहने लगे। इस तरह शनैः शनैः अन्य लोग भी उन्हें कान्यकुब्ज पुकारने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि पंचगौड़ों में ब्राह्मण स्थान विशेष के कारण विशिष्ट नाम से विख्यात हुए। स्थान के साथ ब्राह्मण शब्द जोड़ने पर विभेद स्पष्ट हो जाता था। उदाहरण के लिए बंगाल में जो अध्यापक (उपाध्याय) मुख्ती नामक ग्राम के निवासी थे उन्हें मुख्ती से मुखोपाध्याय पदवी दी गयी (बंगाल का इतिहास, भाग १, पृ० ६२९) गहड़वाल व चंदेल लेखों में उल्लिखित ठक्कुर के साथ राउत नामक ब्राह्मण विशेष रूप से वर्णित हैं (ए० इ० १४, पृ० २७४)

लेखों में ब्राह्मणों के अनेक उपनाम मिलते हैं जिनके कारण ब्राह्मणों में पृथक् पृथक् समूह बन गए थे। दानपत्रों में गोत्र और प्रवर के नाम आते हैं। देवपाल के मान्धाता ताम्रपत्र में पाण्डेय, दीक्षित, पाठक, शुक्ल, उपाध्याय, अग्निहोत्री, चतुर्वेदी आदि के नाम आते हैं। जयचन्द्र के १२वीं सदी के एक लेख में द्विवेदी, त्रिवेदी के उपनाम मिलते हैं जो सम्भवतः वेदों के पठन-पाठन से प्रचलित हो गया था। ये सभी समूह परिस्थितियों-वश आपस में ही भोजन या वैवाहिक सम्बन्ध करने लगे थे जो कालान्तर में एक पृथक्-रूप धारण कर लिया। पूर्वमध्ययुग में दानपत्रों में ब्राह्मणों के गोत्र तथा प्रवर के नाम भरे पड़े हैं। राजा या दानकर्त्ता विभिन्न समूह के ब्राह्मणों को भूमिदान करता था अन्यथा इतनी लम्बी सूची की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। निष्कर्ष यह निकलता है कि रूढ़िगत विचारों के आने पर गोत्र के कारण भी ब्राह्मणों में पृथक् समूह बन गया, जो आज भी वर्तमान है। अमुक गोत्र की कन्या का विवाह विशिष्ट गोत्र में ही हो सकता था इत्यादि बातों ने घर बना लिया। अतः गोत्र भी भिन्नता के भावों का एक कारण था।

ब्राह्मणों की उपजातियाँ षटकर्म में सीमित न रहीं पर दूसरे जातियों की जीविका को भी अपनाया था। यज्ञ के साथ ब्राह्मणों ने चर्या (मूर्तिपूजा) को अपनाया और मन्दिरों में पुजारी का काम करने लगे। भक्ति के प्रचार से पूर्वमध्य युग में मन्दिरों का निर्माण अधिक संख्या में होने लगा था, तथा ब्राह्मणों ने पुरोहित से पुजारी का काम अधिक पसन्द किया। वही अवस्था आज तक

चली आ रही है। इस युग में ब्राह्मणों के महासामंत होने का भी प्रमाण मिलता है। पालवंशी नरेशों के शासन में ब्राह्मण सेनापति का काम करने लगे थे। ह्वेनसांग के कथनानुसार समतट का राजा ब्राह्मण था। काबुल में ब्राह्मण शाही का पता सिक्कों से लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शासन में ब्राह्मण भी क्षत्रियों की तरह भाग लेते रहे। खेती के कार्य करने का वर्णन विदेशी यात्रियों ने किया है। इस युग के अनेक दानपत्रों में खेत ब्राह्मणों को दान में देने का वर्णन मिलता है। उसमें स्पष्ट उल्लिखित है कि इतनी भूमि (हल माप माना गया है) जोती जायगी। इस से प्रकट होता है कि ब्राह्मण खेती करने लग गए थे। कई लेखों में लिखा है कि चुंगी वसूल करने का कार्य अमुक ब्राह्मण को दिया गया था। इन सब बातों का निष्कर्ष यह नहीं है कि अधिकतर ब्राह्मण अध्ययन से विमुख हो गए थे। तत्कालीन दानपत्रों में वेदों के शाखाओं के नाम आते हैं जिससे प्रकट होता है कि अमुक ब्राह्मण अमुक शाखा का अध्ययन या अध्यापन करता था। एक स्थान पर ब्राह्मण द्वारा सामवेद, मीमांसा तथा तर्कशास्त्र के अध्यापन का विवरण मिलता है (ए० इ० १५, पृ० २९८) इस प्रकार अनेक उपजातियां हो जाने पर षटकर्म के अतिरिक्त ब्राह्मणों की अन्य जीविका के साधन ढूढ़ना स्वाभाविक था।

ब्राह्मणों के पश्चात् क्षत्रियों को समाज में स्थान दिया गया है। स्मृतिकारों ने यद्यपि इस वर्ग के लिए क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया है किन्तु लेखों में इन्हें राजपूत शब्द से वर्णित किया गया है (ए० इ० १४, पृ० १५९) गुर्जर प्रतिहार, चन्देल तथा गहड़वाल लेख क्षत्रिय वंश से ही इनकी उत्पत्ति बतलाते हैं। राजपूत उन्हीं प्राचीन क्षत्रियों के उत्तराधिकारी थे। स्थान विशेष में निवास करने के कारण उस देश का नाम राजपुताना पड़ा। इस पूर्वमध्यकाल में क्षत्रियों की प्रधानता हो गयी। उनमें कुछ तो ब्राह्मणों से भी अधिक विद्वान् थे। परमार राजा भोज तथा गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्रदेव बड़े प्रसिद्ध पंडित हो गए हैं। विद्वानों के आश्रयदाता की सूची में तो अनेक क्षत्रिय राजा रक्खे जा सकते हैं। इस तरह इस युग में समाज के नेता होने का भार ब्राह्मणों के कंधों से हट गया था। राजपूतों की मान्यता ब्राह्मणों के सदृश होने लगी थी। शासक होने के अतिरिक्त क्षत्रिय कृषिकार्य भी करते थे। पराशर ने भी ब्राह्मण और क्षत्रिय के

कृषक होने की बात लिखी है। इस प्रकार क्षत्रिय का एक समूह कृषि कार्य करता और ऊँचे प्रतिष्ठित वर्ग शासन के कार्य में लगा रहता था। एक १२वीं सदी के लेख में दानग्राही क्षत्रिय सामंत का उल्लेख मिलता है। चन्देल लेख में वर्णन आता है कि एक सामंत के पिता म्लेच्छों से युद्ध में मारा गया था, इसलिये क्षत्रिय होते हुए भी उसे दान देना उचित समझा गया (ए० इ० भा० १६, पृ० २७४) इसमें वह राउत्त कहा गया है। सम्भवतः राउत्त उन लोगों को कहा जाता था जो राज्य से हटा दिए गए थे। वही जाति बुंदेल खण्ड तथा उत्तर प्रदेश में निवास करती थी। इस तरह की ३६ क्षत्रिय उपजातियों का नाम मिलते हैं।

वैश्यों के विषय में विशेष कहना सम्भव नहीं। अहिंसा के पालन करने वाले लोग खेती तथा पशुपालन से विमुख हो गए। व्यापार में इन्होंने असीमित उन्नति की। पूर्वमध्यकालीन लेखों में व्यापारिक संस्था-श्रेणी तथा उसके कार्य का वर्णन मिलता है। धीरे धीरे शासनकार्य में भी श्रेणी भाग लेता था, इस कारण समाज में वैश्यों का आदर बढ़ता गया। द्विज में इनको स्थान पहले से ही मिल चुका था।

हिन्दू वर्ण व्यवस्था में कायस्थ का नाम प्राचीन समय में नहीं मिलता, जो इस युग में विशिष्ट जाति के रूप में वर्तमान थे। काणे के मतानुसार छठी सदी से पूर्व धर्मशास्त्रों में कायस्थ का नाम नहीं आता परन्तु पिछली स्मृतियों में इनका नाम मिलता है (धर्मशास्त्र का इतिहास, भा० २, पृष्ठ ७५)। उशनसं तथा वेदव्यास स्मृति में (१, १०—११) कायस्थ के जाति के रूप में उल्लिखित किया गया है। लेखों में लेखक के पद पर कार्य करनेवाला व्यक्ति कायस्थ कहलाता था (इ० हि० क्वा० ६, ५५) उसके अतिरिक्त गुणैधर ताम्रपत्र से पता चलता है कि सैनिक मंत्री लोकनाथ कायस्थ कहा गया था। किन्तु साहित्य, धर्मग्रंथ (मिताक्षरा में) तथा लेखों में लेखक के काम करनेवाले को कायस्थ कहते थे जो शनैः शनैः समूह और तत्पश्चात् जाति के रूप में आ गया। ८वीं सदी तक कायस्थ कर्मचारी के लिए प्रयुक्त होता रहा। बाद में १२वीं शताब्दी तक कायस्थ एक जाति के रूप में समाज में आ गये थे। इनका द्विज से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, इसी कारण वेदव्यास ने कायस्थ की गणना शूद्रों में की है।

वणिक किरात् कायस्थ मालाकार कुटुम्बिनः
एते चान्ये च बहवः शूद्रा भिन्ना स्वकर्मभिः ।
(वेदव्यास स्मृति १, १०)

कायस्थ को एक स्वतंत्र जाति मानना ही युक्तिसंगत होगा। विभिन्न स्थानों में निवास करने के कारण उसमें उपजातियाँ पैदा हो गयीं। गौड़ (बंगाल) के निवासी गौड़ कहलाए, तो मथुरा से स्थानान्तरित होने पर माथुर नाम से प्रसिद्ध हुए। वास्तु से उत्पत्ति के कारण श्रीवास्तव कहलाए। अनुलोम विवाह के कारण उत्पन्न अमवष्ट कहलाए। इस तरह पूर्वमध्य युग के अन्त तक कायस्थ जाति की अनेक उपजातियाँ हो गयी थीं।

प्राचीन वर्णव्यवस्था में शूद्र चौथी जाति मानी जाती रही जिनका सेवा करना ही मुख्य कार्य था। पिछली स्मृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि विवाह के कारण तथा कर्मानुसार समाज में शूद्रों की कई उपजातियाँ हो गयी थीं।

वर्धकी नापितो गोप आशाभः कुम्भकारकः
एते चान्ये च बहवः शूद्रा भिन्ना स्वकर्मभिः
(वेदव्यास स्मृति १–१०)

परिस्थिति के अनुसार विभिन्न कार्य जीविका के साधन हो गए। कृषि को शूद्रों ने अपनाया। कुछ गन्दे कार्य के करने वाले अस्पृश्य कहलाए और उन अन्त्यजों को ग्राम के बाहर स्थान दिया गया। उन्हें पंचम वर्ण के नाम से भी पुकारते हैं। ब्राह्मण और वैश्य में अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान चाण्डाल कहलाए।

ब्राह्मण्यः शूद्र जनित चाण्डालो धर्मवर्जितः ।
(वेदव्यास १–१०)

मुसलमान लेखक अलबेरूनी ने भी उल्लेख किया है कि पंचम वर्ण गाँव के बाहर रहता था और उसमें डोम, चमार, नट, आदि का उल्लेख किया है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पंचम वर्ण की उपजातियाँ (अन्त्यज कर्म के अनुसार) अनेक नाम से सम्बोधित की जाती रहीं। चहमान लेख में भाट, बनजारा, अभोटी तथा भट्टारक के नाम मिलते हैं जिन्हें शूद्रों की उपजातियाँ मानते थे। भाट तो पूर्वमध्यकाल में शासकों की काव्यमय प्रशंसा करता था। बनजारा बैलों पर सामान ढोता था। मंदिर में शूद्र श्रेणी के नौकर

अभोटी कहलाते रहे। सुनार को जोधपुर लेख में शूद्र कहा गया है परन्तु वर्तमान काल में वह वैश्य समझे जाते हैं। सम्भवतः ऊँचे वर्ण के लोग आभूषण तैयार कराने के लिये सुनार से अधिक सम्पर्क में आए, जिस कारण अस्पृश्यता उनसे हटा ली गयी और वैश्य श्रेणी में रख दिए गए।

इसके अतिरिक्त लेखों में अनेक जंगली जातियों का उल्लेख पाया गया है जो राजाओं से भी लड़ते रहे। पुलिंद तस्कर आदि के नाम लिए जा सकते हैं। पहाड़पुर से जो मिट्टी की चौकोर वस्तुएँ मिली हैं उनमें शारीरिक बनावट तथा पहनावा जंगली जातियों के समान हैं।

सामाजिक संस्कार

पूर्वमध्यकाल में अनेक उपजातियों के कारण समाज में भी भिन्नता आने लगी थी। इस युग के दानपत्रों में संस्कारों के नाम यथास्थान आ जाते हैं। प्रशस्तियों में जातकर्म, नामकरण, उपनयन, विवाह तथा श्राद्ध के नाम आते हैं। नामकरण तथा श्राद्ध के समय भूमिदान में दी जाती थी। पितृ-पक्ष के आमावश्या को दान देने का अनेक स्थानों पर वर्णन आता है। लेखों में इसका नाम पर्वण श्राद्ध मिलता है। अतएव जन्म से मृत्यु पर्यन्त मुख्य संस्कारों का वर्णन लेखों में पाया जाता है।

समस्त संस्कारों में विवाह प्रधान माना गया है। स्मृतिग्रंथों में इस विषय पर अत्यधिक विचार किया गया है। पुराने समय में सपिण्ड कन्या से विवाह वर्जित था पर पूर्वमध्य युग में सगोत्र तथा सप्रवर में भी विवाह अमान्य हो गया जो आज भी समाज में प्रचलित है। सवर्ण विवाह में मत-भेद न होने के कारण इस काल में नाना प्रकार के विवाहों का उल्लेख लेखों में नहीं मिलता किन्तु अन्तर्जातीय विवाह का वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है। ब्राह्मण अन्य वर्ण की कन्या से अनुलोम विवाह करता रहा। एक प्रशस्ति में वर्णन आता है कि ब्राह्मण हरिश्चन्द्र ने ब्राह्मण कन्या के अतिरिक्त क्षत्रिय कन्या से भी विवाह किया था। (ए० इ० १८, पृ० ९५) पाल तथा सेन लेखों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। शूद्र कन्या से अनुलोम विवाह कलि वर्ज्य माना गया है (काणे—हिस्ट्री, भा० २, पृ० ४५१)

पूर्वमध्यकाल में बहुपत्नीव्रत के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो कन्याओं से विवाह की बात साधारण मालूम पड़ती है जिसका वर्णन लेखों में भरा पड़ा है। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र की चार पत्नियाँ थीं तथा

गांगेयदेव चेदि की सौ स्त्रियाँ थीं। उस सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि राजा सभी को लेकर प्रयाग गया वहाँ उसके मरने पर स्त्रियाँ सती हो गयीं।

अन्तर्जातीय विवाह के साथ भोजन का भी प्रश्न उठाया जा सकता है। ब्राह्मण अन्य जातियों का भोजन या जल नहीं ग्रहण करता था। जो लोग चाण्डाल का पानी पीते थे उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान स्मृति ग्रंथों में पाया जाता है। इस युग के लेखों में गोधूम, चावल तथा फल के नाम बार बार आते हैं। इसके साथ माँस मछली तथा शराब के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। अल्हण देवी के एक लेख में ब्राह्मण के माँस भक्षण का उल्लेख मिलता है। बंगाल में शाक्त मत के मानने तथा मंत्रयान के प्रचार के कारण मांस मछली खाने का रिवाज चला आ रहा है। चर्यापाद के अनुसार ९वीं सदी में शराब पीने की प्रथा वर्तमान थी और स्त्रियाँ शराब बेचा करती थीं। प्रतिहार बाउक के लेख में वर्णन आता है कि ब्राह्मण शराब पीने से विमुख हो गए थे किन्तु क्षत्रिय लोग सुरापान के लिए प्रसिद्ध थे। अरब के मुसलमान यात्रियों ने इसी का समर्थन किया है। यहाँ तक कि सियादोनी के लेख में दान के प्रसंग में शराब का उल्लेख किया गया है। यह कहना कठिन है कि किस वर्ण के लोग अधिक शराब पीते थे पर सर्वसाधारण के लिए शराब बाजार में बेची जाती थी। उसके बेचनेवालों पर कर लगाया जाता था। स्मृतिग्रंथों (शंखलिखित १७, ४३; वृद्ध हारीत ९, १७४) के अध्ययन से पता लगता है कि आचार की शिथिलता और बाहरी प्रभाव के कारण जनसाधारण में अपेय तथा अखाद्य वस्तुओं का प्रयोग होने लगा था। शंखलिखित ने इनके दोषों के निवारण के लिए व्रत करने का विधान किया है। सम्भवतः प्रायश्चित्त विधान के कारण समाज में माँस मदिरा का प्रयोग सरल हो गया था।

भोजन तथा वस्त्राभूषण

जहाँ तक पहनावा का प्रश्न है पूर्वमध्यकालीन मूर्तियों के देखने से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं तथा उनसे साहित्यिक उल्लेखों की पुष्टि होती है। पहनावा जाति के आचरण को बतलाता है। पुराने समय से ही भारत में धोती और चादर का प्रयोग किया जाता था। धोती को कमर में पट्टी से बाँध लेते थे और दाहिना कोना सामने लटका रहता था। स्त्रियों की साड़ियाँ घुटने तक पहुँच गयी थीं। उनके लिए चादर का प्रयोग कम हो गया था और चोली से ही वक्षस्थल को ढक लेती थीं। एलेफेन्टा की शिव प्रति-



शृंगार करती स्त्री-मूर्ति (११वीं सदी) [पृ० ३२४

माओं में, अजन्ता के चित्रों में तथा नालंदा के कांस्य या प्रस्तरमूर्तियों में चादर का सर्वथा अभाव दिखलाई पड़ता है। कलाकार प्राकृतिक ढंग से शारीरिक सुन्दरता को व्यक्त करना चाहते थे, इसलिये आवरण को हटाना आवश्यक समझा गया। एक दानपत्र में छत्र तथा उपानह का उल्लेख पाया जाता है जो दान में ब्राह्मण को मिला था। पूर्वमध्यकालीन मूर्तियों में छत्र को कम स्थान नहीं दिया गया था जो प्रशस्ति के उल्लेखों को पुष्ट करता है। उत्तरीय के स्थान पर कलाकारों ने आभूषणों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। देवप्रतिमा के मुकुट में नाना प्रकार के मूल्यवान प्रस्तर लगाए गए हैं। कर्ण फूल, हार, भुजदण्ड, करधनी, कंगन आदि गहने काम में लाए जाते थे जिनकी स्थिति तत्कालीन मूर्तियों में पायी जाती है। पूर्वमध्य युग में आभूषण के कारण प्रतिमाओं के चादर का अभाव नहीं खटकता किन्तु वे शरीर को विभूषित करते हैं और नंगेपन को परखने नहीं देते। इसके अतिरिक्त शृंगार की बातें मूर्तियों से उपलब्ध होती हैं। स्त्रियों के शृंगारप्रियता को कलाकारों ने सजीव कर दिया है अजन्ता तथा बाघ की चित्रों में स्त्रियों के शृंगारमय आकृतियों का अवलोकन किया जा सकता है। ११वीं सदी में निर्मित भुवनेश्वर की एक स्त्री प्रतिमा इस सम्बन्ध में अद्वितीय मानी जाती है। वहाँ की मूर्तियाँ सौन्दर्य कला का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करती हैं। दर्पण में देखते हुए शृंगार में रत युवती की प्रतिमा अत्यन्त रमणीय है। स्त्रियों द्वारा कुमकुम लगाने की बात खजुराहो के लेख में भी उल्लिखित मिलती है।

सती तथा जौहर

स्मृतिग्रंथों में पति के साथ पत्नी के सहगमन की चर्चा मिलती है जिसे सहमरण भी कहते हैं। पूर्व लेखों में स्त्रियों के सती होने की बात स्थान-स्थान पर मिलती है। चेदि लेख में ऐसा ही वर्णन मिलता है कि गांगेयदेव की सौ स्त्रियाँ सती हो गयी थीं। पूर्वमध्ययुग में सती की प्रथा के उल्लेख के साथ पति के मृत्यु के दुखद समाचार सुन कर जल जाने की बातें भी सुनने में आती हैं। इसे अनुमरण का नाम दिया गया है। तत्कालीन इतिहास में वर्णन मिलता है कि मुसलमानों के द्वारा पराजित होने पर राजपूत रमणियाँ जल जाती थीं इसे जौहर का नाम दिया गया है। (ईश्वरी प्रसाद, मुसलमानों का इतिहास, पृ० ३२) जिसमें प्रतिष्ठा तथा पवित्रता की भावना निहित थी और राजपूत ललनाएँ सतीत्व की रक्षा करती रहीं। अन्य स्थानों के विवरण को ध्यान में

रख कर यह कहा जा सकता है कि मरने के तीन प्रकार थे। पहला जलकर मरना, पानी में डूब कर मरना तथा स्वाभाविक मृत्यु। राजपूत नारियों का जौहर तथा गांगेयदेव के साथ स्त्रियों के जल में डूब कर मरना इस युग की विशेष घटनाएँ हैं।

मेला तथा आमोद प्रमोद

समाज में उत्सव मनाने तथा मेला संगठित करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। धार्मिक अवसरों पर रथयात्रा का प्रबन्ध किया जाता था तथा समाज में विशिष्ट अवसरों पर संगीत तथा अभिनय से मनोरंजन किया करते थे। पूर्वमध्यकालीन एक लेख में दीपावली के अवसर पर अभिनय करने का वर्णन मिलता है। (दियोत्सव दिने अभिनव निष्पन्न प्रेक्षा मध्यमण्डपे) चहमान लेख के संगीत के आयोजन की चर्चा मिलती है। स्थान स्थान पर पशु मेला होता था। इनके अतिरिक्त शतरंग का खेल आमोद का साधन था। उसमें हाथी तथा रथ का नाम आजकल नहीं मिलता किन्तु उनके स्थान पर ऊँट तथा किश्ती से काम लेते हैं। चर्यापाद में ऐसा ही शतरंग (वर्तमान शतरंज) का विवरण मिलता है। शतरंग को छोड़कर लोग जुआ भी खेला करते थे जिसपर कर (टैक्स) लगाने की बात परमार चामुण्डराय की प्रशस्ति में उल्लिखित है। इतना ही नहीं लोग शारीरिक स्वस्थता के लिए पानी का खेल, नटकार्य तथा जमनास्टिक में भाग लेते थे। सरकार की ओर से एक पदाधिकारी नियुक्त रहता था जो समाज में व्यायाम सम्बन्धी कार्यों का देखभाल करता था। इस तरह का वर्णन अनेक लेखों में मिलता है।

अन्धविश्वास

पूर्वमध्ययुग में विभिन्न धार्मिक मतों के कारण हठयोग और मंत्र-तंत्र का खूब प्रचार हो गया था। शाक्तमत के कारण तांत्रिक कार्य बढ़ गये थे। मंत्र के सहारे सफलता की आशा की जाती थी। लेखों में तो यहां तक वर्णन मिलता है कि राजदरबार में फलित ज्योतिष की गणना के लिए एक विद्वान नियुक्त किया जाता था। उस समय अधिक कार्य मंत्र के सहारे किए जाते थे। तावीज पहनना, इष्टसिद्धि के लिए बलिदान, भूत डाकिनी पर विश्वास, दिक्पालों की पूजा विभिन्न रूप में होने लगी। तंत्रमंत्र के चमत्कार से स्त्रियाँ आकर्षित होती गयीं जो मठों में सिद्ध तथा भिक्षुओं के साथ अधिक रहने लगी। वह अन्धविश्वास का सिलसिला आज भी समाज में वैसा ही चल रहा है।

यद्यपि पूर्वमध्ययुग में उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल रही किन्तु समाज में व्यक्तियों के आर्थिक जीवन पर उतना गहरा प्रभाव न पड़ा। इस युग के लेखों से प्रकट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी कार्य में लगा था। ब्राह्मण वर्ग के लोग जीविका के लिए ही कृषिकार्य करने लगे थे और अनेक राजाओं ने उन्हें भूमि जोतने के लिए दान में दी थी। मेले तथा बाजारों का वर्णन मिलता है जहाँ क्रय-विक्रय से अन्तर-प्रांतीय सम्बन्ध बना रहा। दूसरे स्थान के व्यापारी भी कर दिया करते थे। कारखाने चलाने का भी वर्णन मिलता है। दानपत्रों की संख्या अनगिनत है जिनमें भूमिदान का वर्णन है तथा मन्दिरनिर्माण का उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रकट होता है कि लोगों की आर्थिक अवस्था गिरी न थी। हाँ, इस युग में भीख माँगने की प्रथा अधिक चल पड़ी थी। ब्रह्मचारी आचार्य के लिए भीख तो माँगता ही था, जैन तथा बौद्ध भिक्षुओं की संख्या अधिक बढ़ गयी थी जो गृहस्थों से भिक्षान्न लिया करते थे। सम्भवतः इसी समय से निन्दनीय भीख मांगने की कुप्रथा का आरम्भ हो गया। यही कारण है कि तत्कालीन लेखों में सत्र (भिक्षागृह या सदावर्त) का नाम मिलता है। भिक्षुओं का अनुसरण कर ब्राह्मण भी मठाधीश होने लगे और भीख माँगना जीविका का साधन बना लिया। यह भी सम्भव है कि युद्ध में अगणित लोगों के मर जाने से उनके आश्रित भिक्षा माँगकर ही जीवन निर्वाह करते हों। इस दैन्य दशा सुधारने का अवसर नहीं था, इसलिए ग्राम-ग्राम से भीख माँगने की राजाज्ञा घोषित कर दी गई थी। इस युग के लेखों में भिक्षागृह का वर्णन मिलता है। (ए० इ० भा० १३, पृ० २८५; भा० ६, पृ० स० २३) जहाँ पर भिक्षान्न के अतिरिक्त रहने का भी स्थान मिल जाता था।

व्यक्ति का आर्थिक जीवन

जहां तक समाज में चरित्र की बात है भारतवासियों का चरित्र सदा से ही उज्ज्वल तथा प्रशंसनीय रहा है। विदेशियों ने भी उसकी प्रशंसा ही की है। पूर्वमध्यकाल में मुसलमान यात्रियों ने भारतीय ईमानदारी तथा न्याय का वर्णन किया है और सत्य भाषण की विशेषता बतलाई है। अलइदरिसी का मत इस विषय में स्पष्ट है। विवेच्य युग में इस्लाम संस्कृति से सम्पर्क होने पर सामाजिक नियम परिवर्तित किए गए। यद्यपि बहुपत्नी

समाज में व्यक्ति का आचरण

मत तथा अनुलोम विवाह की प्रथाएँ प्रचलित हो गई थीं किन्तु कामवासना की दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाह करने पर वह व्यक्ति निन्दा का भागी होता था। कलाकारों ने भी रतिशास्त्र की बातों को प्रस्तर पर खोदना आरम्भ किया था पर वह तंत्रयान तथा शाक्त मत का प्रभाव था। देवदासी की प्रथा भी इसका एक कारण मानी जा सकती है। सर्वत्र ही तांत्रिक आचार ने घर बना लिया था जिस कारण से पाल युगी तथा उड़ीसा के मन्दिरों पर खुदी प्रस्तर प्रतिमाएं नंगी दिखलाई गई हैं। मांस मदिरा के प्रयोग ने लोगों का स्तर निम्न कर दिया था। भोजन का प्रभाव आचरण पर अवश्य ही पड़ता है। यही कारण था कि उच्च आदर्श तथा सदाचार का स्तर नीचा हो गया था। १२वीं सदी के देवपारा लेख में विजयसेन नामक सेननरेश ने ग्राम की ललनाओं के अबोधपन तथा नगर के जीवन से अनभिज्ञता का परिचय कराया है। इतना होते हुए भी भारतीय नौजवान वीरता के लिए राजपट्ट (तगमा) प्राप्त करते थे। उसके मरने पर राजा की ओर से परिवार के लोगों को मासिक वृत्ति मिलती थी जिसे लेखों में 'मृत्युवृत्ति' कहा गया है।

हिन्दू मुसलमान सम्पर्क

सातवीं सदी में अरबवालों ने सिन्ध को जीतकर मुल्तान तक अपना राज्य विस्तृत कर लिया था। कई शताब्दियों तक वे गुर्जर प्रतिहार राजाओं के डर से सिन्ध तथा मुल्तान में सीमित रहे। मुल्तान के प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर का प्रबन्ध मुसलमानों के हाथ में था और उपासकों द्वारा प्रदत्त धन उन्हीं के कोष में जाता था। जब कभी प्रतिहार राजा आक्रमण करना चाहते तो मुसलमान सूर्य मन्दिर को नष्ट कर देने का भय दिखाते रहे। धार्मिक भय के कारण हिन्दू नरेश पीछे चले आते थे। गुर्जर प्रतिहारों के बाद परिस्थिति बदल गयी। थोड़े ही दिनों में (१०वीं सदी के बाद) उत्तरी भारत पर मुसलमान फैल गए। हिन्दुओं में साहस तथा राजनीतिक संगठन की कमी हो गई जिससे उन्हें अवसर मिल गया। इस परिस्थिति में मुसलमानों का भारतवासियों के सम्पर्क में आना स्वाभाविक था। लेखों में मुसलमानों के लिये तीन शब्दों का प्रयोग मिलता है—तुरुष्क, म्लेच्छ तथा मुल्ला। स्मृतियों में विशेष कर म्लेच्छ मुसलमानों के लिये देवल या पराशर ने प्रयोग किया है। गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के लेख में तुरुष्क मुसलमानों के लिये प्रयुक्त किया गया है। (द्रष्टा तुरुक्ष, ए० इ० भा० ९, पृ० ३२४)

१२वीं सदी के दानपत्र में जयचन्द्र द्वारा उन व्यक्तियों को दान में भूमि देने का वर्णन आता है जिनके पिता म्लेच्छों द्वारा युद्ध में मारे गए थे। मुसलमान पूरब की ओर बढ़ते ही गए और बंगाल तक पहुँच गए। राजा लक्ष्मणसेन ने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को मुल्ला कह कर वर्णन किया है। भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना घटती गयी और देश पतन की ओर क्रमशः जाने लगा। हिन्दू राज्य की रक्षा के समय तुरुष्क दण्ड नामक कर भी लगाया जाता था। किन्तु हिन्दू हारते गए और पराजित होने पर लोग मुसलमान हो जाते थे।

इस युग की एक विशेषता यह है कि उस विकट तथा नई परिस्थिति में जनता को बचाने के लिए शुद्धि का विचार सामने रक्खा गया। देवल ने इस्लाम मत में दीक्षित हो जानेवाले व्यक्ति को भी शुद्ध करके हिन्दू धर्म में वापस लेने का विधान उपस्थित किया। देवल ने यहाँ तक कहा कि बलात्कार किए जाने पर भी चान्द्रायणव्रत से शुद्धि हो जाती है। वृहत् यम इसी के समर्थक हैं। उनका कथन है कि म्लेच्छों द्वारा गुलाम बना लेने पर यदि हिन्दू गो-हत्या भी करे तो भी प्रायश्चित्त करा कर ब्राह्मण धर्म में ले लेना चाहिए। स्मृतियों के कथन की पुष्टि मुसलमान लेखक अल बिदौरी के वर्णन से होती है कि ९वीं सदी में विभिन्न प्रान्तों से मुसलमानों को बलपूर्वक हट जाना पड़ा और बहुत से मूर्तिपूजक हो गए। तात्पर्य यह है कि अधिक संख्या में मुसलमान शुद्ध किए गए। नवास शाह ने भी पुरोहित के सलाह से इस्लाम मत को छोड़ दिया (इलियट-हिस्ट्री आफ इंडिया, भा० २, पृ० ३२)। कालान्तर में ब्राह्मण वर्ग इसका विरोधी हो गया। ११वीं सदी के समीप अन्तर्जातीय विवाह और भोजन का अन्त हो रहा था, इस कारण शुद्ध किए व्यक्तियों के सामाजिक स्थिति का प्रश्न खड़ा हो गया। फलस्वरूप शुद्धि को प्रोत्साहन न मिल पाया और यह कार्य क्रमशः बन्द हो गया।

छठाँ अध्याय

पूर्वमध्यकालीन धार्मिक अवस्था

भारत के धार्मिक इतिहास में पूर्वमध्य युग अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह प्राचीन तथा मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्तियों का संगम काल है जिसमें हम प्राचीन भारत में उद्भावित धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचुर विकास पाते हैं। इसी में अर्वाचीन काल की विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों का बीज भी हमें मिलता है। वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मों की अभ्युन्नति इस युग से पहले हो चुकी थी परन्तु उनके सिद्धान्तों को नवीन दिशा में विस्तार प्रदान करने वाले आचार्यों की कमी न थी। इसलिए उनके तात्विक अनुसंधानों के कारण नवीन सिद्धान्तों का समावेश होता गया। उन मतों के नये रूप जनता के सामने आते गए और उनके पारस्परिक प्रभाव तथा आदान-प्रदान के कारण धर्मों में परिवर्तन होता गया। यह काल धर्म के बहुमुखी विस्तार तथा प्रसार का स्वर्ण युग है।

ब्राह्मण धर्म

इस काल के पूर्व गुप्त युग की समाप्ति हो चुकी थी। परमभागवत गुप्त-सम्राटों की छत्रछाया में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा था। पुराणों के नवीन संस्करण तथा अनेक स्मृतियों की रचना इस काल में हो चुकी थी। वैदिक धर्म की जागृति के लिए अनेक नरेशों ने यज्ञ किए जिससे देश के कोने कोने में वैदिक धर्म की लहरें फैल गईं। वही परिपाटी इस पूर्वमध्य युग में भी चलती रही। समाज में ब्राह्मण वेद तथा वेदांग का पठन-पाठन करते रहे। विभिन्न वैदिक शाखाओं का अध्ययन होता रहा, इसी कारण तत्कालीन लेखों में वैदिक शाखाओं के पढ़ने वाले ब्राह्मणों के नाम मिलते हैं और उनको दान देने का उल्लेख भी पाया जाता है। पूर्वमध्यकालीन लेखों में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वेदाध्ययन का कितना महत्व था। वेदों के अध्ययन के कारण ही त्रिवेदी तथा चतुर्वेदी की उपाधियाँ ब्राह्मणों को दी गयीं जो आगे चलकर उपजातियाँ बन गईं। साहित्य तथा पुरातत्व

विषयक सामग्रियों के आधार पर यह बतलाया जायेगा कि वैदिक संस्कृति नये ब्राह्मण धर्म में समाविष्ट हो गई जिसका आरम्भ गुप्त काल (ई० स० चौथी शताब्दी से छठी ताब्दी) में हो गया था । मध्यदेश वैदिक सभ्यता का प्रमुख केन्द्र था। वहीं से ब्राह्मणों ने जाकर बंगाल में वैदिक-धर्म को फैलाया था। यह प्रवाह ७वीं सदी से १२वीं सदी तक चलता रहा । बंगाल के राजाओं ने इस कार्य को ागे बढ़ाया था। वैदिक देवता क्रमशः विलीन होते गए और नया ब्राह्मण धर्म समाज में जड़ पकड़ता गया। वैदिक देवताओं के स्थान पर नये देवी देवता आ गए जिन्हें "पौराणिक देवता" कहते हैं। यद्यपि उस समय बौद्ध धर्म की प्रगति अच्छी थी नये सम्प्रदाय अपना प्रकाश फैलाते रहे त भी पौराणिक देवताओं की पूजा प्रमुख रूप में होती रही । समाज में सहिष्णुत का भाव भरा था। इन देवताओं के लिए मन्दिर बनते गए और विधिपूर्वक अर्चा के लिए विभिन्न लोग दान देते रहे। पत्र, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्य का प्रबन्ध उसी दान की आय से होता रहा। समाज में देवता के प्रीत्यर्थ होम भी होने लगे। इस प्रकार देव-पूजा तथा मन्दिरों के प्रबन्ध का कार्य सर्व प्रधान धार्मिक कृत्य था। लेखों तथा कलात्मक कृतियों के उदाहरणों से पता चलता है कि त्रिदेवों के स्थान पर पंचदेवों की पूजा होने लगी थी । यद्यपि उत्तर भारत में सर्वत्र ही पौरा-णिक देवताओं का प्रचार हो गया परन्तु वैदिक संस्कृति समाज को जीवन-दान करती रही । पूर्वमध्य युग में पंचायतन पूजा प्रायः घर घर में स्थान पा चुकी थी किन्तु एक ही परिवार का कोई व्यक्ति विष्णु का भक्त था तो कोई शिव का उपासक था । प्रतिहार लेख से पता चलता है कि एक ही परिवार में पिता, पुत्र तथा पौत्र आदि विष्णु शिव, दुर्गा तथा सूर्य के उपासक थे ।

अवतारवाद

अवतार की कल्पना इस युग के लिए नई न थी । इसकी उत्पत्ति वैदिक काल में हो चुकी थी परन्तु संस्कृत साहित्य तथा पूर्वमध्ययुग की कला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवतारवाद का सिद्धान्त इस निर्दिष्ट काल में विशेष रूप से विकसित हुआ । ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में विष्णु तथा उनके अवतार, मत्स्य, कूर्म, वाराह तथा नरसिंह आदि का उल्लेख मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में इस तरह का उल्लेख है तथा महाभारत के नारायणीय

पर्व में वाराह, वामन और राम आदि के नाम मिलते हैं। गुप्त युग की कला में कई अवतारों की मूर्तियाँ मिलती हैं। संस्कृत साहित्य के पंडितों का कहना है कि पुनर्जन्म सिद्धान्त के कारण संस्कृत साहित्य में निराशावाद का प्रवाह बहने लगा। अतएव व्यक्ति को सांसारिक कष्ट से बचाने के लिए ईश्वर के अवतार की कल्पना नितांत आवश्यक थी। अतएव यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रचारित हो गया। यदि गृहस्थ देवताओं की पूजा तथा मन्दिर के निमित्त दान देकर अपना धार्मिक कार्य सम्पन्न करते तो कलाकार विभिन्न अवतारों की प्रतिमाएं बना कर मुक्ति की आशा करने लगे। पंचदेवों की पूजा के साथ चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ बनने लगीं और स्थान स्थान पर पूजित होने लगी थीं। पुराणों में इनका विशद वर्णन मिलता है। क्षेमेन्द्र ने दशावतार चरित (१०६० ई०) तथा जयदेव ने गीतगोविन्द में (११८० ई०) भगवान् के अवतारों का वर्णन किया है। अवतारवाद की कल्पना इतनी आगे बढ़ गई कि बौद्ध धर्म को प्रभावित कर बुद्ध को अपना लिया जिसका उल्लेख जयदेव ने गीतगोविन्द में किया है। वृहत्संहिता में मंदिरों की स्थापना, देवताओं की पूजा तथा अर्चा का विस्तृत वर्णन पाया जाता है[1]।

पूर्वमध्यकालीन लेखों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ ईश्वर के विभिन्न अवतारों का वर्णन मिलता है। आश्चर्य तो यह है बौद्ध धर्मानुरागी बंगाल के पाल नरेशों के शासनकाल में भी विभिन्न हिन्दू अवतारों की प्रतिमाएँ बनती रहीं। तात्पर्य यह है कि उत्तरी भारत में पौराणिक देवताओं की पूजा का ऐसा प्रवाह बह रहा था कि कोई भी भाग इससे आप्लावित हुए बिना नहीं था। पुरातत्व की खुदाई से उपरियुक्त कथन की पुष्टि होती है। अवतारों के प्रदर्शन में मूर्तिकारों ने विभिन्न देवताओं के पृथक् अस्तित्व दिखलाने के लिये दो साधनों का प्रयोग किया (१) वाहन तथा (२) चिन्ह। देवता का ज्ञान वाहन को देख कर हो जाता था। गरुड़ से विष्णु, नन्दी से शिव, सिंह से दुर्गा, मूषक से गणेश तथा घोड़ों से सूर्य का ज्ञान होता था। वाहन के अभाव में देवता के अनेक भुजाओं को दिखलाने की आवश्यकता पड़ी। दो हाथ तो साधारण मुद्रा में रहते थे, इसलिए चिन्हों या आयुध के लिए अधिक हाथों की जरूरत हुई। अतः दैवी शक्ति के प्रदर्शन के लिए तथा चिन्ह (आयुध) के दिखलाने के निमित्त चार, छः और आठ या, इससे भी अधिक

१. डा० काणे—(धर्मशास्त्र का इतिहास, भा० २, पृ० ७२४)

हाथ मूर्तियों के तैयार किये जाने लगे। ८वीं सदी से भगवान् के अवतारों के चार या आठ हाथ तथा अन्य देवों के भी कई हाथ बनाए गए। इसी प्रभाव से पिछले महायान या वज्रयान मूर्ति-कला में भी अवलोकितेश्वर या तारा की प्रतिमाएँ बहुभुजी बनने लगी थीं जिसके लिए पाल युग प्रसिद्ध था।

वैष्णव मत तथा विष्णुपूजा

यह तो सर्वविदित है कि ईसवी सन् के आरम्भ से भागवत धर्म का उत्तरी भारत में प्रचार हो गया था और गुप्त नरेशों ने इसे राजधर्म का स्थान दिया था। इसी कारण ये राजा "परम भागवत" की पदवी से विभूषित किए गए थे। शेषशायी विष्णु की प्रतिमा उदयगिरि में मिलती है। सिक्कों पर विष्णु, लक्ष्मी तथा विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृतियाँ प्राप्त होती हैं। सातवीं सदी के बाद वैष्णवमत में कृष्ण का आविर्भाव हो गया जो बंगाल में कृष्ण सम्प्रदाय के नाम से प्रचारित हुआ। ८वीं सदी की पहाड़पुर की खुदाई में कृष्ण लीला का सुन्दर प्रदर्शन प्रस्तर पर अंकित पाया जाता है। पाल नरेश धर्मपाल के खालीमपुर दानपत्र में नारायण भगवान् के देवकुल का उल्लेख मिलता है। नारायण पाल के गरुण-स्तम्भ के लेख से विष्णुपूजा के प्रचार का पता चलता है। सेनवंशी राजाओं के लेखों से वैष्णवमत की ओर उनके झुकाव का परिज्ञान होता है। ये लेख नारायण-स्तुति से आरम्भ होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गुप्त-कालीन भागवत धर्म की अभ्युन्नति वैष्णव सम्प्रदाय के रूप में पाल युग में हुई। बंगाल में प्रचलित वैष्णवमत ने भगवान के अवतारों के सिद्धान्त का स्वरूप निश्चित किया। यद्यपि भागवत पुराण में अवतारों की तीन सूची मिलती है परन्तु जयदेव ने दस अवतारों का ही नाम लिया है। दस में दो अवतार—बुद्ध तथा कल्कि—बौद्धों से लिए गए हैं। उस समय से दस अवतारों की प्रधानता आज कल तक मानी जाती है। शक्ति स्थापना के बाद राधा-कृष्ण को लेकर बंगाल में साहित्य लिखा गया तथा अन्त में सहजिया से इसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। उत्तरी भारत के अन्य स्थानों के दानपत्रों में भगवान वासुदेव (विष्णु) की पूजा का वर्णन मिलता है। पूर्वमध्य युग की पालशैली (अथवा पूर्वी भारतीय शैली) में विष्णु की प्रतिमाओं की प्रधानता थी। चिकने काले या कसौटी के प्रस्तर पर चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमाएँ खोदी जाती

रहीं जो बंगाल में अधिक संख्या में मिली हैं। उस युग की स्वर्ण मुद्राओं पर लक्ष्मी की आकृति मिलती है। प्रतिहार भोज के सिक्के पर वाराह की मूर्ति खुदी है। दसवीं सदी के परमार लेख में नृसिंह अवतार का नाम मिलता है। इन सब बातों से पता चलता है कि विष्णुपूजा का पर्याप्त प्रचार था। बंगाल से लेकर मध्यप्रान्त तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश का भू-भाग वैष्णवमत के मुख्य केन्द्र थे।

इस युग में विष्णुपूजा के साथ शिव की अर्चा का भी उल्लेख पाया जाता है। उत्तरी भारत के बंगाल, मध्यभारत, मालवा तथा पूर्वी पंजाब से प्राप्त लेखों में इसका उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि पूर्वमध्ययुग में शिवपूजा की भी मान्यता थी। पाल, सेन, चेदि, चंदेल आदि राजाओं के लेख 'ओम् नमः शिवाय" अथवा "ओम् नमो ब्रह्मणो निर्गुणं व्यापकं नित्यशिवम्" की प्रार्थना मिलती है। कलचूरि लेख में राजा 'परम माहेश्वर" पदवी से विभूषित किए गए हैं जो पाशुपत पंथ के अनुरागी बतलाए गए हैं। प्रतिहार लेख अर्द्ध नारीश्वर की प्रार्थना से आरम्भ होता है। बंगाल के लेखों में भी शिवोपासना का विवरण पाया जाता है। नारायण पाल के भागलपुर दानपत्र में "शिवभट्टारक" तथा उपासक पाशुमत के लिए दान का वर्णन किया गया है। बौद्ध राजाओं के लेखों में पाशुपत मत की प्रशंसा आश्चर्य की बात है तथा शिवोपासना के प्रभाव का द्योतक है। विजयसेन तथा बल्लालसेन शिव के पुजारी थे जिनके लेखों में शम्भू तथा अर्द्ध नारीश्वर का नाम मिलता है। तत्कालीन उल्लेखों पर विचार करने से पता चलता है कि पूर्वमध्ययुग में शैवमत सम्प्रदाय में पाशुपत मत का प्रचार था। चेदि लेख में भाव नामक ब्राह्मण संन्यासी का नाम आता है जो पाशुपत मत का अनुयायी था। इस काल में अनेक शिवमन्दिर भी तैयार किए गए और उनकी अर्चा तथा अन्य व्यय के लिए भूमि दान में दी गयी थी। चंदेल, चेदि, परमार तथा सेन नरेशों द्वारा शिवमन्दिर तैयार करने का वर्णन लेखों में पाया गया है। कला में भगवान् शिव की प्रतिमा उमा (पार्वती) के साथ मिलती है। कई प्रकार की शिव मूर्तियाँ मिली हैं। कल्याण सुन्दर मूर्ति या अर्द्ध नारीश्वर प्रतिमाएँ अत्यन्त भावमय रूप में मिली हैं। बारकपुर के सेन लेख में दसभुजी सदाशिव की प्रतिमा का उल्लेख पाया जाता है। अतएव लेख तथा प्राप्त मूर्तियों के उदहारणों से शिवपूजा का प्रचार मालूम पड़ता है। स्वामी शंकरा-

शिवपूजा

चार्य ने भी वेदविहित पंचदेव पूजा की प्रधानता बतलाते हुए अपना सम्प्रदाय चलाया जिससे सभी व्यक्ति प्रभावित हुए। स्वामी जी ने बौद्ध संघ के आदर्श पर संन्यासियों का संगठन किया जो आगे चलकर मठाधीश हो गए। ये मठाधीश शैव सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। गोसाईं लोग भी शैवमतानुयायी मा ेजाते हैं। १०वीं सदी में कई चेदि लेख मिले हैं जिनमें शैव मठाधीशों की नामावली दी गई है। उसमें बिलहारी लेख में दो विभिन्न मठाधीश की शाखाएं उल्लिखित हैं। गुर्गी लेख से पता चलता है कि ये मठाधीश काशी में गंगा किनारे रहना चाहते थे पर यह कहना कठिन है कि महन्त को कब तक हैहय रा ा सहायता देते रहे। गोविन्दचन्द्र के लेख में भी इसी प्रकार के शैव गुरुओं के नाम मिलते हैं।

नाथ सम्प्रदाय

भारतवर्ष में योगियों की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है और योग साधना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में वैदिक युग से माना जाता है। प्राचीन रुद्र की उपासना तथा वर्तमान ध्यान की साधना योगाभ्यास से मिलती जुलती है। ईसवी पूर्व से ही योग विद्या की प्रधानता पाई जाती है। पतंजलि ने इसी विषय को लेकर 'योग सूत्रों' की रचना की थी। पुराने समय के योगी जटा धारण करते थे तथा धुनी रमाते थे। कदाचित् वे लोग शिवोपासक भी थे। योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव ही माने जाते हैं, इस कारण उनका एक नाम 'योगीश्वर' भी है। शिव की अनेक मूर्तियों में उन्हें समाधिस्थ रूप में दिखलाया गया है। शैवों में पाशुपत मतानुयायी भस्म लगाने के साथ साथ योगाभ्यास को भी अत्यन्त आवश्यक समझते थे। नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक 'आदि नाथ' शिव ही कहे जाते हैं। गुरु गोरखनाथ इसी परम्परा में माने जाते हैं। इस मत की उत्पत्ति कुछ विद्वान् गुप्त बौद्धमत से मानते हैं। इस प्रकार दोनों मतों का एक सम्मिश्रण पाया जाता है। जो हो, सिद्धों एवं नाथों की परम्पराओं का विवेचन ऐतिहासिक प्रमाणों के ऊपर अभी तक नहीं हो पाया है जिससे कुछ अंतिम निर्णय करना कठि है। नाथ-योगी-सम्प्रदाय योग-मार्गी साधकों का तथा शैव मतानुयायियों का एक समुदाय है जिसमें बौद्ध धर्म एवं शैव-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। ८वीं सदी के बाद ही गुरु गोरखनाथ की हठयोग की कुछ क्रियाओं की चर्चा मिलती है। उसी सिद्धान्त में काय साधना (हठयोग) से सिद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति

मानते हैं। यह हिन्दू तथा बौद्ध तंत्रों का युग था जो शिव तथा शक्ति के सिद्धान्त को लेकर चला था। ये लोग विश्व की उत्पत्ति प्रकृति तथा पुरुष से मानते हैं। नाथ सम्प्रदाय में वज्रसत्व अथवा भूतनाथ की भांति आदिनाथ माने गए हैं। इस नाथ मत में शैव सम्प्रदाय की बातें घर कर गई थीं तथा उसी के सहारे नाथ मत की अभ्युन्नति हुई। गोरखनाथ को इसी कारण शिव कहा गया है। नाथ सम्प्रदाय के मंदिरों में भगवान् शिव की ही प्रतिमा मिलती है। बंगाल में योगी जाति के पुजारी रुद्रज ब्राह्मण कहे जाते थे जिसका उल्लेख बल्लाल चरित में मिलता है। वे शिवगोत्री कहे जाते थे। इस सम्प्रदाय में हठयोग तथा प्राणायाम की प्रधानता मानी गई है। नृत्य तथा गान भी उसमें सम्मिलित किया जाता है। नाथ सम्प्रदाय के कनफटा योगी घरघर गाना गाकर भीख माँगते हैं। नाथ लोगों में कापालिक-मार्गी साधुओं की भी गणना होती है। ये समझते हैं कि यौगिक क्रिया के द्वारा जादू की शक्ति मिल जाती है और स्थूल देह सूक्ष्म शरीर को प्राप्त कर लेता है। इनके अन्तिम ध्येय नाथसिद्धि को जीवनमुक्ति (मोक्ष) ही कह सकते हैं जिसमें महेश्वर की स्थिति प्राप्त करना ही लक्ष्य माना गया है। इसीलिए ये लोग मत्स्येन्द्र नाथ और गोरखनाथ की समता महेश्वर (शिव) से करते हैं।

शक्तिपूजा

पंचदेव पूजा में दुर्गा का भी नाम लिया जाता है। यों तो शक्ति उपासना का आरम्भ ईश्वर कृष्ण की "सांख्य-कारिका" के समय से माना जा सकता है परन्तु पूर्वमध्ययुग में शाक्तमत का अधिक विकास हुआ। गुप्तकालीन उदयगिरि की गुफा में महिषमर्दिनी दुर्गा तथा सप्त मातृका की प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। पिछले गुप्त युग तथा पालयुग में शक्तिमत का विशेष प्रसार हुआ। 'देवी-पुराण' में विभिन्न रूपों में देवीपूजा का वर्णन मिलता है पर तांत्रिक प्रभाव के कारण उसका अधिकाधिक विस्तार हुआ। शाक्त सिद्धान्त का प्रभाव सर्वत्र पड़ा। इसलिए सभी सम्प्रदायों में शक्ति का समावेश किया गया। पूर्वमध्य युग के लेखों में भगवती, दुर्गा के साथ अम्बा, कंचनदेवी, सर्वमंगला तथा श्री लक्ष्मी के नाम मिलते हैं। साहित्य में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था कि शक्ति के साथ ही देवता बलवान होते हैं। इसके बिना सभी शक्ति-हीन हो जाते हैं। यहाँ तक कि भगवान् भी शक्ति (माया) के बिना संसार

का निर्माण नहीं कर सकते। इसी कारण प्रकृति-पुरुष का समन्वय किया गया है। कलाकारों ने इस विचार धारा को प्रतिमाओं का निर्माण करके सजीव बना दिया। माहेश्वरी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ब्रह्माणी या चामुण्डा आदि देवियों की जो प्रतिमाएं पृथक् पृथक् बनती थीं वे विशिष्ट देवता के साथ तैयार होने लगीं। पार्वती शिव के साथ, लक्ष्मी विष्णु के साथ तथा ब्रह्माणी ब्रह्मा के साथ कला में उतरीं। शिवशक्ति का समन्वय कला में महत्वपूर्ण था। यों तो विभिन्न लेखों में दुर्गा के मन्दिर अथवा भगवती देवी की पूजा का विवरण पाया जाता है परन्तु कलात्मक उदाहरणों से प्रकृति तथा पुरुष के संयोग का परिज्ञान होता है। भगवान् शिव के आलिंगन तथा वैवाहिक प्रतिमाएँ शक्ति के साथ देवता के संयोग की चर्चा मूक शब्दों में करती हैं। इतना ही नहीं प्रकृति तथा पुरुष में अभिन्नता दिखलाकर कलाविदों ने अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा का निर्माण किया था जिसमें आधा पुरुष अंग तथा आधी नारी की आकृतियां बनी हैं। बंगाल में शक्ति पूजा का इतना विकास हुआ कि घर घर में यह प्रवेश कर गया। तंत्र-मंत्र के साथ पूजा का विधान विकसित हो गया। वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण पूजा "राधा-कृष्ण" के रूप में समाज में आई। शीतला, षष्टी तथा मनसा देवियों की पूजा होने लगी थी। कामाख्या देवी सर्व प्रसिद्ध हैं। कलकत्ता का नाम ही 'कालिका' देवी के नाम पर पड़ा है। मध्य प्रदेश में चौसठ योगिनी का मन्दिर विभिन्न देवियों की प्रतिमाओं के कारण अपना नाम सार्थक करता है। शाक्त सम्प्रदाय ने बौद्ध तथा जैन मतों को भी प्रभावित किया था जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

भारतवर्ष में सूर्यपूजा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है जिसे कालान्तर में पंचदेवों में स्थान दिया गया। परन्तु ७वीं सदी के बाद के लेखों में सूर्यपूजा के विकसित रूप का आभास मिलता है। गुप्त

सूर्यपूजा

पूर्वकाल से सूर्यपूजा का विशेष रूप से प्रचार होने लगा था। गुप्तकालीन दशपुर में स्थित सूर्यमन्दिर का उल्लेख मिलता है। वर्धन वंश के राजा प्रभाकर वर्धन सूर्य का उपासक था। पूर्व मध्यकालीन गहड़वाल, प्रतिहार तथा चहमान लेखों में सूर्यमन्दिर के लिए दान का वर्णन पाया जाता है। "कृत्वा निकेतनं वटवासी भानो" अथवा 'ओं सूर्याय नमो' का उल्लेख मिलता है। बंगाल के सेन शासक विश्वरूप सेन तथा केशव सेन सूर्योपासक होने के कारण "परमासौर" पदवी से विभूषित किए गए थे।

निर्दिष्ट काल के जितने दानपत्र मिलते हैं उनमें अधिकतर सूर्यग्रहण के अवसर पर दान देने का विवरण पाया जाता है। इससे पता चलता है कि लोग सूर्यपूजा तथा सूर्यग्रहण को महत्व देते थे और धार्मिक कृत्य करके अपना जीवन सार्थक बनाते थे। भारत के पूर्वमध्य कालीन कला या पाल शैली में सूर्यदेव की काले प्रस्तर की प्रतिमाएँ बनती रहीं। सूर्य की बड़ी मूर्ति दोनों हाथों में कमल लिए खड़ी मिलती हैं। निचले भाग में सारथी युक्त सात घोड़े का रथ तथा दोनों तरफ संध्या तथा उषा नामक दो देवियों की आकृतियां खुदी रहती हैं। इस तरह प्रतिमाएं अधिक संख्या में तैयार होती रहीं जो पूजा के निमित्त ही उपासक खुदवाता रहा होगा। पाल तथा सेन युग की सूर्य की अनगिनत प्रतिमाएँ मिली हैं। इस काल में मुल्तान का सूर्यमंदिर सर्व प्रसिद्ध था।

पंचायतन पूजा में गणेश का भी नाम आता है। मूषक वाहन के साथ लम्बोदर (गणेश) की पूजा मंगल कामना के लिए की जाती है। लेखों में इन्हें विनायक भी कहा गया है। तक्षणकला में इनकी मूर्ति स्थान स्थान पर मिली है। ये मूर्तियां कभी शिव-पार्वती के साथ भी दिखलाई पड़ती हैं। जिन लेखों में पंचदेवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य तथा गणेश) के नामोल्लेख मिलते हैं वहां गणेश पूजा का भी वर्णन पाया जाता है। जैसा कहा गया है कि पौराणिक देवताओं की पूजा बौद्धधर्म के क्षेत्र में भी होने लगी थी जिसका प्रभाव उन मतों पर भी पड़ा वह अपना अस्तित्व बनाए रक्खे। पंचायतन देव-पूजा के महत्व को शंकराचार्य ने भी सर्वत्र घोषित किया था। किन्तु पंचदेवों के अतिरिक्त विष्णु के अनेक अवतारों की अर्चा कम नहीं होती थी। वाराह, नरसिंह, वामन, राम, आदि के साथ बुद्ध तथा कल्कि पूजित होने लगे थे। गुप्त युग के बाद पाल शैली की पौराणिक देवों की मूर्तियां अनेक स्थानों पर बनती रहीं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु प्रतिमाएं भी उस युग की एक विशेषता थी। पूर्वमध्ययुग में शासकों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही ब्राह्मण मूर्तियां (विभिन्न अवतारों की) भी बौद्ध प्रतिमाओं के साथ तैयार होती रहीं। साम्प्रदायिक झगड़ों से शासक दूर रहते थे। पाल वंशी राजा बौद्ध होकर भी "ब्राह्मण धर्म पालक" कहे गए हैं। पौराणिक देवों की मूर्तियां ही इस युग की विशेषता हैं।

गणेशपूजा

भारतवर्ष में बौद्धधर्म का प्रचार तो अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा था किन्तु समय समय पर इसमें परिवर्तन होते रहे। ईसवी सन् के आरम्भ में भागवतधर्म के प्रभाव से महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ जिसमें भक्ति को समाविष्ट किया गया। इससे साहित्य तथा कला की श्रीवृद्धि नये रूप में हुई। महायान सम्प्रदाय का दृष्टिकोण विस्तृत था। वहां सभी के लिए मुक्ति का स्थान था। इस कारण सभी व्यक्ति महायान में स्थान पा सके। विभिन्न बुद्धिवाद वालों के लिए भी स्थान था। यही कारण है कि विभिन्न विचार तथा धार्मिक कार्य बौद्धधर्म में घुसने लगे। भारतीय संस्कृति निगमागम मूलक है। जिस प्रकार वह निगम (वेद) के ऊपर आश्रित रहती है उसी प्रकार आगम (तंत्र) के ऊपर भी अवलम्बित रहती है। भारतीय संस्कृति के दो आधार-पीठ हैं। वेद और तंत्र। दोनों में अन्तर यही है कि वैदिक उपासना बाह्य है, सर्वत्र प्रकाश्य है। परन्तु तांत्रिक उपासना आभ्यन्तर है, सर्वथा गोप्य है। इस तंत्र का प्रभाव बौद्धधर्म पर भी पड़ा। कहा जाता है कि बुद्ध ने ही तंत्र का समावेश किया था क्योंकि उपासक ऊँचे विचारों को समझने में समर्थ नहीं थे। किन्तु पांचवीं सदी में आचार्य असंग के ग्रंथों में तांत्रिक विचार धारा को स्थान मिला और बौद्धधर्म में तंत्र समावेश करने का श्रेय असंग को ही दिया जाता है। ७वीं सदी तक महायान का स्वरूप प्राचीन रूप में बना रहा, परन्तु पूर्वमध्ययुग में इसका नया रूप मिलता है जिसे तंत्रयान कहते हैं। साधारण लोगों में देवी देवताओं पर विश्वास, समयानुकूल धार्मिक कृत्य तथा मंत्रों के प्रभाव पर आस्था थी। इसमें बुद्धत्व (मोक्ष) प्राप्ति के लिए मंत्र का उपयोग किया गया। मंत्र को 'धारणी' भी कहते थे जिसका अर्थ था कि वह शब्द जिसमें धार्मिक जीवन के रखने की सामर्थ्य हो। इसे अर्थ रहित समझ कर उच्चारण करते थे। इसके कारण सत्य प्रज्ञा तथा आत्मबल की प्राप्ति होती है। मंत्र (धारणी) से मनुष्य पूर्णता को पाता है। महायान का यह रूप (मंत्रयान) तन्त्रयान की आरम्भिक सीढ़ी है। तांत्रिक मत में मंत्र तथा मुद्रा को प्रधान स्थान दिया गया है। इसी के साथ मण्डल (रहस्यमय नृत्य) को भी तंत्र में लिया जाता था। इस तरह परम्परागत विश्वास, भूत, प्रेत, इन्द्रजाल, मोहन या वशीकरण आदि की विचारधारा बौद्धधर्म में शीघ्र प्रवेश कर गई। उसके साथ हठयोग के मिलने से तांत्रिक

बौद्धधर्म

मत का व्यापक स्वरूप प्रकाश में आ गया। ये सभी बातें तंत्रयान की वृद्धि में सहायक हुईं। तांत्रिक बौद्धधर्म के विकास को वज्रयान कहते हैं। वज्रयान ने यौगिक क्रिया को कार्यान्वित किया जिसमें मंत्र के साथ मुद्रा को भी अपनाया गया था। तांत्रिक भाषा में "मुद्रा" उसे कहते हैं जहां साधक किसी युवती को अपना संगिनी बनाता है। इस साधना में सहज सुख (मोक्ष) पाने के लिए यौगिक गुप्तरीति का पालन किया जाता है। इसमें विविध धार्मिक कृत्य तथा देवी देवताओं की पूजा को स्थान देकर पौराणिक देवों को वज्रयान में अपनाया गया। इसी यान ने सर्व प्रथम शक्ति का समावेश बौद्धधर्म में किया था। प्रज्ञा तथा उपाय का सिद्धान्त शक्ति तथा देव (प्रकृति-पुरुष) के नये रूप में बौद्ध तंत्र में समाविष्ट हो गया। वज्रयान के साधकों में मंत्रों के अतिरिक्त हठयोग तथा मैथुन क्रियाओं में अधिक विश्वास पैदा हो गया जिसके प्रचारकों में ८४ सिद्धों की गणना की जाती है। ९वीं तथा १०वीं सदी में तांत्रिक बौद्धधर्म (वज्रयान) का इन लोगों ने प्रसार किया। इनमें सरहप्पा, तिलोपा, नरोपाद तथा कान्हपाद का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। महायान का बोधिचित्त अब 'वज्रसत्त्व' के रूप में आ गया। वज्रयानी आचार्यों ने हठयोग में जिन साधनाओं का संकेत किया था वे सब अनधिकारी साधकों के लिए व्यभिचार परक आदेश बन गए और उन बातों का वास्तविक रहस्य क्रमशः विस्मृत हो गया।

ब्राह्मण तंत्र मत के प्रभाव से बौद्धधर्म बच न सका। दोनों के पारस्परिक प्रभाव ने नये देवी देवताओं का स्वरूप खड़ा कर दिया। उदाहरणार्थ शक्ति-पूजा के नये रूप को कौल का नाम दिया गया जो वर्णाश्रम धर्म से सम्बन्धित रहा और इसी कारण अधिक समय तक टिका रहा। दूसरे नाथपंथी तथा अवधूत इससे पृथक् रहे। नाथ मत वाले कालान्तर में ब्राह्मणधर्म में एक जाति बन गए।

तांत्रिक मत ने महायान के विरुद्ध यह विचार उपस्थित किया था कि सहजसुख (सिद्धि) की प्राप्ति योग के द्वारा ही हो सकती है जिसमें प्रज्ञा (शक्ति) का प्रधान हाथ है। परम्परागत कठोर नियमों के पालन से नहीं। सिद्धों ने चर्यागान में शक्ति का बारंबार उल्लेख किया है। वहां योगिनी या सहज सुन्दरी सांसारिक स्त्रियां नहीं हैं किन्तु वह शाश्वत शक्ति है। इन सब विचार धाराओं के कारण भारतीय कला में बड़ा परिवर्तन हुआ। बंगाल

तथा विहार वज्रयान के मुख्य केन्द्र थे। नालंदा तांत्रिक मत का महान् केन्द्र था। पाल शैली तथा सेन युग की इससे सम्बन्धित अनेक मूर्तियां पाई जाती हैं। पालशैली की प्रस्तर के अतिरिक्त धातु की भी अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं। नालंदा तो धातु की मूर्तियों का प्रधान केन्द्र था। जिस प्रकार नालंदा के विद्वानों ने नैपाल, तिब्बत तथा चीन में तांत्रिक मत का प्रचार किया था उसी प्रकार साथ साथ भारतीय कला ने भी उन देशों को प्रभावित किया। बौद्ध शक्तियों में तारा देवी को प्रधान स्थान दिया गया है। ८वीं सदी से लेकर १०वीं सदी तक इसके उत्कर्ष का युग माना जाता है जिसके पश्चात् (१०वीं से १२वीं सदी) सिद्धों ने इसके प्रचार में अग्रणी का काम किया था। आगे चलकर इसी के नये रूपों को सहजयान तथा कालचक्रयान के नाम से पुकारते हैं जिनका पाल युग में विशेष रूप से विकास हुआ।

धार्मिक सहिष्णुता

पूर्वमध्ययुग की यह एक विशेषता है कि धार्मिक जगत् में शासक सहिष्णु थे। सहिष्णुता की यह भावना भारत में पहले से ही काम कर रही थी। गुप्त नरेश परमभागवत होते हुए बौद्ध तथा जैन के मतों के प्रचार में सहायक थे। इस युग में एक ही राजवंश में विभिन्न शासक पृथक् पृथक् धर्म के अनुयायी थे। थानेश्वर का प्रभाकर वर्धन शैव था तो उसके पुत्र बौद्ध थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय धार्मिक कट्टरता का अभाव था। आश्चर्य तो यह है कि पाल नरेश बौद्ध धर्मावलम्बी होने पर भी पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण में सहायक रहे। ब्राह्मण तंत्र के प्रभाव से बौद्ध तांत्रिक मत ने ब्राह्मण देवताओं को अपनाया। शक्ति के साथ गणेश की भी पूजा होने लगी। परन्तु सर्वत्र यही विचार धारा काम नहीं कर रही थी। कहीं कहीं बौद्ध लोग ब्राह्मण देवताओं को घृणा की दृष्टि से देखते रहे। उदाहरणार्थ हरिहरिहरि वाहनोद्भव प्रतिमा का उल्लेख 'साधनमाला' में मिलता है जो अवलोकितेश्वर का रूप माना गया है। वहां बौद्ध देवता के वाहन के स्थान पर भगवान विष्णु की आकृति दिखलाई पड़ती है, किन्तु ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे। निर्दिष्टकाल के लेखों में वर्णन आता है कि ब्राह्मण धर्मावलम्बी शासक बौद्ध मठों को भी दान देते थे तथा बौद्ध राजा वैदिक ब्राह्मण को दान देता था। जिस लेख में 'नमो बुद्धाय' की प्रार्थना मिलती है वहां शिव तथा विष्णु के प्रति भी स्तुति की गई है। कलचुरि लेखों में बुद्ध को इला मनु का पुत्र कहा

गया है। परम-सौगत विग्रहपाल द्वितीय के समय में गंगा में स्नान कर चन्द्रग्रहण के अवसर पर बौद्ध नरेश ने ब्राह्मणों को अग्रहार दान में दिया था। एक ही लेख में शिव, विष्णु, तारा तथा बुद्ध की प्रार्थना की गई है। बौद्ध लोगों में गंगास्नान, संक्रान्ति या ग्रहण के अवसर पर दान के फलस्वरूप स्वर्गप्राप्ति में विश्वास हो गया था। ब्राह्मण तथा बौद्ध साधुओं में कोई अन्तर न रह गया था। बौद्ध हिन्दू (ब्राह्मण) धर्म के अनुयायी होते जा रहे थे। यहाँ तक कि ब्राह्मणदेवताओं में बुद्ध की भी गणना होने लगी थी और दस अवतारों में जयदेव ने बुद्ध को भी सम्मिलित कर इनकी भी स्तुति की है[1]। इस प्रकार साहित्य तथा कला के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म क्रमशः ब्राह्मण धर्म में विलीन होता जा रहा था। ब्राह्मण देवतागण के सम्बन्ध में भी ऐसी बात कही जा सकती है। जैसा कहा गया है पौराणिक देवताओं को बौद्ध ग्रहण कर रहे थे, उसी तरह तांत्रिक युग में बौद्ध देवों को ब्राह्मण अपना रहे थे। फल-स्वरूप दोनों धर्मों के देवी देवताओं का पृथक्करण अत्यन्त कठिन था। डा० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि हिन्दू काली और चिन्माता बौद्ध शक्तियाँ थीं। भूतदामर नामक देव को दोनों समान रूप से पूजते थे[2]। इसके अतिरिक्त बौद्ध लोगों में भी हिन्दू धर्म ग्रंथ पढ़ने की ओर अभिरुचि उत्पन्न हो गई थी। पालकालीन एक लेख में वर्णन आता है कि बौद्ध धर्मानुयायी धनदत्त रामायण, महाभारत तथा पुराणों के अध्ययन का गर्व करता था।

जैन-धर्म

पूर्वमध्ययुग में जैन-धर्म की प्रधानता जाती रही। प्राचीन काल की तरह जैन मत का प्रचार न था इसके अनुयायियों की कमी होती जा रही थी। यह सर्वसाधारण का धर्म न रह गया था। लेखों में स्थान-स्थान जैन देवताओं की पूजा के निमित्त दान देने का वर्णन मिलता है। एक पाल लेख में शैव राजा की स्त्री द्वारा जैन विहार को दान देने का वर्णन मिलता है। बंगाल के पुण्ड्रवर्धन क्षेत्र में जैन विहारों की कमी न थी। ह्वेनसांग ने जैन विहारों का पर्याप्त विवरण दिया

१. सदय हृदय दर्शित पशुघातम्।
केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जगदीश हरे। —गीत गोविन्द।

२. बुद्धिस्ट आइकानोग्राफी।

है। मारवाड़ के चहमान लेखों में तीर्थंकर शान्तिनाथ की देवयात्रा के निमित्त अग्रहार दान का उल्लेख मिलता है। परमार लेख से पता चलता है कि राजपूताना के बंसवारा रियासत में वृषभनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई थी। इसी तरह नासिक के समीप से प्राप्त एक प्रशस्ति में सूर्यग्रहण के अवसर पर दान देने तथा उस दान की आय से जिन-पूजा और जैन-साधुओं के भोजन के प्रबंध का उल्लेख किया गया है। इन सब बातों से प्रकट होता है कि हिन्दू तथा जैन मतानुयायियों में सहिष्णुता का भाव वर्तमान था। ब्राह्मण मत के माननेवाले जैन मन्दिर में दान देते रहे तथा जैन लोग पौराणिक देवताओं की पूजा करने लगे थे। जैन विद्या की देवियों में सरस्वती को स्थान मिल गया था। गणेश की अट्ठारहभुजी एक मूर्ति मिली है जिसे जैन धर्मावलम्बी पूजा करते रहे। इस कारण यह कहा जा सकता है कि दोनों मतों में पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहा तथा धार्मिक सहिष्णुता थी। एक चहमान लेख से ज्ञात होता है कि राजा अल्हण देव ने सूर्य तथा शिव की पूजा करके जैन मन्दिर में दान दिया था। इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दू दान-पद्धति को जैन लोगों ने भी अपना लिया था। स्नान तथा देवपूजा के पश्चात् ही दान देने का धार्मिक कृत्य किया जाता था।

दान का महत्त्व

पूर्वमध्यकालीन धार्मिक अवस्था का अध्ययन तत्कालीन लेखों के आधार पर किया जाता है। इन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि समाज में लोग भूमिदान को विशेष महत्त्व देते थे। प्राय: धनवान् व्यक्तियों को यह विश्वास हो गया था कि भूमिदान का फल स्वर्ग प्राप्ति है, इस कारण स्थायी रूप से (अक्षय नीवि तथा भूमिछिद्र न्याय के अनुसार) दानग्राही को भूमि दी जाती थी। विशेष व्यक्तियों के अतिरिक्त शिक्षा संस्थाओं, मठों तथा मन्दिरों के प्रबन्ध के लिए दान देना आवश्यक था। पांचरात्र संहिता में भी क्रिया (मन्दिर निर्माण) तथा चर्या (पूजा) का वर्णन भली भाँति किया गया है जिसके कारण स्थान-स्थान पर मन्दिरों का निर्माण होने लगा। पूर्वमध्ययुग मन्दिर निर्माण के लिए प्रमुख काल माना जाता है। इसलिए दान का भी वही प्रधान युग था। विभिन्न वेदाध्यायी ब्राह्मणों को और विभिन्न देवताओं के मन्दिरों को दान दिया जाता था। इसमें दानी लोग कट्टरपंथी न थे। हिन्दू राजा बौद्धधर्म के लिए भी दान देते थे तथा जैनों के विहारों को भी

बनवाते थे। प्रसंगवश इस स्थान पर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि षोडश महादानों में लोगों की आस्था थी। अतएव भूमिदान के अतिरिक्त सुवर्ण-अश्व (हेमाश्व) तथा तुलादान का भी तत्कालीन साहित्य तथा लेखों में वर्णन मिलता है।

दान के अवसर

दान देने में धनी व्यक्ति या राजा उचित समय का विचार करता था। सूर्य या चन्द्रग्रहण अथवा मुख्य पर्व के अवसर ही दान देने का विधान था। ग्रहण के अतिरिक्त एकादशी, अक्षयतृतीया, संक्रान्ति तथा अधिक मास आदि शुभ दिन माने जाते थे। पूर्वमध्यकालीन राजाओं के लेखों में ऐसे अनेक उल्लेख भरे पड़े हैं। शासक राजकुमार की जन्मतिथि या विजय के अवसर पर भी दान देते थे। वह जब कभी तीर्थ स्थानों (अयोध्या, काशी, प्रयाग आदि) की यात्रा करता तो ब्राह्मणों को अवश्य दान देता था। इस प्रकार दान देने के अनेक अवसर थे। इनमें पार्वण तथा वार्षिक श्राद्ध की भी गणना की जाती थी।

दान देने की पद्धति

भारतीय स्मृतियों में शुभ अवसरों पर दान देने की पद्धति का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इस पद्धति का विवरण तत्कालीन लेखों में भी मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्मृतियों तथा लेखों में कोई भिन्नता नहीं है। दान देने वाला व्यक्ति उस दिन उपवास रख कर गंगास्नान कर भगवान विष्णु या शिव की विधिवत् पूजा तथा हवन करता था और जल, कुश तथा तिल लेकर संकल्प करता था। उस संकल्प की तुलना आज की पद्धति से कर सकते हैं। संकल्प में दानग्राही या ग्राहियों के गोत्र के साथ नाम का उच्चारण किया जाता था। किसी स्थान पर स्नान के बाद ही देव, पितृ तथा भूत के तर्पण (विधिवत् मंत्र देव मनुज भूत पितृ गणान् तर्पयित्वा) का विधान पाया जाता है। गहड़वाल राजा गोविन्द चन्द्र के अनेक दानपत्रों में "प्रयागे विधिवत् स्नात्वा कुशलता करतलोदक त्रिभुवनपति वासुदेवस्य पूजां विधाय हुत्वा", का उल्लेख किया गया है। उस समय पुरोहित 'स्वस्ति-वाचन' भी करता था जिसके बाद समस्त धार्मिक कार्य समाप्त समझा जाता था। दान के बाद दक्षिणा में स्वर्णमुद्रा देने का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार राजा लोग दान को प्रधान धार्मिक कृत्य

मानते थे। दानपत्रों के अध्ययन से पूर्वमध्ययुग के धार्मिक प्रवाह तथा भावना का परिचय मिलता है। किसी किसी लेख में अग्रहार दान की 'शिव निर्माल्य' से तुलना की गई है जिसका तात्पर्य है कि उससे दानकर्त्ता या उसके परिवार को किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहेगा अर्थात् वह अग्रहणीय वस्तु समझी जायेगी। भूमि तो सब प्रकार से राजकीय कर समेत, कूप-वापी के साथ, खानों से युक्त और वृक्षों से युक्त दानग्राही को दी जाती थी। वहाँ से किसी तरह की कोई आय राजा को नहीं होती थी। दानकर्ता शासक राज कर्मचारियों को सम्बोधन करके घोषणा करता था कि अमुक भू-भाग, अमुक गोत्र के ब्राह्मण या अमुक संस्था को दे दिया गया है। दानग्राही को सभी प्रकार के कर वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। यहाँ तक कि पुलिस या सैनिकों के जाने पर भी किसी प्रकार का बेगार या असामयिक कर नहीं लगाया जाता रहा। राजा अपने उत्तराधिकारियों के लिए लेख में इस बात का उल्लेख कर देता था कि दान दिए गए भू-भाग को वापस लेने अथवा दान में बाधा पहुँचाने पर वह व्यक्ति नरकगामी होगा तथा इस नियम का पालन करने वाले शासक को स्वर्ग मिलेगा एवं नष्ट करने वाले को घोर नरक।

.......पुण्यौ, नित्यं स्वर्ग गामिनौ

विष्टायां तु कृमिः भूत्वा, पितृभिः सहमज्जति।

दानपत्रों के अन्त में इस तरह के लम्बे धर्म श्लोक मिलते हैं जिनमें पुण्य तथा पाप, स्वर्ग तथा नरक, कल्याण तथा शाप आदि बातें उल्लिखित हैं। दान के देने वाले को पुण्य, स्वर्ग तथा कल्याण मिलता है तो बाधक पाप, नरक तथा शाप का भागी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वमध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास के जानने में दानपत्र अधिक सहायक सिद्ध हुए हैं।

अध्याय ७

पूर्व-मध्यकाल में वृहत्तर भारत

प्राचीन भारत के किसी भी काल का इतिहास उस समय तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता जबतक भारतीय संस्कृति के विस्तार का अध्ययन समाप्त न हो जाय। बाहरी देशों में भारत की सभ्यता के विस्तार की लम्बी कहानी है। भारत के समीप दक्षिणी-पूर्वी द्वीप समूह में तथा मध्य एशिया, तिब्बत और चीन में उसका फैलाव शताब्दियों पूर्व से होता रहा। परन्तु ७वीं सदी से इस कार्य को काफी बल मिला। भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने तथा प्रचार के कारण उन समस्त देशों को वृहत्तर भारत के नाम से पुकारा जाता है। भारत से धर्मप्रचारकों के भेजे जाने की बात अशोक ने आरम्भ की थी परन्तु वह ढंग आगे चल न सका। व्यापार के संबंध में वहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित किये गये और बस जाने के कारण सांस्कृतिक बातों का प्रचार हो गया। यही कारण है कि वृहत्तर भारत का इतिहास भारतीय सांस्कृतिक विस्तार का पूरक अंग माना जाता है।

ईसवी सन् पूर्व से ही समुद्र को पार कर सुदूर पूरब या पश्चिम तक एशिया में भारतीय व्यापारी जाया करते थे। ये दोनों जलमार्ग बराबर काम करते रहे। धनपाल रचित 'तिलक मंजरी' से इसका आभास मिलता है। स्थल मार्ग उत्तर पश्चिम होकर जाता था। प्रथम शताब्दी में कुषाण वंश का शासन काशी से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। कुषाण शासन में लोगों का आवा-गमन होता रहा। भारत तथा मध्य एशिया से राजनैतिक सम्बन्ध के साथ-साथ संस्कृति का भी आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। दूसरी सदी में पार्थियन राजा मिथ्रदेत प्रथम ने झेलम तक के भूभाग को अपने राज्य में मिला लिया। सम्भवत: उन लोगों ने बुद्धधर्म का अध्ययन किया, जिसके बाद पार्थियन राजा बौद्ध धर्मानुयायी

तीन मार्ग

हो गया। वह भिक्षु बनकर चीन की तरफ गया और उसी मठ में रहने लगा जहाँ भारतीय भिक्षु धर्मरत्न तथा कश्यप मातंग निवास करते थे। चीन में बुद्धधर्म के विस्तार का श्रेय कुषाण लोगों को है जिनके द्वारा चीन वालों को भारत के सम्बन्ध में ज्ञान हुआ। राजा ने बुद्धधर्म में चीनी आचार्यों की शिक्षा के लिए एक शिक्षण संस्था खोली थी। चीन वाले भी पश्चिमी एशिया तथा योरप से मध्य एशिया होकर व्यापार करते रहे। कूचा नामक स्थान पर चीनी लोग बुद्धधर्म सीखने के लिए आया करते थे जिसका एक कारण था। एक भारतीय विद्वान् कुमारयन कूचा में निवास करता रहा और उसने प्रेमवश कूचा की राजकुमारी से विवाह कर लिया। उसी का पुत्र कुमारजीव काश्मीर में बौद्धधर्म की शिक्षा लेकर ४०० ई० के समीप चीन गया और वहाँ उसने बौद्ध-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया। कुमारजीव ने ही चीन में महायान का प्रचार किया था। इन सब बातों के कहने का तात्पर्य यह है कि मध्य एशिया में बुद्धधर्म के प्रचार ने चीन को भारतीय सम्पर्क में घसीट लिया और वह सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। व्यापार के साथ धर्म का विस्तार तथा बाद में सांस्कृतिक बातों का भी विस्तार होने लगा था। मध्य एशिया, तिब्बत तथा चीन में भारतीय संस्कृति के विस्तार में खोतान का ही प्रधान हाथ था। काश्मीर से वहाँ भारतीय सदा आते जाते रहे। उसकी ख्याति इतनी बढ़ गयी थी कि पाँचवीं सदी में चीन का राजकुमार बुद्धधर्म की शिक्षा के लिए खोतान आया था। यही क्यों, काश्मीर से धर्मक्षेत्र नामक भारतीय विद्वान् महायान-ग्रंथ की खोज में वहाँ गये और खोतान को महायानधर्म का सर्वप्रसिद्ध केन्द्र पाया। इस कारण चीन से खोतान तथा बाद में हिन्दुस्तान आने का ताँता लग गया। चीनी बौद्ध भिक्षु फाहियान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग आदि चीन से भारत आये। उनके यात्रा-विवरण बृहत्तर भारत का इतिहास जानने में सहायक सिद्ध हुए हैं। चीनी यात्रियों के अतिरिक्त अरब लेखकों के वर्णन से प्रकट होता है कि सातवीं सदी में मुसलमानों द्वारा भारत के आक्रमण ने भारत से पश्चिम एशिया का सम्बन्ध दृढ़ कर दिया और अरब में भारतीय विद्याओं को जाने का अवसर मिला। भारतीय धर्म, दर्शन, चिकित्सा, गणित तथा ज्योतिष का विस्तार उन देशों में ही गया। पूर्वमध्यकाल में स्थल मार्ग ही भारतीय सांस्कृतिक

विस्तार में अधिक विख्यात रहा। किन्तु जल मार्ग पर अरबवालों का आधिपत्य था।

मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति के विस्तार का इतिहास पुराना है परन्तु तिब्बत में सातवीं सदी में इसने प्रवेश किया। ईसवी पूर्व सदियों से मध्य एशिया तथा चीन से व्यापार होता रहा।

बघरला हिन्द पहली सदी पूर्व में हानवंश ने चीन में संघ स्थापित करने का प्रयत्न किया और हूण लोगों से देश की रक्षा के लिए मार्ग निकाला। वैदेशिक नीति के कारण विदेशों से व्यापार आरम्भ कर दिया और उसी प्रसंग में भारत से सम्पर्क बढ़ा। दक्षिण चीन के सूती कपड़े मध्य एशिया, फरगना तथा ताहिया होकर अफगानिस्तान तक बिकते रहे। हानराजा ऊती ने इस सम्बन्ध को और आगे बढ़ाया तथा खोतान के भाग को छोड़कर मध्य एशिया के पूर्वी भाग से सम्बन्ध को दृढ़ किया। यद्यपि चीनवालों ने भारत का नाम सुन रक्खा था परन्तु पहली शती से व्यापार के बढ़ जाने से खोतान के समीप दोनों मिल गये। इस प्रसंग में एक कथानक है कि सन् ६८ ई० में चीन के राजा मिङ्गती ने एक सपना देखा था कि सोने का बना आदमी उड़ कर राजमहल में प्रवेश कर रहा है। इस से लोगों ने संत बुद्ध के चीन में आने की बात का अनुमान लगाया था। बुद्ध के आगमन की इस प्रकार सूचना पाकर राजा बड़ा प्रभावित हुआ और भारत से बौद्ध आचार्यों को लाने के लिए उसने तीन राजदूतों को भेजा। वे भारत में आये और काश्यप मातंग तथा धर्मरत्न नामक बौद्ध आचार्यों को ले गये। यहीं से चीन में बुद्धधर्म का प्रचार माना जाता है। चौथी संगीति के बाद कनिष्क ने प्रचार के लिए चीन में आदमी भेजा और उस समय से बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य चीन में आरम्भ हुआ। सर्वास्तिवादियों के ग्रंथ अनूदित किये गये। पाँचवीं सदी में चीनी परिव्राजक भारतीय पंडितों के सहवास में आने लगे। फाहियान भारत भ्रमण करने के लिये आया। उसके बाद सातवीं सदी से यह ताँता बढ़ता ही गया। ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि भारत से लौटने पर कितनी संख्या में बौद्धग्रंथों को चीनी यात्री साथ लेता गया। वहाँ पर बहुत जोर से अनुवाद का काम आरम्भ हुआ यहाँ तक कि इसने स्वयं ७५ ग्रंथों को सहायकों के साथ चीनी भाषा में अनूदित किया था। इन सभी ग्रंथों का सम्बन्ध विज्ञानवादमत से

था। उस समय नालंदा इसका प्रधान केन्द्र था, जहाँ ह्वेनसांग वर्षों रह कर बौद्धमत का अध्ययन करता रहा। सातवीं सदी के मध्य से चीन में इस काम में बड़ी अभिवृद्धि हुई। ६७१ ई० में इत्सिंग भारत आया जो सर्वास्तिवादी होने के नाते भारत में भ्रमण कर तत्सम्बन्धी ग्रंथ पढ़ता रहा। इसके पहले तथा बाद में भी चीन से बौद्ध परिव्राजक भारत आये और भारत से भी भिक्षु प्रचार के लिये चीन गये थे। उनमें इत्सिंग प्रसिद्ध परिव्राजक था जिसने भारत में आनेवाले पचास चीनी परिव्राजकों के नाम लिये हैं। सातवीं सदी तक भारत का साहित्य काफी संख्या में वहाँ पहुँच गया। भारत से कितने ही पण्डित तथा विद्वान् चीन जाकर अनुवाद में जुट गये। उनमें कुमारजीव, बुद्धधर्म, गुणवर्मन, गुणभद्र, संघपाल, परमार्थ तथा बुद्धशांत प्रभृति ने हिमालय की ऊँची चोटी को लाँघ कर तथा कुछ ने सामुद्रिक मार्ग को तय कर चीन की कर्मभूमि में प्रवेश किया। कुमारजीव (३२५–४१५ ई०) तथा परमार्थ का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि चीन में बौद्धधर्म को जनप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है। कुमारजीव ने तो लगभग सौ ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। इन पुस्तकों से चीन-निवासियों को बुद्धसाहित्य का परिचय मिला। आचार्य अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव तथा वसुबन्धु का जीवनचरित भी चीनी भाषा में लिखा गया। परमार्थ (५४९ ई०) भी ऊती के बुलावे पर चीन गये थे। उन्होंने बीस वर्ष के लगातार परिश्रम से पचास ग्रंथों का अनुवाद किया। ये अभिधर्म के ज्ञाता थे इसलिए इनका ही अनुवाद संस्कृत ग्रंथों की स्मृति आज भी बनाये हुए है। चीन के बाद बौद्धधर्म कोरिया में गया और वहाँ से जापान में फैला। सातवीं सदी में कोरिया में सिलाराज्य की प्रधानता थी और वह भाग बौद्ध सभ्यता तथा व्यापार का केन्द्र हो गया। भारत से भी व्यापार के लिए लोग वहाँ जाया करते थे और कोरिया के अनेक लोग तीर्थयात्रा करने भारत में आते रहे। १०वीं सदी के समीप बौद्धधर्म की बड़ी उन्नति हुई और अनेक विहारों का निर्माण हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल से उन देशों में बौद्धधर्म का समुचित विस्तार हुआ। चीन में जो कार्य हो रहा था उससे आकर्षित होकर ही यात्री भारत में आने लगे थे। आवागमन का मार्ग मध्य एशिया अथवा चीनसागर होकर चलता रहा, इसलिए कुछ परिव्राजक स्थल तथा कुछ जल से भारत में आये।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार इत्यादि की चर्चा की गई है। वहाँ खोतान से लेकर पूर्वी सिरे तक यानी तुयेन हुआंग तक जितने भग्नावशेष मिले हैं उनमें भारतीय सभ्यता के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। मध्य एशिया में पश्चिम से चीन की ओर जाने के लिए दो मार्ग थे। यह भूखण्ड उत्तर तथा दक्षिण में पर्वतों से घिरा है और पर्वत शृंखलाओं के मध्य में तरीम नदी है जिसकी घाटी में सभ्यता जन्मी तथा उन्नत हुई। अधिक भाग उजाड़ (रेगिस्तान) है। तरीम काँठे के दक्षिण तथा उत्तर दो मार्ग जाते हैं जो पूर्वी सिरे पर तुयेन हुआंग से मिल जाते हैं। इस नगर की तुलना प्राचीन पाटलिपुत्र से की जा सकती है जहाँ विभिन्न देशों से लोग आकर ठहरते थे। इस कारण कई संस्कृतियों का सम्मिश्रण यहाँ पाया जाता है। खोतान से तरीम काँठे के उत्तर होकर कूचा नगर होते हुए तुयेन हुआंग पहुँच जाने का मार्ग था। दक्षिण का मार्ग उससे प्रसिद्ध था तथा तरीम की सहायक नदियों की घाटियों से होकर गुजरता था। चीन से पश्चिम ओर इसी मार्ग से अधिक आवागमन होता था और खोतान से तुयेन हुआंग तक काफी व्यापार चलता था। यही कारण है कि इस मार्ग से लगे हुए उपनिवेश बनाये गये थे जिनके खण्डहर मध्य एशिया की खुदाई में बालू के टीले के नीचे दबे मिले हैं। उत्तरी मार्ग में कूचा के संबंध में कुमारयन की कथा कही जा चुकी है। भारत से प्रचारक काश्मीर होकर ही मध्य एशिया जाते रहे। काश्मीर के पण्डितों ने खोतान में बौद्धधर्म का प्रचार किया था। सम्भवतः वहाँ बुद्धधर्म का प्रचार कुषाण काल से ही था। पाँचवीं सदी में चीन का राजकुमार जब खोतान आया था तो भारतीय विद्वान् बुधसेन की सहायता से उसने बौद्धधर्म का ज्ञान प्राप्त किया और वहाँ वह गोमती महा विहार में कई साल तक रह कर पढ़ता रहा। खोतान महायान धर्म का ऐसा प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था कि काश्मीर से भी धर्मक्षेम नामक भिक्षु वहाँ अध्ययन के लिए पहुँचा था। चीन से परिव्राजक बौद्ध ग्रंथों की खोज में खोतान आते रहे और कई हस्तलिखित ग्रंथ ले गये। इस प्रकार मध्य एशिया से चीन तक बुद्धधर्म फैलाने का श्रेय खोतान को है। खोतान की तरह पूरब किनारे पर तुयेन हुआंग नगर बसा था जिसके भग्नावशेष आज भी मिलते हैं। यह स्थान अत्यन्त प्राचीन है। यहीं पर सहस्र बुद्धवाली गुफा स्थित है जिसमें अजन्ता की नकल पर भित्तिचित्र तैयार

किये गये हैं। भारतीय बौद्ध चित्रकला का समावेश यहीं किया गया था जिसके नमूने खोतान में भी मिलते हैं। भारतीय प्रभाव के साथ चीन की कला का भी कुछ अनुकरण हुआ जिससे प्रकट होता है कि तुयेन हुआंग की कला का भारत तथा चीन दोनों से सम्बन्ध था। दोनों कलाओं का मिश्रण वहाँ की आकृतियों तथा चित्रों से स्पष्ट मालूम पड़ता है। हजारों बुद्ध गुफाओं के पास ही हस्तलिखित पुस्तकों का सुन्दर भण्डार मिला है जिनकी लिपि तथा भाषा भारतीय है। संस्कृत भाषा के ग्रंथ ब्राह्मी लिपि में लिखे मिले हैं। मध्य एशिया की एक विशेषता यह थी कि लकड़ी की तख्ती पर लिखे लेख मिलते हैं। जिनपर ब्राह्मी या खरोष्ठी में लेख उत्कीर्ण हैं। उस रेगिस्तान में यह स्वाभाविक था क्योंकि उस भाग में दूसरे साधन उपलब्ध नहीं थे। मध्य एशिया के प्रसिद्ध खोजी डा० आरेल स्टीन को रेशमी वस्त्रों पर चित्रकारी के नमूने मिले हैं जिन्हें मन्दिर की पताका के स्थान पर प्रयोग किया जाता था। ध्वज पर बुद्ध या बोधिसत्व की आकृतियाँ बनी हैं जो सर्वथा भारतीय ढंग की हैं। चित्रपटों पर दानकर्त्ता के नाम लिखे मिलते हैं जिनकी लिपि के आधार पर लिखावट ९वीं या १०वीं सदी की प्रकट होती है। डा० स्तीन को एक ढेर में भारतीय ब्राह्मी में लिखित ग्रंथ भी मिले हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मध्य एशिया में जिस भारतीय संस्कृति का पहली सदी से विस्तार हो रहा था उसे पूर्व मध्यकाल में बल मिला और उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। धार्मिक बातों के अतिरिक्त वहाँ गृहस्थी की भी अनेक वस्तुएँ मिली हैं जो मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेश की बात को पुष्ट करती हैं।

तिब्बत में बौद्धधर्म के विस्तार का इतिहास ७वीं सदी से आरम्भ होता है जब कि राजा ने चीन में अपनी शादी की। छठी सदी से पहले तिब्बत का इतिहास अज्ञात है। उसी शती के मध्य में गसृम्पो नामक राजा ने नेपाल की राजकुमारी से ब्याह किया जो बुद्ध धर्म से परिचित थी, इस कारण अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय तथा तारा की चन्दन की मूर्ति तिब्बत लेती गई। दूसरा विवाह चीन की राजकुमारी से हुआ जो बुद्ध की प्रतिमा तिब्बत में साथ लाई थी। इन दोनों स्त्रियों ने ही वहाँ के लोगों को बौद्धधर्म से परिचय कराया और राजा के मन में आकर्षण पैदा किया। स्त्रियों के सहवास से गसृम् पो बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया। मध्य एशिया, चीन या नेपाल के कारण भारत का नाम तिब्बत में प्रसिद्ध हो गया, इसलिए राजा ने बौद्धधर्म स्वीकार

करते ही ८वीं सदी में नालंदा के आचार्य भिक्षु शान्तिरक्षित को निमंत्रण भेजा। तिब्बत के राजा के बुलाने पर शान्तरक्षित वहाँ गया और इसी शताब्दी में तिब्बत में बौद्धधर्म व्यापक रूप से प्रसारित किया गया। कई व्यक्ति काश्मीर में बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन के लिए भेजे गये जो तिब्बत लौटकर बौद्धमत के प्रसार में काफी सहायक हुए। उन लोगों ने अन्य कई विद्याओं का प्रचार किया। इसका विशेष कारण यह था कि तिब्बत के राजा ने लद्दाख, नेपाल तथा आसाम के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था और रानियों के कहने से भारत से बौद्ध भिक्षु बुलाये जाने लगे। उन राजकुमारियों की तिब्बत में इतनी प्रतिष्ठा हुई कि उनकी तुलना बौद्ध देवी तारा से की जाने लगी। लोग तिब्बत में तारा के रूप में उन्हें पूजते हैं। तिब्बत के राजा प्रजा भारत को सांस्कृतिक पिता की तरह देखते रहे और संस्कृति के विकास में भारत से सहायता लेते रहे। तिब्बत का राजनैतिक प्रभाव भी बढ़ा तथा शासक ने आठवीं सदी के अन्त तक मध्य एशिया के काशगर, खोतान आदि को जीत लिया। इसके बाद ही राजा ने खोतान से भिक्षु बुलाकर बौद्ध ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कराया। उधर भारत से विद्वानों का आना बन्द न था। शान्तिरक्षित ने पहली बार लोगों को बुद्धधर्म की शिक्षा दी। वह किसी कारण नालंदा लौट आये थे परन्तु ७४२ ई० में पुनः तिब्बत के राजा का निमंत्रण पाकर वहीं पहुँचे। भोट देश के लोगों को भिक्षु बनाया गया और सम्ये नामक स्थान पर एक विशाल मठ तैयार किया जो ओदन्तपुरी के ढंग पर निर्मित किया गया था। यह पहला विहार था जिसने तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रसार में अधिक सहायता दी। पीछे रक्षित के शिष्य कमलशील भी वहाँ गये लेकिन चीनी भिक्षुओं की शत्रुता के कारण तिब्बत में ही मार डाले गये। कुछ लोगों का कहना है कि शान्तिरक्षित पहला मठाधीश था। ८वीं सदी में अधिक भारतीय पंडित तिब्बत गये जो संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करते रहे। उन लोगों ने अधिकतर संस्कृत-ग्रंथों के चीनी अनुवाद का भाषान्तर किया था। इसीलिए सर्वास्तिवादी मत के ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में विशेष रूप से मिलता है जिसका मूल संस्कृत आज भी भारत में अप्राप्य है। अतएव सर्वास्तिवादी त्रिपिटक के विषय और महत्त्व को जानने के लिए तिब्बती अनुवादों का अध्ययन अनिवार्य है। ९वीं तथा १०वीं सदी में तिब्बत के शासक बौद्धमत का बहिष्कार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भिक्षुओं

को व्यर्थ तंग किया। पर यह स्थिति अधिक समय तक रह न सकी। ११वीं सदी में राजनैतिक परिस्थिति बदल जाने के कारण राजा ने भारत से भिक्षुओं को पुनः बुलवाया। विक्रमशिला के महापंडित दीपंकर श्रीज्ञान को ज्ञानप्रभ नामक भोटदेशीय भिक्षु तिब्बत ले गया, जहाँ श्रीज्ञान जीवन के अन्तिम वर्षों में धर्म प्रचार करते रहे और तेरह वर्ष के बाद तिब्बत में ही उन्होंने समाधि ली। दीपंकर श्रीज्ञान से वहाँ बौद्धमत के प्रचार का दूसरा काल माना जाता है। इससे पहले ही पद्मसम्भव ने तान्त्रिक मत का वहाँ प्रचार किया था जिसका विकृत रूप आज भी वहाँ दिखलाई पड़ता है। मठ के आरम्भ से लामा की प्रधानता हो गई। भारत में मुसलमानों के आक्रमण से सैकड़ों विद्वानों ने नालंदा, विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी छोड़ कर तिब्बत या नेपाल में शरण ली। वहीं से वे चीन तक धर्मप्रचार में लगे रहे। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उपरले हिन्द में सातवीं सदी से भारतीय संस्कृति के विस्तार में दिनो-दिन प्रोत्साहन मिलता गया। नालंदा और विक्रमशिला महाविहार के निमंत्रित भिक्षुओं ने इसमें बड़ी सहायता की।

साधारणतया यह समझा जाता है कि ७वीं सदी में अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के बाद ही भारत का पश्चिमी एशिया से सम्बन्ध स्थापित हुआ।

पश्चिमी एशिया

परन्तु अरब निवासियों का दावा है कि भारत से उनका सम्बन्ध हजारों वर्ष पहले का है और यह देश उनका पैतृक स्थान है। हदीस की टीकाओं में जहाँ हजरत आदम की कथा है वहाँ भारत का उल्लेख मिलता है। आदम स्वर्ग से निकाले जाने के बाद इसी स्वर्ग तुल्य भारत देश, जिसे जन्नत या जन्नतनिशान हिन्दुस्तान कहते हैं, उतारे गये थे। इसका यह अर्थ निकलता है कि मुसलमान लोग भारत के सम्पर्क में आ चुके थे। खैबर की घाटी की ओर से भारत में आने-वाले मुसलमान तुर्क या अफगान हिजरी चौथी सदी से आने लगे थे। परन्तु अरब से व्यापारी गण भारतवर्ष के समुद्रतट तक आते रहे और उपज तथा व्यापारिक पदार्थों को मिस्र और योरप तक पहुँचाते थे। अरब के लोग लाल सागर के किनारे किनारे फारस की खाड़ी तथा ईरानी तटों से होकर बिलो-चिस्तान के बन्दरगाह पर उतरते और वहाँ से आगे बढ़ कर सिन्ध के बन्दर-गाह देवल (करांची) तक चले आते थे। वहीं से गुजरात तथा काठियावाड़ के बन्दरगाह थाना तक चले जाते रहे। इस तरह का भारत से पश्चिमी एशिया

का सम्बन्ध चला आ रहा था जिसके कारण इस्लाम मत के आरम्भ होने पर अरबों का ध्यान इस देश की ओर झुका। ईरान विजय के पश्चात् भारत की बारी आई। व्यापार के लिए भी वे भारत के किनारे सुरक्षित बन्दरगाह ढूंढ़ रहे थे। वर्तमान बम्बई के समीप थाना नामक छोटे द्वीप पर सब से पहले ६३६ ई० में अरबों ने चढ़ाई की। कुछ ही वर्षों के बाद सिन्ध की भी बारी आई और मुहम्मदबिन कासिम ने सिन्ध को विजय कर लिया। इसके उपरान्त अनेक शासक नियुक्त होकर यहाँ आते रहे। सिन्ध से मुसलमानों की चढ़ाई गुजरात तक होती रही पर वह एक निकल जाने वाली आँधी थी। उत्तरी भारत के शासक गुर्जर प्रतिहार के कारण अरब विजेता भीतर घुस न सके और सिन्ध तथा मुल्तान में उनका राज्य सीमित रहा। ऐतिहासिक अनुमानों से ऐसा जान पड़ता है कि सिन्ध के बौद्धों को मुसलमान अच्छे जान पड़े। अफगानिस्तान में बौद्धों के साथ इस्लाम-मतानुयायियों ने अच्छा व्यवहार भी किया था, इससे तथा ब्राह्मणों से विरोध के कारण बौद्धों ने इस्लामधर्म ग्रहण कर लिया जिसका प्रभाव देश पर सर्वत्र पड़ा।

उसी प्रसंग में अरब के एक लेखक इब्न हौकल ने लिखा है कि महमूद गजनवी के पचास वर्ष पहले काबुल भारत के व्यापार के निकास का स्थान था और पंजाब में अनेक मुसलमान व्यापारी बसते थे। अरबों के आने-जाने से दोनों देशों में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होने लगा जो अरब के ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट हो जाता है। अरबी यात्रा-विवरणों में अनेक भारतीय नाम मिलते हैं जिनका सम्बन्ध व्यापार से था और अरबवाले उनका प्रयोग करने लगे। अरब के लेखकों ने भारतीय व्यापार तथा चीजों के नाम लेकर भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अरबी भाषा के कोष साक्षी हैं कि अरबवाले कौन-कौन सी चीजें अपने देश में ले जाते रहे।

जैसा कहा जाता है, व्यापार के साथ-साथ संस्कृति का भी विस्तार हो जाता है, यही बात अरब तथा अन्य पश्चिमी देशों के लिए ठीक प्रकट होती है। सिन्ध तथा मुलतान में मुसलमानों के आ जाने पर, बरमका वंश के लोगों ने भारतीय पंडितों को ईराक में बुलवा कर विद्या का प्रचार करवाया। सिन्ध से बौद्ध विद्वान् तथा चिकित्सक बगदाद बुलाये गये थे। वहाँ उनका स्वागत किया गया और भारत में उन विद्याओं के पढ़ने के लिए आदमी भेजे

गए। बरमक लोगों के कारण बल्ख में विहार बनाये गये जिसका बनानेवाला एक भारतीय था। वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। भारत के संस्कृत ग्रंथों के दूसरी भाषा में अनुवाद का प्रश्न मन्सूर ने आरम्भ किया था। ७७१ ई० में वह गणित तथा ज्योतिष आदि के एक महान् पंडित को लेकर बगदाद गया और खलीफा की आज्ञा से अरबी में सिद्धान्त का अनुवाद किया गया। हारूँ ने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से वैद्य बुलाये। अरबवाले भारतीय योग्यता तथा पांडित्य का लोहा मान गये, जिसके बाद बरमका लोगों के संरक्षण में संस्कृत के विभिन्न शास्त्र, चिकित्सा, ज्योतिष, साहित्य तथा नीति ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। यहीं से भारतीय संस्कृति के विस्तार तथा कीर्ति का इतिहास उज्ज्वल होता है। उन विषयों की जानकारी के कारण अरबवालों के हृदय में भारत के प्रति अत्यन्त आदर था। जाहिज नामक एक अरब का प्रसिद्ध लेखक, दार्शनिक तथा तार्किक था जिसने भारत के ज्योतिष तथा गणित विद्याओं की अत्यधिक प्रशंसा की है। उसका कथन था कि भारतवासियों की एक निजी लिपि है। चिकित्सा में तो इनका निर्णय सब से आगे है। चिकित्सा सम्बन्धी ग्रंथों का अनुवाद अरबी में किया गया था जिनमें लक्षण, चिकित्सा तथा औषधि का वर्णन है। तात्पर्य यह कि मध्यकाल में खलीफा मंसूर तथा हारूँ रशीद के संरक्षण में भारत से अनेक विद्वान् तथा चिकित्सक बगदाद पहुँचे जो राज्य के विभिन्न विभागों में काम करते रहे। भारतीय गणित का योरप में प्रचार अरब वालों ने किया। उन्होंने १ से ९ तक अंक लिखने का ढंग हिन्दुओं से सीखा इसी कारण अरब वाले अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं। अरबवाले पहले अक्षरों में संख्याएँ लिखते थे। परन्तु दशमलव की प्रणाली जान लेने पर ८वीं सदी में मामूँरशीद ने अरबी में इन अंकों के स्वरूप को ठीक किया था। ऊपर कहा जा चुका है कि ७७० ई० में सिन्ध से एक ज्योतिषी बगदाद गया था। वह फलित ज्योतिष पर एक पुस्तक साथ लेता गया जिसका अनुवाद अरबी में हुआ। आर्यभट्ट की पुस्तक को अरजबन्द के नाम से अनूदित किया गया था। आरम्भ में अरबवालों ने भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। मामूँरशीद के समय में ईरानी सिद्धान्तों की वृद्धि के साथ भारतीय सिद्धान्त ज्यों के त्यों रह गये। अरब के एक लेखक ने अपनी पुस्तक में भारत के प्रकरण में एक जड़ी का उल्लेख किया है जिसके द्वारा राजाओं का आपस में मित्रता के छल से

एक दूसरे के मारने की कथा लिखी है (यानी भारतीय विषविद्या में बड़े निपुण थे।)

इन विद्याओं के अतिरिक्त भारतीय कला का भी प्रचार अरब में हुआ था। जाहिज नामक लेखक (९वीं सदी) ने भारतीय संगीत की प्रशंसा की है और विशेष रूप से एकतारे का उल्लेख किया है। किसी अन्य उल्लेखनीय पुस्तक का अनुवाद अरबी में नहीं मिला है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृत और पाली में लिखित युद्धविद्या तथा राजनैतिक ग्रंथों का अनुवाद अरबी में हुआ था। पहले का नाम शानाक बतलाते हैं जो चाणक्य का बिगड़ा रूप है। रसायन, तर्कशास्त्र तथा अलंकार शास्त्र की भी पुस्तकें अनूदित हुईं। कथा-कहानी की तो कोई बात ही नहीं। भारत को पश्चिम में प्रसिद्ध करने का श्रेय बैरूनी को है। उसका सब से बड़ा काम यह है कि वह हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच विद्या-विषयक दूत का काम करता रहा। उस समय भारत को अपनी विद्याओं के सम्बन्ध में अभिमान था जिसका उल्लेख बैरूनी ने किया है। वह लिखता है कि उनको यह विश्वास था कि हिन्दुओं के सिवाय किसी के पास कोई विद्या नहीं है। उसने भारत में संस्कृत जाननेवालों के लिए अरबी से अनुवाद किया था तथा संस्कृत से अरबी में। इस तरह भारतीय संस्कृति का प्रसार पश्चिम में दो तरह से किया गया। पहले तो भारतीय विद्वान् वहाँ जाकर प्रचार करते रहे किन्तु बाद में मुसलमान लेखकों ने पुस्तकों का अनुवाद कर अथवा वर्णन लिखकर भारत का गुणगान किया है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया

भारत से दक्षिण पूर्व दिशा में अनेक द्वीप स्थित हैं जिनमें जावा, सुमात्रा का नाम रामायण में भी मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि बहुत पहले से ही उन द्वीपों में भारतवासी जाया करते थे। इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती कि वृहत्तर भारत में संस्कृति के प्रचारक भारत के व्यापारी रहे हैं। अन्य देशों की तरह पूर्वी द्वीप समूह में पहली सदी से ही व्यापार होता रहा है। उत्तरी भारत के अतिरिक्त दक्षिण के लोग अधिक संख्या में वहाँ जाया करते थे। इन द्वीपों से हिन्द चीन में भारतीय संस्कृति फैली। उस विस्तृत भारतीय संस्कृति के जानने के लिए अनेक साधन हैं। बंगाल का ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह इतना प्रसिद्ध हो गया था कि

चीन के यात्री वहीं से (द्वीपसमूह होकर) चीन जाया करते थे। उन लोगों ने भी द्वीपों में प्रचलित धर्म तथा शासन का वर्णन किया है। उन देशों के भग्नावशेष, मूर्तियाँ तथा मन्दिर आज भी भारतीय संस्कृति की भ्रमण कहानी को सुनाते हैं। सब से प्रधान प्रमाण संस्कृत भाषा में खुदे लेख हैं जिनके आधार पर अनेक बातों का पता लगाया जाता है। मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया में विस्तृत भारतीय संस्कृति की कहानी शेष मात्र है परन्तु दक्षिणपूर्वी एशिया का सांस्कृतिक सम्बन्ध सर्वथा नवीन रहेगा। आज भी भारतीय सभ्यता की लहर वहाँ बहती है।

भारतवासी समुद्र मार्ग से उन स्थानों को जाया करते थे। वर्तमान तामलुक (ताम्रलिप्ति) बन्दरगाह से जहाज बंगाल की खाड़ी को पार कर मलाया तथा द्वीपों में सदा जाते रहे। ईसा की पाँचवीं सदी तक तो समस्त हिन्दचीन (चम्पा, कम्बोडिया तथा अनाम आदि) और पूर्वी द्वीपसमूह में उपनिवेश बस गये थे जिसकी चर्चा जावा के इतिहास में मिलती है। उन द्वीपों में बाली का नाम भी प्रधान रूप से ले सकते हैं जहाँ आज भी भारतीय संस्कृति का क्षेत्र है। पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज से पता चलता है कि ८वीं सदी में शैलेन्द्र वंश का राज्य जावा तथा मलाया में विस्तृत था। कहा जाता है कि भारत से एक राजा ने वहाँ राज्य की स्थापना की थी। उस हिन्दू राजा ने जावा में नये ढंग से कार्य किया। वहाँ का विशाल मंदिर बोरोबुदूर उन्हीं के शासनकाल में बना था। भारतीय विद्वानों का मत है (जो सत्य भी है) कि बोरोबुदूर का मन्दिर बंगाल के पहाड़पुर मन्दिर के ढंग पर तैयार किया गया था। उस समय से भारतवासी द्वीपों में बहुधा जाया करते थे और इस कारण सम्पर्क बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि जावा के राजा बालपुत्रदेव ने पालवंशी नरेश देवपाल से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। ९वीं सदी में इसी बालपुत्रदेव ने नालंदा महाविहार को पाँच गाँव दान में पालनरेश से दिलवाये थे। मध्यकालीन लेखों से पता चलता है कि मध्य जावा में हिन्दू नामधारी राजा ने एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया था। भारतीय नाम तथा शिल्प आदि का प्रभाव जावा की जनता पर अत्यधिक हुआ। बाली को सार्वभौम प्रधानता न मिल सकी और जावा के साथ ही उसका भाग्य बँधा रहा। वह भारतवर्ष का एक सुन्दर उपनिवेश था जिसकी सारी बातें भारत की नकल पर चलाई गई थीं। चम्पा तथा अन्य

देशों के नाम भारतीय ही हैं। प्राचीन चम्पा के राजा का नाम भद्रवर्मन था जिसे शिलालेखों में वेदों का ज्ञाता कहा गया है। इसी तरह सत्यवर्मन् तथा इन्द्रवर्मन के नाम भी लिये जा सकते हैं। उनके समय में भारतीय-संस्कृत काव्य-शैली में लेख खोदे गये थे और शासक स्वयं शास्त्र तथा काव्य के ज्ञाता थे। दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के विस्तार का ज्ञान वहाँ के रीति-रिवाज, धर्म तथा कला के अध्ययन से किया गया है। वहाँ का समाज भारतीय ढंग पर चार जातियों में बँटा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। चम्पा में कट्टर हिन्दू समाज की बातें दिखलाई पड़ती थीं। उसी सिलसिले में बाली में प्रचलित सती तथा गुलामी की प्रथा का उल्लेख किया जा सकता है। विवाह में स्त्रियों को स्त्रीधन मिलता था और परदा नहीं था। रामायण तथा महाभारत के कथानक नाटक रूप में खेले जाते थे जिसे भारत में रामलीला या कृष्णलीला कहते हैं। भारतीय बौद्ध तथा ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव उस भूभाग में सर्वत्र हो गया था। पंचदेवों (शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य तथा शक्ति) की मूर्तियों के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। शिवपूजा की प्रधानता थी, इस कारण शिव की प्रतिमा लिंग तथा मनुष्य रूप में पाई गई है। कम्बुज स्थित अंकोरवट का विशाल मन्दिर शैवमत की प्रधानता को घोषित करता है। वैष्णवमत को वह स्थान न मिल पाया था पर गणेश तथा शक्ति के पुजारी भी वर्तमान थे। बाली द्वीपों में दो प्रकार की पूजा होती थी। एक घर में और दूसरी सामाजिक रूप में। शिव की पूजा सर्वत्र सामाजिक रूप में की जाती रही और वार्षिक पूजा के समय उत्सव मनाया जाता था। ७वीं सदी में महायान का भी प्रचार हो गया, इसी कारण जावा में बोरोबुदूर का प्रसिद्ध मन्दिर तैयार किया गया था। इस मन्दिर पर खुदी मूर्तियों के देखने से पता चलता है कि कलाविद् को बौद्ध साहित्य का पूर्ण ज्ञान था। धार्मिक प्रभाव के कारण ही बालपुत्रदेव ने नालंदा में कई गाँव दान में दिये थे। जावा में बौद्धधर्म को राजाश्रय मिल गया था और अनेक स्थानों पर भिक्षु रहा करते थे।

दक्षिण-पूर्व एशिया की पुस्तकों तथा लेखों के देखने से स्पष्ट प्रकट होता है कि संस्कृत वहाँ की राजभाषा हो गई थी। संस्कृत रामायण के आधार पर जावा में रामायण की रचना हुई थी। अन्य भारतीय ग्रंथों के अनुकरण पर उसी कथानक को लेकर ग्रंथ लिखे गये थे। जहाँ तक कला



गरुड़वाही लक्ष्मीनारायण प्रतिमा

[पृ० ३५८

का सम्बन्ध है, भारतीय ललित कला ने सम्पूर्ण मलाया, द्वीपसमूह तथा हिन्द-चीन पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। भारतीय ढंग को लेकर धार्मिक वातावरण से प्रभावित होकर पूर्वी द्वीप समूह के मन्दिर बनाये गए थे। बौद्ध तथा ब्राह्मण मन्दिरों के भग्नावशेषों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। बोरोबुदूर संसार का एक विचित्र मन्दिर माना गया है। इसी प्रकार शिवमन्दिर भी अपनी विशेषता रखता है। उसपर रामकथा के चित्र खुदे हैं। कम्बोडिया का मन्दिर अंकोरवट का दुनिया के मन्दिरों में एक विशेष स्थान है। ये सभी मन्दिर भारतीय ढंग पर तैयार किये गये हैं। अंकोरवट में शिखर शैली इस कथन को पुष्ट करती है।

इन सब विषयों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मध्यकाल में भारतीय संस्कृति का प्रचार दक्षिण पूर्वी एशिया में पूर्ण रूप से हो गया था। संस्कृति के किसी भी अंग को देखा जाय तो उन देशों में भारतीयता की छाप वर्तमान है। समाज, कला, साहित्य अथवा धर्म की बातों में हिन्द-चीन या द्वीप समूह भारतीय प्रभाव से खाली नहीं है। भारत के समीप होने से इन स्थानों पर आवागमन अधिक था। ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से जहाज के द्वारा मार्ग भी अत्यन्त सुगम था। यहाँ मध्य एशिया या पश्चिम की कठिनाइयाँ न थीं। यही कारण है कि आज तक भारतीय संस्कृति की छाप उन स्थानों पर वर्तमान है तथा मन्दिर और भग्नावशेष भी उसे सिद्ध करते हैं।

अनुक्रमणी

(अंक से पृष्ठ संख्या सूचित की गई है ।)